इकाई- 1

समाजशास्त्र – अर्थ व परिभाषा, प्रकृति एवं विषय क्षेत्र

Sociology – Meaning, Nature & Subject Matter

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ

1.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

1.4 समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र

1.5 शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

ऑगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) प्रथम विचारक हैं जिन्होंने एक व्यवस्थित विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र विषय का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में किया। उनको मानवीय तथा सामाजिक एकता पर बल देने वाला प्रथम समाजशास्त्री माना जाता है। उनका विचार था कि कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो कि समाज के विभिन्न पहलुओं का समग्र रूप में अध्ययन कर सकता हो। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने इस नवीन विषय का निर्माण किया। इसीलिए कॉम्ट को समाजशास्त्र विषय का जनक या जन्मदाता माना जाता है। समाजशास्त्र विषय का जनक मात्र इसीलिए नहीं कि उन्होंने इस नवीन विषय को प्रथमत: नाम प्रदान किया, अपितु इसलिए भी कि उन्होंने इस विज्ञान को 'विज्ञानों के संस्तरण' में तार्किक व उचित स्थान दिलवाने में तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की सम्भावना को जोरदार शब्दों में व्यक्त करने में भी सफलता प्राप्त की। इस इकाई का उद्देश्य समाजशास्त्र के अर्थ, प्रकृति, विषय-क्षेत्र की विवेचना करना है।

1.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। यह एक ऐसा विषय है जिसमें मानव समाज के विभिन्न स्वरूपों, उसकी विविध संरचनाओं, प्रक्रियाओं इत्यादि का वस्तुनिष्ठ एवं क्रमबद्ध रूप से अध्ययन किया जाता है। यह राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान एवं मानवशास्त्र की तरह एक सामाजिक विज्ञान है। यह अन्य विषयों की भाँति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप से परिपक्व व स्वतन्त्र विषय है। समाज का विज्ञान होने के नाते इस विषय की उत्पत्ति तभी से मानी जानी चाहिए जब से कि स्वयं समाज का निर्माण हुआ है और मनुष्य ने समाज के विभिन्न पहलुओं के बारे में चिन्तन प्रारम्भ किया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है।

1.2 समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ

समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करने वाला विज्ञान है। 'समाजशास्त्र' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'सोशियोलॉजी' (Sociology) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जिसे दो भागों 'सोशियो' ('Socio') तथा 'लोजी' ('Logy') में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम शब्द अर्थात् 'Socio' लैटिन भाषा के शब्द 'Socius' से तथा दूसरा शब्द अर्थात् 'Logy' ग्रीक भाषा के 'Logos' शब्द से बना है जिनका अर्थ क्रमश: 'समाज' तथा 'विज्ञान' या 'अध्ययन' है। अत: 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ 'समाज का विज्ञान' या 'समाज का अध्ययन' है। समाज का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने से है, जबकि विज्ञान किसी भी विषय के व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं। दो भाषाओं से व्युत्पत्ति के कारण कुछ विद्वान् समाजशास्त्र को एक संकर (Hybrid) अथवा दोगला (Bastard) विज्ञान कहते हैं। समाजशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से दी है। समाजशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं को हम निम्नलिखित पाँच प्रमुख श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

1.2.1 समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है

अधिकांश विद्वान् (यथा ओडम, वार्ड, जिसबर्ट, गिडिंग्स आदि) समाजशास्त्र को समाज के अध्ययन या समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित करते हैं। यही दृष्टिकोण अधिकांश प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों का भी रहा है जिन्होंने समाज का समग्र के रूप में (अर्थात् इसे एक सम्पूर्ण इकाई मानकर) अध्ययन करने पर बल दिया है। ओडम (Odum) के अनुसार, ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।'' वार्ड (Ward) के अनुसार, ''समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।'' जिसबर्ट (Gisbert) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामान्यत: समाज के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाता है।'' इसी भाँति, गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, ''समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन तथा व्याख्या है।''

समाज के अध्ययन के रूप में दी गई समाजशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि केवल 'समाजशास्त्र' का शाब्दिक अर्थ ही 'समाज का अध्ययन' या 'समाज का विज्ञान' नहीं है अपितु ओडम, वार्ड, जिसबर्ट तथा गिडिंग्स आदि विद्वानों ने इसकी परिभाषा देते समय भी समाज को इस विषय का मुख्य अध्ययन-बिन्दु बताया है। समाज का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताने-बाने से है। इससे किसी समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध होता है। अन्य शब्दों में, जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं। विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान या किसी तथ्य अथवा घटना से सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ रूप से जानकारी प्राप्त करने का एक तरीका है। इसमें अवलोकन, परीक्षा, प्रयोग, वर्गीकरण तथा विश्लेषण द्वारा वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। यह प्रघटना के पीछे छिपे तथ्य अथवा वास्तविकता को प्राप्त करने का एक मार्ग है। इस प्रकार, जब हम समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान कहते हैं तो हमारा तात्पर्य ऐसे विषय से है जो समाज तथा इसके विभिन्न पहलुओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

1.2.2 समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है

कुछ विद्वानों (यथा मैकाइवर एवं पेज, क्यूबर, रोज, सिमेल, ग्रीन आदि) ने समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के क्रमबद्ध अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। सामाजिक सम्बन्धों से हमारा अभिप्राय दो अथवा दो से अधिक ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्धों से है जिन्हें एक-दूसरे का आभास है तथा जो एक-दूसरे के लिए कुछ-न-कुछ कार्य कर रहे हैं। यह जरूरी नहीं है कि सम्बन्ध मधुर तथा सहयोगात्मक ही हों, ये संघर्षात्मक या तनावपूर्ण भी हो सकते हैं। समाजशास्त्री इन दोनों तरह के सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध उस परिस्थिति में पाए जाते हैं जिसमें कि दो या अधिक व्यक्ति, अथवा दो या अधिक समूह परस्पर अन्तर्क्रिया में भाग लें। सामाजिक सम्बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं—प्रथम, व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, द्वितीय, व्यक्ति तथा समूह के बीच तथा तृतीय, एक समूह और दूसरे समूह के बीच। पति-पत्नी, भाई-बहन, पिता-पुत्र के सम्बन्ध पहली श्रेणी के उदाहरण हैं। छात्रों का अध्यापक के साथ सम्बन्ध दूसरी श्रेणी का उदाहरण है। एक टीम का दूसरी टीम अथवा एक राजनीतिक दल का दूसरे राजनीतिक दल से सम्बन्ध तीसरी श्रेणी का उदाहरण है। मैकाइवर एंव पेज (MacIver and Page) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है। सम्बन्धों के इस जाल को हम 'समाज' कहते हैं।'' क्यूबर (Cuber) के अनुसार, ''समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान के ढाँचे के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।'' रोज (Rose) के अनुसार, ''समाजशास्त्र मानव सम्बन्धों का विज्ञान है।'' सिमेल (Simmel) के अनुसार, ''समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।'' इसी भाँति, ग्रीन (Green) के अनुसार, ''इस प्रकार समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक सम्बन्धों के रूप में समन्वय करने वाला और सामान्य अनुमान निकालने वाला विज्ञान है।''

सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन के रूप में समाजशास्त्र को परिभाषित करने वाली उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट पता चल जाता है कि समाजशास्त्र की मुख्य विषय-वस्तु व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्ध हैं। इनके आधार पर ही समाज का निर्माण होता है। मैकाइवर एवं पेज का इस सन्दर्भ में यह कथन उचित ही लगता है कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की शृंखला का अध्ययन करने वाला विषय है। ये सामाजिक सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इनमें जटिलताएँ भी हो सकती हैं और नवीन सामाजिक परिवेश के अनुसार इनके विभिन्न रूप भी हो सकते हैं। सामाजिक सम्बन्ध छिछले, अल्पजीवी अन्तर्क्रियाओं वाले (जैसे विदेश में दो भारतीयों का एक-दूसरे को अभिवादन करना) भी होते हैं और स्थायी अन्तर्क्रिया की प्रणालियों वाले (जैसे परिवार या घनिष्ठ मैत्री) भी। सामाजिक सम्बन्ध में भाग ले रहे लोग मित्रवत् भी हो सकते हैं और द्वेषपूर्ण भी। वे एक-दूसरे के साथ सहकार भी कर सकते हैं अथवा एक-दूसरे का संहार करने की कामना भी। विरोधी सेनाओं के बीच के सम्बन्ध (शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध) भी सामाजिक सम्बन्ध ही हैं। अत: हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था का क्रमबद्ध और व्यवस्थित तरीके से अध्ययन करने वाला सामाजिक विज्ञान है।

1.2.3 समाजशास्त्र सामाजिक जीवन, घटनाओं, व्यवहार एवं कार्यों का अध्ययन है

कुछ विद्वानों (यथा ऑगबर्न एवं निमकॉफ, बेनेट एवं ट्यूमिन, किम्बल यंग, सोरोकिन आदि) ने समाजशास्त्र को सामाजिक जीवन, व्यक्तियों के व्यवहार एवं उनके कार्यों तथा सामाजिक घटनाओं के अध्ययन के रूप में परिभाषित किया है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक

जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन है।'' बेनेट एवं ट्यूमिन (Beanet and Tumin) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक जीवन के ढाँचे और कार्यों का विज्ञान है।'' यंग (Young) के अनुसार, ''समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहार का अध्ययन करता है।'' इसी भाँति, सोरोकिन (Sorokin) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक-सांस्कृतिक घटनाओं के सामान्य स्वरूपों, प्ररूपों और विभिन्न प्रकार के अन्त:सम्बन्धों का सामान्य विज्ञान है।''

उपर्युक्त विवेचन से हमें पता चलता है कि समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र, समाज के अन्य विज्ञानों (यथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि) से भिन्न है। इसमें हम सामाजिक जीवन का ही अध्ययन करते हैं। इसके साथ-ही-साथ सामाजिक व्यवहार एवं सामाजिक कार्यों का अध्ययन भी इस विषय को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् करता है। सामाजिक व्यवहार का अर्थ ऐसा व्यवहार है जो अन्य व्यक्तियों के व्यवहार या उनकी प्रत्याशित अनुक्रिया को ध्यान में रखकर किया जाता है।

1.2.4 समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन है

व्यक्ति समाज में अकेला नहीं रहता अपितु अन्य व्यक्तियों के साथ रहता है। वास्तव में, व्यक्ति का जीवन विभिन्न सामाजिक समूहों का सदस्य होने के कारण ही संगठित जीवन है। हेरी एम० जॉनसन (Harry M. Johnson) के अनुसार, ''समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, उनके आन्तरिक स्वरूपों या संगठन के स्वरूपों, उन प्रक्रियाओं जो उस संगठन को बनाए रखती हैं या परिवर्तित करती हैं और समूहों के बीच पाए जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।'' जॉनसन की परिभाषा से हमें पता चलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, इनमें पाए जाने वाले संगठनों तथा इनसे सम्बन्धित प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी लक्ष्य या उद्देश्य को पाने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं या अन्तर्क्रिया करते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके मध्य सामाजिक सम्बन्ध स्थापित होते हैं। तभी उन व्यक्तियों के संग्रह को समूह कहा जा सकता है। इस प्रकार समूह के तीन तत्त्व हो सकते हैं—प्रथम, दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, द्वितीय, उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्धों का होना तथा तृतीय, उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना।

सभी समूह सामाजिक सम्बन्धों के संकाय होते हैं। इस अर्थ में किसी भी समूह में उसके सदस्यों के बीच कुछ लक्ष्यों की प्राप्तियों के लिए आंशिक सहकार निहित रहता है। समूह के सहकारिता पक्ष का यह अर्थ नहीं कि इसके सदस्यों के बीच वैमनस्य हो ही नहीं सकता। एक समूह में प्रतिद्वन्द्विता और स्थायी घृणा का बाजार गर्म हो सकता है, जैसे कि कुछ परिवार होते हैं, लेकिन वह फिर भी समूह बना रहता है। उसके सदस्य भी यदा-कदा अपनी अन्तर्क्रियाओं में कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सहकार करते रहते हैं। समाजशास्त्र व्यक्ति-व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धों की अपेक्षा समूह-समूह के परस्पर सम्बन्धों (यथा एक जाति के दूसरी जातियों से सम्बन्ध तथा एक वर्ग के दूसरे वर्गों से सम्बन्ध) को अधिक महत्त्व देता है।

1.2.5 समाजशास्त्र अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन है

मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों पर निर्भर है अत: यह स्वाभाविक ही है कि इन आवश्यकताओं की पूर्ति के दौरान उनमें परस्पर सम्बन्ध, सहयोग तथा अन्तर्क्रियाएँ हों।

व्यक्तियों की सामाजिक क्रियाओं एवं अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है। सभी क्रियाएँ सामाजिक नहीं होतीं, वही क्रियाएँ सामाजिक होती हैं जो अर्थपूर्ण होती हैं, इस नाते वे अन्य व्यक्तियों द्वारा समझी जा सकती हैं, सामाजिक नियमों द्वारा प्रभावित होती हैं और जिनका निर्धारण समाज अथवा समूह द्वारा किया जाता है। वेबर (Weber) के अनुसार, ''समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया का निर्वचनात्मक अर्थ व्यक्त करने का प्रयत्न करता है ताकि इसकी गतिविधि तथा परिणामों की कारण सहित विवेचना की जा सके।'' गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, ''समाजशास्त्र को विस्तृत अर्थ में जीवित प्राणियों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।'' इसी भाँति, जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार—''समाजशास्त्र मानवीय अन्तर्क्रियाओं, अन्तर्सम्बन्धों, उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।''

सामाजिक अन्तर्क्रियाएँ (Social interactions) ही समाज की मूलाधार हैं। लूमले (Lumley) ने इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है कि, ''सम्पर्क तथा अन्तर्क्रियाएँ हमारे जीवन की आधारशिला हैं; वास्तव में, यही वे चीजें हैं जिन्हें हम सामाजिक अर्थ में समझते हैं; ये समाज के लिए उसी प्रकार से हैं जिस प्रकार से इमारतों के लिए ईंट और चूना होते हैं।'' बीसेन्ज एवं बीसेन्ज (Biesanz and Biesanz) ने भी इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, ''समाज की जड़ें सामाजिक अन्तर्क्रियाओं में ही हैं।'' समाज का जन्म ही अन्तर्क्रियाओं के माध्यम से होता है।

सामाजिक अन्तर्क्रिया दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली अर्थपूर्ण क्रिया को कहते हैं। स्पष्ट है कि सामाजिक अन्तर्क्रिया का विश्लेषण करते समय हम क्रिया के कर्ता (Subject) और कर्म (Object) दोनों को सामने रखते हैं। यह वह क्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति या समूह एक-दूसरे को परस्पर रूप से प्रभावित करते हैं। डासन एवं गेटिस (Dawson and Gettys) ने अन्तर्क्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि, ''सामाजिक अन्तर्क्रिया वह प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा मनुष्य एक-दूसरे के मस्तिष्क में अन्त: प्रवेश करते हैं।'' इसे हम शतरंज के खेल की स्थिति से समझ सकते हैं। जहाँ शतरंज के मोहरे की प्रत्येक चाल को खेलने वाले खिलाड़ी एक-दूसरे का इरादा समझने का प्रयास करते हैं और एक-दूसरे की चाल से प्रभावित होकर अपनी चाल का निर्धारण करते हैं। सामाजिक अन्तर्क्रियाओं के प्रमुख स्तर इस प्रकार हैं—व्यक्ति की व्यक्ति से अन्तर्क्रिया, व्यक्ति की समूह से अन्तर्क्रिया, समूह की समूह से अन्तर्क्रिया तथा समूह की व्यक्ति से अन्तर्क्रिया। प्रमुख विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर समाजशास्त्र की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि समाजशास्त्र मुख्य रूप से समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक जीवन, सामाजिक घटनाओं, व्यक्तियों के व्यवहार एवं कार्यों, सामाजिक समूहों एवं सामाजिक अन्तर्क्रियाओं का अध्ययन करने वाला विषय है। यह एक आधुनिक विज्ञान है। इसमें मानव व्यवहार के प्रतिमानों और नियमितताओं पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसमें व्यक्तियों, उनके समूहों तथा श्रेणियों के बारे में सामान्य नियम निर्धारित किए जाते हैं। वास्तव में, समाजशास्त्रियों की रुचि उन सभी बातों के अध्ययन में है जोकि एक-दूसरे के साथ अन्तर्क्रिया के दौरान घटित होती हैं। उदाहरणार्थ—व्यक्ति किसी विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों करते हैं? वे समूहों का निर्माण क्यों करते हैं? वे युद्ध अथवा संघर्ष क्यों करते हैं? वे पूजा क्यों करते हैं? वे विवाह क्यों करते हैं? वे वोट क्यों डालते हैं? ऐसे अनगिनत प्रश्नों का उत्तर इसी विषय में खोजने का प्रयास किया जाता है। स्मेलसर (एसंर्ते) ने उचित ही

लिखा है कि, ''संक्षेप में, समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं तथा समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

1.2.5 समाज के क्रमबद्ध ज्ञान एवं सामान्य बौद्धिक ज्ञान में अन्तर

समाजशास्त्र में समाज का क्रमबद्ध (विधिवत्) अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य या चिन्तन द्वारा किया जाता है जिसे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य या चिन्तन कहते हैं। यह चिन्तन सामान्य बौद्धिक ज्ञान से भिन्न होता है। सामान्य बौद्धिक ज्ञान में दार्शनिक एवं धार्मिक अनुचिन्तन सम्मिलित किया जाता है। उदाहरणार्थ—हम अपने दैनिक जीवन में बहुत-सी बातों एवं घटनाओं को देखते हैं परन्तु उनके बारे में वैज्ञानिक चिन्तन नहीं करते अर्थात् उनका क्रमबद्ध वर्णन करने का प्रयास नहीं करते। यदि हम किसी भिखारी को चौराहे या सार्वजनिक स्थल पर भीख माँगते हुए देखते हैं तो सामान्य बौद्धिक ज्ञान से यह सोच लेते हैं कि वह शायद गरीब है इसलिए भीख माँग रहा है। यदि इसी को हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखें तो हमारा चिन्तन पूर्णतया अलग होगा। हमारी सोच के प्रमुख बिन्दु इस प्रकार होंगे—क्या सभी गरीब भिक्षा माँगने पर विवश होते हैं? यदि नहीं तो, केवल कुछ व्यक्ति ही भिक्षावृत्ति क्यों करते हैं? भिक्षावृत्ति एक राष्ट्रीय समस्या क्यों है? गरीबी के अतिरिक्त भिक्षावृत्ति के क्या कारण हैं? क्या इस समस्या के कारणों का पता लगाकर इसका निराकरण करना सम्भव है? भिक्षावृत्ति जनहित का मुद्दा क्यों है? सरकार भिक्षावृत्ति के निवारण के लिए क्या प्रयास कर रही है? समाज का क्रमबद्ध चिन्तन व्यक्तियों में जिस दृष्टिकोण को विकसित करता है उसी को
समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण या चिन्तन कहते हैं। यह चिन्तन हमें भिक्षावृत्ति के इतिहास, भिखारियों की जीवन दशाओं, उनके सामाजिक-आर्थिक कारणों तथा इस समस्या के समाधान की खोज करने की उत्सुकता से भर देता है।

समाज का क्रमबद्ध अध्ययन रोजमर्रा के सामान्य प्रेक्षण से भी भिन्न है। रोजमर्रा की घटनाएँ व्यक्तियों में समाजशास्त्रीय सोच विकसित नहीं करतीं। हम बहुत-सी घटनाओं को देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। उदाहरणार्थ, अपने पड़ोस में एक कामकाजी महिला को अपने पति, सास-ससुर या अन्य सदस्य से झगड़ते हुए देखकर हम सोच लेते हैं कि अमुक महिला ही ऐसी है। यदि इसी को हम समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से देखें तो हमारे सामने कामकाजी महिलाओं से सम्बन्धित अनेक मुद्दे सामने आ जाएँगे। कामकाजी महिलाएँ ही ऐसा क्यों करती हैं? क्या बिना कामकाजी महिलाओं वाले परिवारों में भी ऐसा होता है? क्या आस-पड़ोस में कोई ऐसा परिवार भी है जिसमें कामकाजी महिला का अपने परिवार के सदस्यों से किसी प्रकार का मतभेद नहीं है तथा सभी सदस्य उसके पारिवारिक दायित्वों को पूरा करने में सहयोग देते हैं?

1.3 समाजशास्त्र की प्रकृति

क्या समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है या नहीं? यह प्रश्न समाजशास्त्र की स्थिति या प्रकृति से सम्बन्धित प्रश्न है अर्थात् इसका सम्बन्ध इस तथ्य का पता लगाना है कि क्या समाजशास्त्र विज्ञान है या नहीं? यदि यह एक विज्ञान है तो इसमें वैज्ञानिक पद्धति की कौन-सी विशेषताएँ पाई जाती हैं और यदि यह विज्ञान नहीं है तो इसमें कौन-सी ऐसी आपत्तियाँ हैं जिनके आधार पर इसे विज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस प्रश्न के बारे में विद्वानों में मतैक्य का अभाव पाया जाता है। प्रमुख रूप से हमारे सामने दो दृष्टिकोण रखे गए हैं—समाजशास्त्र एक विज्ञान है तथा समाजशास्त्र विज्ञान नहीं है।

प्रथम दृष्टिकोण में इस बात पर बल दिया जाता है कि समाजशास्त्र अन्य विज्ञानों की तरह ही एक विज्ञान है तथा समाज, सामाजिक प्रघटनाओं एवं सामाजिक पहलुओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक घटनाओं की प्रकृति एवं सामाजिक व्यवहार इतना जटिल है कि इनका वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। अत: समाजशास्त्र को एक विज्ञान नहीं कहा जा सकता। इन दोनों दृष्टिकोणों के समर्थकों ने अपने-अपने दृष्टिकोणों की पुष्टि करने के लिए अनेक तर्क दिए हैं जिनका संक्षिप्त विवेचन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

1.3.1 समाजशास्त्र विज्ञान के रूप में

समाजशास्त्र में विज्ञान की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

1. समाजशास्त्र में सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक अन्तर्क्रियाओं, सामाजिक व्यवहार एवं समाज का अध्ययन कल्पना के आधार पर नहीं किया जाता अपितु इनको वास्तविक रूप से वैज्ञानिक पद्धति द्वारा समझने का प्रयास किया जाता है। वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ही उपकल्पनाओं का परीक्षण एवं सामाजिक नियमों या सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है।
2. समाजशास्त्रीय ज्ञान प्रमाण पर आधारित है क्योंकि समाजशास्त्री किसी बात को बलपूर्वक मानने के लिए नहीं कहते अपितु तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर इसकी व्याख्या करते हैं।
3. समाजशास्त्र तथ्यों का यथार्थ रूप से वर्णन ही नहीं करता अपितु इनकी व्याख्या भी करता है। इसमें प्राप्त तथ्यों को बढ़ा-चढ़ाकर या आदर्श एवं कल्पना से मिश्रित करके प्रस्तुत नहीं किया जाता अपितु वास्तविक घटनाओं (जिस रूप में वे विद्यमान हैं) का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है।
4. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा एकत्र आँकड़ों को व्यवस्थित करने के लिए उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया जाता है तथा तर्क के आधार पर निर्वचन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। क्योंकि तथ्यों का वर्गीकरण, उनके क्रम का ज्ञान व सापेक्षिक महत्त्व का पता लगाना ही विज्ञान है और इन सब बातों को हम समाजशास्त्रीय विश्लेषणों में स्पष्ट देख सकते हैं, अत: समाजशास्त्र एक विज्ञान है।
5. समाजशास्त्र अपनी विषय-वस्तु में कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज करता है अर्थात् इसका उद्देश्य विभिन्न सामाजिक घटनाओं के बारे में आँकड़े एकत्र करना ही नहीं है अपितु उनके कार्य-कारण सम्बन्धों एवं परिणामों का पता लगाना भी है। प्राकृतिक विज्ञानों में कार्य-कारण सम्बन्धों का निरीक्षण प्रयोगशाला में किया जाता है परन्तु समाजशास्त्र में यह अप्रत्यक्ष प्रयोगात्मक पद्धति अर्थात् तुलनात्मक पद्धति द्वारा ही सम्भव है।
6. समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन किए जाते हैं तथा सामाजिक वास्तविकता को समझने का प्रयास किया जाता है। इसीलिए इसमें सामान्यीकरण करने एवं सिद्धान्तों का निर्माण करने के प्रयास भी किए गए हैं, यद्यपि एक आधुनिक विषय होने के कारण इनमें अधिक सफलता नहीं मिल पाई है।
7. विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि उसके द्वारा प्रतिपादित नियमों का पुनर्परीक्षण हो सके और इस कसौटी पर समाजशास्त्र खरा उतरता है। जब किसी समाजशास्त्री द्वारा सिद्धान्त या नियम प्रतिपादित किए

जाते हैं तो अन्य लोग उसे तर्क के आधार पर समझने एवं प्रमाणों के आधार पर उनकी पुनर्परीक्षा करने का प्रयास करते हैं।

8. समाजशास्त्र में 'क्या है' के वैज्ञानिक पद्धति द्वारा अध्ययन के आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि 'क्या होगा'। समाजशास्त्र में क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्धों की खोज-सम्भव है, अत: उसके आधार पर एक समाजशास्त्री भविष्यवाणी कर सकता है।

कुछ विद्वानों का विचार है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं है क्योंकि इसमें वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। साथ ही, इस बात पर भी बल दिया जाता है कि सामाजिक घटनाओं तथा व्यवहार की जटिलता एवं परिवर्तनशीलता, मापने की समस्या, प्रयोगशाला की कमी, अमूर्तता, भविष्यवाणी करने में असमर्थता, सामाजिक घटनाओं, मानवीय क्रियाओं एवं व्यवहार की स्वतन्त्रता तथा अनिश्चितता आदि समाजशास्त्रीय अध्ययनों में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग में अवरोधक हैं। आधुनिक समाजशास्त्री इन आरोपों को अस्वीकार करते हैं तथा इस बात पर बल देते हैं कि समाजशास्त्र निश्चित रूप से एक विज्ञान है। उदाहरणार्थ, आधुनिक समाजशास्त्री यद्यपि यह तो स्वीकार करते हैं कि सामाजिक अध्ययन प्राकृतिक एवं भौतिक विज्ञानों की तरह वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते, परन्तु यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सामाजिक घटनाओं एवं व्यवहार का वस्तुनिष्ठ रूप में अध्ययन किया ही नहीं जा सकता। समस्या का चयन जरूर व्यक्ति की रुचि से प्रभावित हो सकता है, परन्तु मैक्स वेबर (Max Weber) जैसे विद्वानों ने इस बात पर बल दिया है कि समस्या के चयन के पश्चात् सामाजिक अनुसन्धान के सभी चरणों में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है और वस्तुनिष्ठता बनाए रखी जा सकती है। अत: यह आरोप अधिक उचित एवं तार्किक प्रतीत नहीं होता। इसी भाँति, आधुनिक समाजशास्त्री यद्यपि यह तो स्वीकार करते हैं कि सामाजिक घटनाओं एवं व्यवहार की प्रकृति जटिल एवं परिवर्तनशील होती है परन्तु वह इतनी जटिल नहीं है कि इन्हें समझा ही न जा सके। यदि हमारा व्यवहार इतना जटिल होता जितना कि आलोचकों का कहना है तो हमें यह तक पता नहीं होता कि अगले पल हमें क्या करना है। परन्तु इसके विपरीत मानवीय व्यवहार में कुछ नियमितताएँ पाई जाती हैं जो इस बात की ओर संकेत करती हैं कि इसे समझा जा सकता है। अत: यह आरोप भी न्यायोचित प्रतीत नहीं होता। जहाँ तक प्रयोगशाला का प्रश्न है, समाज ही समाजशास्त्र की प्रयोगशाला है। समाजशास्त्र की विषय-वस्तु समाज है तथा इसके अन्तर्गत ऐसे विषयों का अध्ययन होता है जिन्हें यदि प्रयोगशाला में किया जाए तो उनमें कृत्रिमता आ जाएगी और वैज्ञानिकता समाप्त हो जाएगी। समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने में भी सक्षम है।

हेरी एम० जॉनसन (Harry M. Johnson) जैसे विद्वानों का कहना है कि विज्ञान क्या है और क्या नहीं है? यह एक बहुधा निष्फल विवाद का विषय है इसलिए कि विज्ञान और अविज्ञान में अन्तर केवल कुछ अंशों का है। अत: हम कह सकते हैं कि यद्यपि समाजशास्त्र एक विज्ञान है परन्तु भविष्यवाणी करने तथा सिद्धान्तों का निर्माण करने की दृष्टि से यह अन्य विज्ञानों, विशेष रूप से प्राकृतिक विज्ञानों, से अभी काफी पीछे है। रोबर्ट बीरस्टीड(Robert Bierstedt) का कहना है कि समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति वैज्ञानिक है। इसे उन्होंने निम्नांकित विशेषताओं द्वारा स्पष्ट किया है—

1.समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, प्राकृतिक विज्ञान नहीं—समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है क्योंकि इसकी विषय-वस्तु मौलिक रूप से सामाजिक है अर्थात् इसमें समाज, सामाजिक घटनाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं,

सामाजिक सम्बन्धों तथा अन्य सामाजिक पहलुओं एवं तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। प्रत्यक्ष रूप से इसका प्राकृतिक या भौतिक वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है अत: यह प्राकृतिक विज्ञान नहीं है। समाजशास्त्र स्वयं सम्पूर्ण सामाजिक विज्ञान नहीं है अपितु सामाजिक विज्ञानों में से एक विज्ञान है।

2.समाजशास्त्र एक वास्तविक (निश्चयात्मक) विज्ञान है, आदर्शात्मक विज्ञान नहीं—समाजशास्त्र वास्तविक घटनाओं का अध्ययन, जिस रूप में वे विद्यमान हैं, करता है तथा विश्लेषण में किसी आदर्श को प्रस्तुत नहीं करता या अध्ययन के समय किसी आदर्शात्मक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया जाता। अत: यह एक वास्तविक विज्ञान है, आदर्शात्मक नहीं। अवलोकन प्रविधि द्वारा आँकड़ों के संकलन तथा कार्य-कारण सम्बन्धों के अध्ययन पर बल देने के कारण भी यह एक वास्तविक विज्ञान है। समाजशास्त्र इस बात का अध्ययन नहीं करता कि क्या होना चाहिए अपितु इस बात का अध्ययन करता है कि वास्तविक स्थिति क्या है।

3.समाजशास्त्र अमूर्त विज्ञान है, मूर्त विज्ञान नहीं—अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है क्योंकि इसकी विषय-वस्तु; जैसे समाज, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं, प्रथाओं, विश्वासों इत्यादि को देखा या छुआ नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए, संस्थाओं को हाथ में लेकर नहीं देखा जा सकता और न ही प्रथाओं को तराजू में तोला जा सकता है। समाज भी अमूर्त है
क्योंकि इसे सामाजिक सम्बन्धों (जोकि स्वयं अमूर्त हैं) का ताना-बाना माना गया है। अत: समाजशास्त्र एक अमूर्त विज्ञान है, मूर्त नहीं। रोबर्ट बीरस्टीड का कहना है कि समाजशास्त्र मानवीय घटनाओं के मूर्त प्रदर्शन में विश्वास न रखकर उन स्वरूपों और प्रतिमानों को मान्यता देता है जो घटना-विशेष से सम्बन्धित होती हैं।

4.समाजशास्त्र एक विशुद्ध विज्ञान है, व्यावहारिक विज्ञान नहीं—समाजशास्त्र विशुद्ध विज्ञान है क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य मानव समाज से सम्बन्धित सामाजिक घटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निरूपण कर ज्ञान का संग्रह करना है। विशुद्ध विज्ञान क्योंकि सैद्धान्तिक होता है इसीलिए इसके द्वारा संचित ज्ञान अनिवार्य रूप से व्यावहारिक उपयोग में नहीं लाया जा सकता। रोबर्ट बीरस्टीड ने स्पष्ट कर दिया है कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समाजशास्त्र व्यर्थ या अव्यावहारिक विज्ञान है, परन्तु समाजशास्त्र की इसमें कोई रुचि नहीं कि प्राप्त ज्ञान का प्रयोग व्यावहारिक क्षेत्रों पर कैसे लागू किया जाता है।

5.समाजशास्त्र सामान्य विज्ञान है, विशेष विज्ञान नहीं—अन्य सामाजिक विज्ञानों की तरह समाजशास्त्र भी घटनाओं का अध्ययन करके सामान्यीकरण करने या सामान्य नियमों का निर्माण करने का प्रयास करता है। अधिकांश समाजशास्त्रियों की यह मान्यता है कि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है क्योंकि इसमें सामाजिक जीवन की सामान्य घटनाओं का ही अध्ययन किया जाता है। दुर्खीम (Durkheim), हॉबहाउस (Hobhouse) तथा सोरोकिन (Sorokin) जैसे विद्वानों ने इसे सामान्य विज्ञान माना है।

6.समाजशास्त्र तार्किक तथा आनुभविक विज्ञान है—समाजशास्त्र एक तार्किक विज्ञान है क्योंकि इसमें सामाजिक घटनाओं एवं तथ्यों की तार्किक व्याख्या देने का प्रयास किया जाता है। साथ ही, क्योंकि इसमें अध्ययन अनुसन्धान-क्षेत्र में जाकर किया जाता है पुस्तकालय में बैठकर नहीं, अत: यह अनुभवाश्रित भी है। समाजशास्त्र तर्क के आधार पर वास्तविक घटनाओं का अध्ययन करता है, परन्तु फिर भी अनुभव के आधार पर कम उपयोगी तथ्यों की पूरी तरह से अवहेलना नहीं करता।

समाजशास्त्र की वास्तविक प्रकृति के बारे में रोबर्ट बीरस्टीड द्वारा बताई गई विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र एक ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो निरपेक्ष, वास्तविक, विशुद्ध, अमूर्त और सामान्य होने के साथ-साथ तार्किक तथा अनुभवाश्रित भी है। यह प्राकृतिक विज्ञान, विशेष विज्ञान, व्यावहारिक विज्ञान, आदर्शात्मक विज्ञान तथा मूर्त विज्ञान नहीं है।

1.4 समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र

प्राय: कुछ लोग विषय-क्षेत्र (Scope) तथा विषय-वस्तु (Subject-matter) को एक ही समझ लेते हैं जबकि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। विषय-क्षेत्र का तात्पर्य वे सम्भावित सीमाएँ हैं जहाँ तक किसी विषय का अध्ययन सम्भव होता है, जबकि विषय-वस्तु वे निश्चित सीमाएँ हैं जिनके अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के सामाजिक जीवन को तथा विभिन्न घटनाओं को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र आर्थिक दृष्टिकोण से, राजनीतिशास्त्र राजनीतिक दृष्टिकोण से, मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा समाजशास्त्र सामाजिक दृष्टिकोण से घटनाओं का अध्ययन करते हैं। विभिन्न दृष्टिकोण होने के बावजूद किसी भी सामाजिक विज्ञान का विषय-क्षेत्र निर्धारित करना एक कठिन कार्य है। एक आधुनिक विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र में यह कठिनाई अन्य विज्ञानों की अपेक्षा कहीं अधिक है। कालबर्टन (Calberton) के अनुसार समाजशास्त्र क्योंकि लचीला विज्ञान है अत: यह निश्चित करना पूर्ण रूप से कठिन कार्य है कि इसकी सीमा कहाँ से प्रारम्भ होती है, कहाँ समाजशास्त्र मनोविज्ञान तथा कहाँ मनोविज्ञान समाजशास्त्र बन जाता है अथवा जैविक सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बन जाता है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के बारे में प्रमुख विद्वान एकमत नहीं हैं। इसके बारे में हमारे सामने निम्नांकित दो प्रमुख परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण (या सम्प्रदाय) प्रस्तुत किए गए हैं—

1.4.1 स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टवादी सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रणेता तथा समर्थक जॉर्ज सिमेल, स्माल, वीरकान्त, मैक्स वेबर, वॉन वीज आदि विद्वान् हैं। इन विद्वानों के दृष्टिकोण में समाजशास्त्र स्वतन्त्र, विशिष्ट तथा शुद्ध विज्ञान है। इसका प्रमुख लक्ष्य मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में पृथक् अस्तित्व रखता है। अन्य सामाजिक विज्ञान वही अध्ययन नहीं करते हैं जो समाजशास्त्र करता है। दूसरे सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का लक्ष्य अन्तर्वस्तु (Content) को समझना है, जबकि समाजशास्त्र स्वरूपों (Forms) का अध्ययन करता है। इन विद्वानों ने स्वरूपात्मक पक्ष को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इसी कारण, इस सम्प्रदाय का नाम स्वरूपात्मक सम्प्रदाय पड़ा है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय को स्पष्ट रूप से जानने के लिए इसके प्रमुख समर्थकों के विचार प्रस्तुत हैं—

1. **सिमेल**—जॉर्ज सिमेल के दृष्टिकोण में स्वरूपों तथा अन्तर्वस्तु का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। इन्होंने सामाजिक सम्बन्धों को भी दो वर्गों में बाँटा है—(i) स्वरूप तथा (ii) अन्तर्वस्तु। सिमेल यह मानते हैं कि सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप होता है और इसी स्वरूप का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाना चाहिए। दूसरे सामाजिक विज्ञान अन्तर्वस्तु का अध्ययन करते हैं।
2. **स्माल**—स्माल यह मानते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का विशिष्ट अध्ययन है। इनका मत जॉर्ज सिमेल के मत से मिलता-जुलता है। उनका कहना है कि समाजशास्त्र का कार्य सामाजिक सम्बन्धों

और व्यवहारों या क्रियाओं के मूल रूप का विशिष्ट अध्ययन करना मात्र है, न कि समाज में होने वाली प्रत्येक घटना अथवा क्रिया का।

3. **वीरकान्त**—वीरकान्त भी समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान मानते हैं। इनके अनुसार समाजशास्त्र को मानसिक सम्बन्धों के उन स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए जो एक-दूसरे को बाँधते हैं। वीरकान्त के अनुसार ये मानसिक सम्बन्ध प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, ममता, सम्मान आदि में व्यक्त होते हैं।
4. **वेबर**—मैक्स वेबर समाजशास्त्र के क्षेत्र को निश्चित व स्पष्ट करने के पक्ष में थे। इनके अनुसार समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवहार का विवेचन करना तथा समझना है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी प्रकार के व्यवहार सामाजिक नहीं होते हैं। इसलिए आवश्यक है कि समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया का अध्ययन करे। सामाजिक क्रिया वह क्रिया है जो समाज के अन्य सदस्यों से प्रभावित होती है। प्रत्येक सामाजिक क्रिया में कुछ अर्थ निहित होता है। इस कारण समाजशास्त्र को सामाजिक क्रिया का अध्ययन करना चाहिए।
5. **वॉन वीज**—वॉन वीज समाजशास्त्र के क्षेत्र को अधिक संकुचित करते हुए कहते हैं कि इसका क्षेत्र केवल सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन तक ही सीमित रहना चाहिए।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना—अनेक विद्वानों ने स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना की है। आलोचना के प्रमुख आधार इस प्रकार हैं—

1. मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों और अन्तर्वस्तुओं की पृथक्-पृथक् कल्पना भ्रमपूर्ण है। सामाजिक घटनाओं की अन्तर्वस्तु में परिवर्तन के साथ-साथ स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। सोरोकिन (Sorokin) ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि, ''हम एक गिलास को उसके स्वरूप को बदले बिना शराब, पानी और शक्कर से भर सकते हैं, परन्तु मैं किसी ऐसी सामाजिक संस्था की कल्पना भी नहीं कर सकता जिसका स्वरूप सदस्यों के बदलने पर भी न बदले।''
2. यह दावा करना निराधार है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किसी भी अन्य सामाजिक विज्ञान के द्वारा नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ, विधि विज्ञान (Science of Law) में सामाजिक सम्बन्धों के अनेक स्वरूपों; जैसे सत्ता, संघर्ष, स्वामित्व आदि का स्पष्ट रूप से अध्ययन किया जाता है।
3. इस सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को अन्य विज्ञानों से पूर्णत: अलग कर प्रस्तुत किया है। वास्तव में, प्रत्येक विज्ञान को, यहाँ तक कि प्राकृतिक विज्ञान को भी, दूसरे विज्ञानों से सहायता लेना आवश्यक होता है।
4. इस सम्प्रदाय ने अमूर्तता पर जो ज्यादा जोर दिया है वह अवैज्ञानिक है। इस सम्बन्ध में राइट (Wright) ने ठीक ही लिखा है कि यदि सामाजिक सम्बन्धों का सूक्ष्म एवं अमूर्त रूप में अध्ययन किया जाए तो यह समाजशास्त्र के लिए लाभदायक नहीं होगा।

1.4.2 समन्वयात्मक सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक दुर्खीम, लेस्टर वार्ड, सोरोकिन, हॉबहाउस आदि हैं। इस सम्प्रदाय के अनुसार समाजशास्त्र विशिष्ट विज्ञान न होकर एक सामान्य विज्ञान है। समाज का प्रत्येक भाग परस्पर सम्बन्धित है। यदि

उसके किसी एक भाग में परिवर्तन होता है तो उसका प्रभाव सारे समाज पर पड़ता है, अतएव सारे समाज का अध्ययन करना आवश्यक है। इस अध्ययन को अन्य सामाजिक विज्ञान; जैसे अर्थशास्त्र (आर्थिक जीवन का अध्ययन) तथा राजनीतिशास्त्र (राजनीतिक जीवन का अध्ययन) आदि; अधिक समृद्ध बना सकते हैं। सामाजिक जीवन न केवल आर्थिक और राजनीतिक पक्ष पर ही आधारित है अपितु इन अन्तर्सम्बन्धों से सामाजिक जीवन में पूर्णता भी आती है। इसलिए समाजशास्त्र को इन अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का सामान्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इन विद्वानों के मतानुसार समाजशास्त्र समाज के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि समस्त पक्षों का अध्ययन और विवेचन करने वाला विज्ञान है। इसी आधार पर इस सम्प्रदाय को समन्वयात्मक सम्प्रदाय कहा जाता है। समन्वयात्मक सम्प्रदाय को अधिक स्पष्ट जानने के लिए इसके समर्थक विद्वानों के विचार निम्नांकित हैं—

1. **दुर्खीम**—इमाइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि, ''समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधित्वों (प्रतिनिधानों) का विज्ञान है।'' प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे विचार, धारणाएँ और भावनाएँ होती हैं, जोकि सामाजिक अन्तर्क्रिया के समय व्यक्तिगत चेतना के पारस्परिक प्रभावों के कारण स्पष्ट हो जाती हैं और जीवन में सामने आने लगती हैं। इसी कारण समाज के अधिकांश सदस्य उसे अपना लेते हैं और इनका विकास सामाजिक प्रतीकों के रूप में हो जाता है। चूँकि इन प्रतीकों को समाज के अधिकांश सदस्य मानते हैं, इसलिए ये सामूहिक रूप से समस्त समूह के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। समाजशास्त्र को सामूहिक प्रतिनिधित्वों को अपने विषय-क्षेत्र में सम्मिलित करना चाहिए।
2. **वार्ड–**लेस्टर वार्ड का विचार है कि जिस प्रकार रसायनशास्त्र में दो वस्तुओं को मिला देने से एक नई वस्तु का जन्म होता है और उसका अध्ययन रसायनशास्त्र करता है, उसी प्रकार समाजशास्त्र ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का समन्वय-मात्र है। समाज का निर्माण करने वाले समूह एवं संस्थाएँ आदि परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं जिसके कारण एक में हुआ परिवर्तन दूसरों पर प्रभाव डालता है। इसी प्रकार समाजशास्त्र का आधार, अन्य सामाजिक विज्ञानों के परिणाम हैं। अतएव समाजशास्त्र को विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से प्राप्त केन्द्रीय विचारों का समन्वय एवं अध्ययन करना चाहिए।
3. **सोरोकिन**—पिटिरिम सोरोकिन ने समन्वयात्मक आधार पर समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को समझाने का प्रयत्न किया है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र पर सोरोकिन ने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि, ''यदि सामाजिक घटनाओं को वर्गों में विभाजित किया जाए और विशेष सामाजिक विज्ञान प्रत्येक वर्ग का अध्ययन करे तो इन विशेष सामाजिक विज्ञानों के अलावा एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता होगी जो सामान्य एवं विभिन्न विज्ञानों के सम्बन्धों का अध्ययन करे।'' सोरोकिन का विचार है कि प्रत्येक विज्ञान में कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं जिनका अध्ययन समाजशास्त्र में समन्वय के आधार पर तीन प्रकार से किया जा सकता है—प्रथम, समाज में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं के सम्बन्धों एवं सहसम्बन्धों का अध्ययन करना, द्वितीय, सामाजिक व असामाजिक दोनों प्रकार की घटनाओं के सहसम्बन्धों का अध्ययन करना तथा तृतीय, इन सामाजिक घटनाओं में निहित सामान्य विशेषताओं का भी अध्ययन करना। अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

आर्थिक सम्बन्ध क, ख, ग, घ, ङ, च

राजनीतिक सम्बन्ध	क, ख, ग, छ, ज, झ
धार्मिक सम्बन्ध	क, ख, ग, अ, ट, ठ
वैधानिक सम्बन्ध	क, ख, ग, ड, ढ, ण
मनोरंजनात्मक सम्बन्ध	क, ख, ग, त, थ, द

इससे स्पष्ट होता है कि घटना क, ख, ग प्रत्येक विषय में समान रूप से है, चाहे घटनाओं की प्रकृति कुछ भी हो। ये ऐसी घटनाएँ हैं जो सामाजिक जीवन के सभी पक्षों में सामान्य हैं। समाजशास्त्र को अपने विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत इन्हीं सामान्य घटनाओं का अध्ययन करना चाहिए।

4. **हॉबहाउस**—हॉबहाउस का दृष्टिकोण भी समन्वयात्मक है। इनके अनुसार विभिन्न विज्ञानों का अध्ययन इस प्रकार से किया जाना अनिवार्य है जिसमें कि उनके सिद्धान्तों में समन्वय सम्भव हो पाए। समाजशास्त्र सामान्य जीवन का अध्ययन उसी समय कर सकता है जब समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों के आधारभूत विचारों का अध्ययन करे अथवा सामान्य केन्द्रीय धारणाओं को खोजने का प्रयत्न करे। इसलिए समाजशास्त्र अपने को विशेष प्रकार के सम्बन्धों तक सीमित नहीं रख सकता।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना—समन्वयात्मक सम्प्रदाय के विचारों के विरुद्ध मुख्य तर्क निम्नांकित हैं—

1. समाजशास्त्र का कार्य यदि सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं व तथ्यों का अध्ययन करना हो जाएगा तो यह एक विशुद्ध शास्त्र न रहकर मिश्रित शास्त्र हो जाएगा।
2. ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र अपना विशुद्ध और स्वतन्त्र चरित्र खो देगा और वह अन्य विज्ञानों की तरह एक 'सामान्य विज्ञान' बनकर रह जाएगा।
3. सभी प्रकार की सामाजिक घटनाओं व तथ्यों के संग्रह और अध्ययन के कारण समाजशास्त्र किसी भी विषय का पूर्ण और अधिकृत ज्ञान प्रदान नहीं कर सकेगा। साथ ही यह किसी भी तथ्य की सर्वज्ञता का दावा नहीं कर सकेगा और न वह समाज के लिए इतना उपयोगी रह पाएगा जितना कि यह विशिष्ट विज्ञान होने के नाते हो सकता है।

उपर्युक्त दोनों विचारधाराएँ परस्पर विरोधी हैं तथा दोनों का समान महत्त्व है। एक सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से समाजशास्त्र विशेष सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला तथा दूसरे दृष्टिकोण में सामान्य सम्बन्धों का अध्ययन करने वाला विज्ञान है। वास्तविकता यह है कि किसी भी सामाजिक विज्ञान के लिए यह सीमा निश्चित कर देना कि यह सामान्य या विशिष्ट सम्बन्धों का ही अध्ययन करेगा, अवैज्ञानिक है। सामान्यता तथा विशिष्टता परस्पर एक-दूसरे की पूरक हैं तथा साथ ही चलती हैं। जिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र तथा प्राणिशास्त्र की तुलना की है। इनके अनुसार प्राणिशास्त्र के अन्तर्गत अनेक विज्ञानों का संग्रह होता है और प्रत्येक विज्ञान की अपनी विशिष्टता है। लेकिन इन विशिष्ट विज्ञानों के अतिरिक्त एक सामान्य जीवशास्त्र होता है, जो जीवन की परिस्थितियों के ज्ञान का आधार है। ठीक उसी प्रकार समाजशास्त्र में सामाजिक जीवन के तत्त्वों से सम्बन्धित अनेक विशिष्ट विज्ञान हैं और इस दृष्टिकोण से समाजशास्त्र समस्त सामाजिक विज्ञानों के समग्र रूप के समान है।

वास्तव में समाजशास्त्र के क्षेत्र से सम्बन्धित दोनों दृष्टिकोणों में समन्वय करने की आवश्यकता है। एक ओर हमें समाज के मूल एवं सामान्य तत्त्वों का ज्ञान होना अनिवार्य है, जबकि दूसरी ओर सामाजिक जीवन के विशिष्ट पहलुओं की अवहेलना भी नहीं की जा सकती। अत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विषय-क्षेत्र के बारे में झगड़ा व्यर्थ है क्योंकि अपनी अध्ययन-पद्धति के अनुरूप समाजशास्त्र विशिष्ट एवं सामान्य दोनों ही है।

1.5 शब्दावली

समाजशास्त्र — समाजशास्त्र वह विषय है जो समाज का क्रमबद्ध अध्ययन करता है।

सामाजिक अन्तर्क्रिया — दो या दो से अधिक व्यक्तियों के बीच होने वाली अर्थपूर्ण क्रिया को सामाजिक अन्तर्क्रिया कहते हैं।

परिप्रेक्ष्य — परिप्रेक्ष्य का अर्थ एक विशिष्ट नजरिया (देखने का तरीका) है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने अध्ययन को समन्वित व सुव्यवस्थित करता है।

1.6 अभ्यास प्रश्न

1. समाजशास्त्र से आप क्या समझते हैं

2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

   a. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय

   b. समन्वयात्मक सम्प्रदाय

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Arnold M. Rose, Sociology, Boston : Houghton Mifflin, 1962.
- Bierstedt, Robert, The Social Order, New York : McGraw Hill, 1957.
- Biesanz, J. and Biesanz, M., Modern Society, New York : Columbia University Press, 1955.
- Bottomore, T. B., Sociology : A Guide to Problems and Literature, London : Allen and Unwin, 1969.
- Cuber, J. F., Sociology, New York : Appleton-Century-Crofts, 1963.
- Dawson, C. A. and Gettys, W. E., An Introduction to Sociology, New York : Ronald Press, 1994.
- Federico, Ronald C. Sociology, Mishawaka : Addison-Wesley, 1983.
- Giddings, F. H., Inductive Sociology : A Syllabus of Methods, Analyses and Classifications and Provisionally Formulated Laws, New York : Macmillan, 1901.
- Gillin, J. L. and Gillin, J. P., Cultural Sociology, Bombay : Orient Longman, 1993.
- Ginsberg, Morris, Sociology, London : Thornton Butter- worth. 1934.
- Gisbert, P., Fundamentals of Sociology, New Delhi : Prentice-Hall of India, 1965.
- Green, A. W., Sociology : An Analysis of Life in Modern Society, New York : McGraw-Hill, 1968.
- Johnson, Harry M., Sociology : A Systematic Introduction, London : Routledge and Kegan Paul, 1961.

इकाई – 2

समाजशास्त्र व समाज कार्य

Sociology & Social Work

इकाई की रूपरेखा

2.0 उददेश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाजशास्त्र की विषयवस्तु

2.3 समाजशास्त्र व समाजकार्य

2.4 व्यवहारिक समाजशास्त्र

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्याास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उददेश्य

प्रथमत: कॉम्ट ने समाजशास्त्र को 'सामाजिक भौतिकशास्त्र' (Social Physics) कहा, परन्तु बाद में उन्होंने इसे 'समाजशास्त्र' नाम दिया तथा आज यह विषय इसी नाम से ही प्रचलित है। कॉम्ट ने 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग प्रथमत: 1838 ई० में किया। इस प्रकार, एक नवीन तथा संस्थागत विषय के रूप में इसका इतिहास लगभग 172 वर्षों का ही है। उन्होंने समाजशास्त्र को अत्यधिक आधुनिक विज्ञान मानते हुए इसे 'विज्ञानों की रानी' की संज्ञा दी। अमेरिका में यह एक पृथक् विज्ञान के रूप में 1876 ई० में, फ्रांस में 1889 ई० में तथा इंग्लैण्ड में 1907 ई० में प्रारम्भ हुआ। बाकी सभी देशों में यह विषय प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् आरम्भ हुआ। जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) ने समाजशास्त्र के लिए 'इथोलोजी' (Ethology) शब्द का प्रयोग करने का सुझाव दिया था जोकि स्वीकार नहीं किया गया। इस इकाई का उद्देश्य, समाजशास्त्र के विषय–क्षेत्र तथा समाज कार्य से समाजशास्त्र के सम्बन्ध की विवेचना करना है।

2.1 प्रस्तावना

सामाजिक पहलुओं के अध्ययन की एक लम्बी परम्परा रही है, फिर भी समाजशास्त्र विषय का एक संस्थागत विषय के रूप में उद्‌भव एवं विकास 19वीं शताब्दी में हुआ। टी० बी० बॉटोमोर (T. B. Bottomore) ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' का प्रारम्भ इन पंक्तियों से किया है, ''हजारों वर्षों से लोगों ने उन समाजों एवं समूहों का अवलोकन एवं चिन्तन किया है जिसमें कि वे रहते हैं। फिर भी, समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है तथा एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है।'' उनके इस कथन से इस तर्क की पुष्टि हो जाती है कि समाजशास्त्र

एक नवीन विषय है। साथ ही इससे यह भी पता चल जाता है कि समाज में रहना एवं इसके बारे में चिन्तन करना तथा समाज का अध्ययन करना दो भिन्न बातें हैं। समाज में रहना ही यदि समाज का अध्ययन करना होता, तो समाजशास्त्र विषय एक अति प्राचीन विषय होता जोकि वास्तव में नहीं है। इसी भाँति, रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) का भी यही मत है कि, ''समाजशास्त्र का अतीत तो बहुत लम्बा है, परन्तु इसका इतिहास संक्षिप्त है।''

2.2 समाजशास्त्र की विषय-वस्तु

किसी भी विषय की विषय-वस्तु से तात्पर्य उन पहलुओं अथवा बातों से है जिनका अध्ययन उसमें किया जाता है। विषय-वस्तु का निर्धारण करना इसलिए अनिवार्य है क्योंकि किसी भी विषय में सभी पहलुओं या बातों का अध्ययन नहीं किया जा सकता। ऐसा किसी भी विषय-विशेष को अन्य विषयों से अलग करने के लिए भी अनिवार्य है। अन्य विषयों की भाँति समाजशास्त्र की भी निश्चित विषय-वस्तु है, परन्तु एक नवीन विषय होने के कारण समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद पाए जाते हैं।

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को निम्न तीन भागों से विभक्त कर अध्ययन किया जाना चाहिए—

1.सामाजिक स्वरूपशास्त्र—इसके अन्तर्गत सामाजिक संगठन बनाए रखने में सहायता करने वाली शक्तियों का अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्यत: भोगौलिक परिस्थितियाँ; जैसे जनसंख्या का घनत्व आदि; जिनका प्रभाव समाज के संगठन पर पड़ता है, का अध्ययन किया जाता है।

2.सामाजिक शरीर-रचना—यह खण्ड अनेक उपखण्डों में वर्गीकृत है तथा इनके अन्तर्गत वे विषय आते हैं जिनका अध्ययन अन्य विशेष विज्ञान करते हैं; जैसे, धर्म का समाजशास्त्र, कानून का समाजशास्त्र, ज्ञान का समाजशास्त्र आदि। समाजशास्त्र इनका समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करता है।

3.सामान्य समाजशास्त्र—इसमें उन विधियों का अध्ययन किया जाता है जो सामान्य हितों व सामाजिक नियमों को सुरक्षित रखने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। दुर्खीम के दृष्टिकोण में यह भाग समाज का दार्शनिक अंग है।

एलेक्स इंकलिस ने अपनी पुस्तक 'ह्वाट इज सोशियोलॉजी?' में समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का निर्धारण निम्नलिखित तीन विधियों (पथों) द्वारा करने का प्रयास किया है—

1.ऐतिहासिक विधि—इस विधि द्वारा इंकलिस ने यह जानने का प्रयास किया है कि समाजशास्त्र के जन्मदाताओं ने इसकी विषय-वस्तु के बारे में क्या कहा है। इसमें इन्होंने चार ऐसे प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों के विचारों का उल्लेख किया है जिन्होंने 'समाजशास्त्र' को विज्ञान बनाने में सहायता दी है। ये विद्वान् निम्नलिखित हैं—

(i)ऑगस्त कॉम्ट—कॉम्ट समाजशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं क्योंकि उन्होंने ही 1838 ई० में प्रथमत: 'समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया था। उन्होंने अपना अधिक ध्यान समाजशास्त्र के अस्तित्व को स्वीकार करवाने में ही लगाया। वास्तव में, कॉम्ट क्योंकि समाजशास्त्र को एक ऐसा विज्ञान मानते थे जिसमें सभी दृष्टिकोणों को एक साथ रखकर अध्ययन किया जा सकता है, अत: उन्होंने इसकी कोई विषय-वस्तु निर्धारित नहीं की है। उन्होंने समाजशास्त्र की दो शाखाओं—सामाजिक स्थैतिकी (Social statics) तथा सामाजिक गत्यात्मकता (Social dynamic)—का उल्लेख किया है। प्रथम शाखा में उन्होंने अर्थव्यवस्था, परिवार, राजनीति आदि प्रमुख संस्थाओं के विश्लेषण पर बल दिया है, जबकि दूसरी शाखा में समाज को इकाई मानकर

इसके विकास एवं परिवर्तन के अध्ययन पर बल दिया है। उन्होंने समाज का समग्र रूप में अध्ययन करने को ही नहीं, अपितु समाजों के तुलनात्मक अध्ययनों को भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु स्वीकार किया है।

(ii)हरबर्ट स्पेन्सर—स्पेन्सर की पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी', जोकि 1877 ई० में तीन खण्डों में प्रकाशित हुई, प्रथम समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने वाली कृति मानी जाती है। उन्होंने, कॉम्ट के विपरीत समाजशास्त्र में अध्ययन की जाने वाली बातों की अधिक स्पष्ट रूप से विवेचना की है। उन्होंने परिवार, धर्म, सामाजिक नियन्त्रण तथा उद्योग अथवा कार्य को ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु नहीं बताया अपितु समितियों, समुदायों, श्रम-विभाजन, सामाजिक विभिन्नीकरण तथा सामाजिक स्तरीकरण, ज्ञान के समाजशास्त्र, विज्ञान के समाजशास्त्र और कला के समाजशास्त्रीय विश्लेषण को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में सम्मिलित किया है। उन्होंने भी सम्पूर्ण समाज को एक इकाई मानकर व्यापक पैमाने पर अध्ययन करने पर बल दिया है।

(iii) **इमाइल दुर्खीम**—दुर्खीम ने सामाजिक तथ्यों के अध्ययन पर बल दिया तथा स्वयं श्रम-विभाजन, आत्महत्या और धर्म जैसे सामाजिक तथ्यों का अध्ययन किया। उन्होंने व्यक्तित्व, धर्म, कानून, प्रतिमान, अपराध, जनसंख्या, विज्ञान, कला आदि को तथा आर्थिक पहलुओं के समाजशास्त्रीय अध्ययन को समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में विशेष स्थान दिया है।

(iv) **मैक्स वेबर**—वेबर ने सामाजिक क्रिया, धर्म, आर्थिक जीवन के अनुपम पहलुओं (जिसमें मुद्रा तथा श्रम-विभाजन भी सम्मिलित है), राजनीतिक दल, राजनीतिक शक्ति एवं सत्ता, अधिकारीतन्त्र तथा अन्य बड़े संगठनों, जाति एवं वर्ग, नगर तथा संगीत पर स्वयं अध्ययन किए और इनकी महत्ता पर प्रकाश डाला।

2.आनुभविक विधि—इस विधि द्वारा इंकलिस ने यह जानने का प्रयास किया है कि आज समाजशास्त्र में किन बातों को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है अर्थात् समकालीन समाजशास्त्री क्या कर रहे हैं? यह पता तीन स्त्रोतों द्वारा लगाया जा सकता है—(अ) पाठ्य-पुस्तकों (Textbooks) का विश्लेषण, (ब) विभिन्न विद्वानों द्वारा समाजशास्त्र की भिन्न शाखाओं का समर्थन तथा (स) अनुसन्धान पत्रिकाओं व अन्य रिपोर्टों में प्रकाशित लेख। होर्नल हार्ट (Hornell Hart) ने 1952 ई० से 1958 ई० तक की अवधि में अमेरिका में प्रकाशित 24 पाठ्य-पुस्तकों का विश्लेषण करके 12 ऐसे पहलुओं या बातों का पता लगाया जिन्हें कम-से-कम 20 पाठ्य-पुस्तकों में सम्मिलित किया गया था।

ये पहलू निम्नलिखित हैं—

- समाजशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति (Scientific method in Sociology),
- समाज में व्यक्तित्व (Personality in society),
- संस्कृति (Culture),
- मानव समूह (Human groups),
- जनसंख्या (Population),
- जाति तथा वर्ग (Caste and class),
- प्रजाति (Race),
- सामाजिक परिवर्तन (Social change),

- आर्थिक संस्थाएँ (Economic institutions),
- परिवार (Family)
- शिक्षा (Education), तथा
- धर्म (Religion)

3.**विश्लेषणात्मक विधि**—इंकलिस का कहना है कि समाजशास्त्र के जन्मदाताओं के विचार तथा समकालीन समाजशास्त्रियों के अध्ययन की रुचि के विषय समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को निर्धारित करने में पर्याप्त नहीं हैं। अतः समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को तार्किक विश्लेषण (Logical analysis) द्वारा निर्धारित करना अनिवार्य है। अन्य शब्दों में, इस विधि द्वारा इंकलिस ने समाजशास्त्र की वृहत् विषय-वस्तु को तार्किक दृष्टि से परिसीमित करने का प्रयास किया है। इंकलिस के अनुसार समाजशास्त्र की विशिष्ट विषय-वस्तु में तीन पहलुओं को घटते क्रम (Decreasing order) में सम्मिलित किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं—

(अ) समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है—समाजशास्त्र एक ऐसा विशिष्ट विज्ञान है जिसमें समाज को समग्र के रूप में विश्लेषण की एक इकाई माना जाता है। इस पहलू में विशेष समाजों के आन्तरिक विभेदीकरण तथा उनकी बाहरी विशेषताओं से सम्बन्धित समाज के विकास तथा समस्याओं के अध्ययनों को सम्मिलित किया जा सकता है। मैक्स वेबर तथा किंग्सल डेविस के अध्ययन इस श्रेणी के अध्ययनों के उदाहरण हैं।

(ब) समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है—समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का दूसरा विशिष्ट पहलू सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन है। इस पहलू में समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न अंगों तथा सामाजिक संस्थाओं जैसे कि परिवार, चर्च, स्कूल, राजनीतिक दल आदि के अध्ययन पर बल दिया जाता है। संस्थाओं की सामान्य विशेषताओं, इनके परस्पर सम्बन्धों एवं कार्यों के अध्ययन भी इस पहलू में सम्मिलित किए जा सकते हैं। इंकलिस के अनुसार इस पहलू में अधिक अध्ययन नहीं हुए हैं तथा आज बड़ी संस्थाओं की अपेक्षा छोटी संस्थाओं के अध्ययन में रुचि बढ़ती जा रही है।

(स) समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है—इंकलिस ने इस पहलू में सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन पर बल दिया है। सामाजिक सम्बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं—व्यक्ति-व्यक्ति के बीच, व्यक्ति-समूह के बीच तथा एक समूह और दूसरे समूह के बीच। मैक्स वेबर, वॉन वीज, जॉर्ज सिमेल तथा टॉलकट पारसन्स ने इस पहलू में महत्त्वपूर्ण अध्ययन किए हैं।

2.3 समाजशास्त्र एवं समाज कार्य

समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। विज्ञान दो तरह के होते हैं—प्रथम, प्राकृतिक विज्ञान तथा द्वितीय, सामाजिक विज्ञान। प्राकृतिक विज्ञान प्रकृति अथवा प्राकृतिक घटनाओं से सम्बन्धित होते हैं, जबकि सामाजिक विज्ञान समाज के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करते हैं। समाजशास्त्र ही एकमात्र सामाजिक विज्ञान नहीं है अपितु अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज कार्य, मानवशास्त्र तथा इतिहास इत्यादि भी सामाजिक विज्ञान हैं। अतः समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञानों में से एक विज्ञान है तथा इस नाते यह अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित है। समाजशास्त्र के अन्य सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धों की चर्चा करते हुए बार्न्स एवं बीकर लिखते हैं कि, ''समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की न तो गृहस्वामिनी है और न उनकी दासी है, अपितु उनकी बहन

है।'' यद्यपि सामाजिक विज्ञानों को बहन मानने में, सबसे बाद में उत्पन्न होने के कारण यह सबसे छोटी बहन है, किन्तु प्रभाव की दृष्टि से यह सबसे बढ़ी-चढ़ी है। छोटी होते हुए भी यह सब बहनों को एक-दूसरे के पास लाती है और उनसे सामाजिक अध्ययन के कार्य में पूर्ण सहयोग लेती है। उनके विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन का एक समान आधार है।

समाजशास्त्र समाज का क्रमबद्ध अध्ययन है। समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल अथवा ताना-बाना कहा जाता है। समाजशास्त्र में मुख्य रूप से मानव संस्कृति तथा समाज, सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयों (जैसे—सामाजिक क्रिया तथा सामाजिक सम्बन्ध, मानव का व्यक्तित्व, समूह (प्रजाति तथा वर्ग सहित), समुदाय (नगरीय और ग्रामीण), समितियाँ और संगठन, जनसंख्या, तथा समाज आदि), मूलभूत सामाजिक संस्थाओं (जैसे—परिवार और नातेदारी, आर्थिक संस्थाएँ, राजनीतिक तथा वैधानिक संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ, शैक्षणिक व वैज्ञानिक संस्थाएँ, मनोरंजनात्मक व कल्याण संस्थाएँ, तथा कलात्मक तथा अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएँ आदि) तथा मौलिक सामाजिक प्रक्रियाओं (जैसे—विभेदीकरण तथा स्तरीकरण, सहयोग, समायोजन तथा सात्मीकरण, सामाजिक संघर्ष जिसमें क्रान्ति और युद्ध भी सम्मिलित है, संचार जिसमें जनमत निर्माण और परिवर्तन भी सम्मिलित है, समाजीकरण और सैद्धान्तीकरण, सामाजिक मूल्यांकन, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक विचलन, सामाजिक एकीकरण, तथा सामाजिक परिवर्तन इत्यादि) का अध्ययन किया जाता है।

समाज कार्य एक सामाजिक विज्ञान है। इसमें उन कल्याणकारी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका उद्देश्य मानवतावादी दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान एवं प्राविधिक निपुणताओं पर आधारित व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को एक सुखी एवं सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करना है। समाज कार्य शब्द का प्रयोग समस्याओं के समाधान द्वारा मानवीय कल्याण में वृद्धि करने हेतु किया जाता है। यह एक व्यावहारिक विज्ञान है जिसमें समाजशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों में खोजे गए ज्ञान के आधार पर समाज की समस्याओं का समाधान तथा सामाजिक कल्याण एवं पुनर्निर्माण करने का प्रयास किया जाता है। समाज कार्य वह व्यावसायिक क्रिया या सेवा है जो व्यक्तियों, समूहों अथवा समुदायों को समस्याओं का समाधान करने हेतु आत्म सहायता करने योग्य बनाती है। इस क्रिया में मानवतावादी दर्शन, वैज्ञानिक ज्ञान तथा प्राविधिक निपुणताओं का प्रयोग किया जाता है तथा समुदाय से तालमेल बैठाते हुए लोगों की आकांक्षाओं और क्षमताओं के अनुरूप बेहतर जीवन स्तर प्राप्त करने तथा सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना में उनकी व्यक्तिगत या सामूहिक रूप में सहायता करने का प्रयास किया जाता है।

समाजशास्त्र का समाज कार्य से निकट का सम्बन्ध पाया जाता है। इन दोनों सामाजिक विज्ञानों में पाया जाने वाला विभाजन सुस्पष्ट नहीं है और इसीलिए इनमें काफी सीमा तक सामान्य रुचियाँ, संकल्पनाएँ एवं अध्ययन की पद्धतियाँ हैं। इसीलिए बहुत-से विद्वानों का कहना है कि समाजशास्त्र एवं समाज कार्य को अलग-अलग करना इनमें पाए जाने वाले अन्तरों को अतिरंजित करना तथा समानताओं पर आवरण चढ़ाने जैसा होगा। इसका अनुमान इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि जिस संस्था में समाज कार्य का प्रशिक्षण सर्वप्रथम प्रारम्भ किया गया उसका नाम 'स्कूल ऑफ सोशियोलॉजी' रखा गया तथा उसके पाठ्यक्रम में समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को प्रमुख रूप से सम्मिलित किया गया।

समाजशास्त्र तथा समाज कार्य के पारस्परिक सम्बन्ध को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. समाजशास्त्र तथा समाज कार्य की उत्पत्ति सामान्य रूप से सामाजिक समस्याओं एवं समाज सुधार में रुचि के परिणामस्वरूप हुई है।
2. समाजशास्त्र तथा समाज कार्य में समाज में विद्यमान सामाजिक समस्याओं के कारणों को ढूँढ़ने तथा उनका समाधान करने हेतु अपनाए जाने वाले उपायों पर बल दिया जाता है।
3. प्रारम्भ में समाज कार्य हेतु प्रशिक्षण समाजशास्त्र द्वारा उपलब्ध कराया जाता था अर्थात् समाज कार्यकर्ता बनने हेतु समाजशास्त्रीय प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती थी।
4. समाजशास्त्र समाज कार्य को वैयक्तिक, पारिवारिक, सामुदायिक एवं सामाजिक समस्याओं को समझने, उनका विश्लेषण करने तथा उनका निदान करने में सहायता प्रदान करता है।
5. समाजशास्त्र सामाजिक समूहों, संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं से सम्बन्धित उपयोगी उपकल्पनाओं (प्राकल्पनाओं) का निर्माण करके समाज कार्य को सहायता प्रदान करता है।
6. समाजशास्त्र समाज कार्यकर्ताओं को समाजशास्त्र से सम्बन्धित विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट करने तथा उनका इस रूप में प्रयोग करने में सहायता प्रदान करता है जिससे वे समाज की संरचना को ठीक प्रकार से समझ सकें।
7. समाज कार्यकर्ता समाजशास्त्रियों द्वारा संकलित तथ्यों एवं उनके आधार पर निकाले गए निष्कर्षों व प्रतिपादित सिद्धान्तों का परीक्षण करते हैं।
8. समाज कार्य का अधिकांश ज्ञान समाजशास्त्र पर आधारित है। मेयर (Meyor) जैसे विद्वानों ने समाजशास्त्र तथा समाज कार्य में चार क्षेत्रों में अन्तरसम्बन्ध का उल्लेख किया है—अन्तर्वैयक्तिक अन्तर्क्रिया, सामाजिक ज्ञान, संस्थाओं का प्रशासन तथा सामाजिक समस्याएँ। इससे इन दोनों में पाए जाने वाले सम्बन्धों का पता चलता है।
9. टिम्स (Timms) के मतानुसार समाज कार्य में प्रयुक्त वैयक्तिक समाज कार्य पद्धति में समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान के ज्ञान का ही बहुधा प्रयोग होता है क्योंकि वैयक्तिक समाज कार्य का अपना कोई ज्ञान नहीं है।
10. समाजशास्त्र सेवार्थी के व्यक्तित्व को समझने, उस पर पड़ने वाले प्रभावों का पता लगाने, व्यक्तित्व में पाई जाने वाली संगठन एवं विघटन की सापेक्ष स्थिति को स्पष्ट करने, उसकी मनोवृत्तियों, योग्यताओं, क्षमताओं इत्यादि को समझने में भी सहायता प्रदान करता है।
11. समाजशास्त्र अध्ययन-क्षेत्र में सेवार्थी द्वारा अनुभव की जाने वाली समस्याओं के सामाजिक पहलुओं को समझने तथा समाज में उपलब्ध विभिन्न संसाधनों का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है।
12. समाजशास्त्र सेवार्थी को वह ज्ञान उपलब्ध कराता है जो उसे समस्याग्रस्त व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय के साथ सम्पर्क करने एवं अर्थपूर्ण संचार बनाए रखने में सहायक होता है। समाजशास्त्र उन कारकों के प्रति सेवार्थी को सचेत भी करता है जो उसकी कार्यक्षमता को कम करते हैं।

समाजशास्त्र द्वारा समाज कार्य को दिए जाने वाले उपर्युक्त योगदान का अर्थ यह कदापि नहीं है कि दोनों विषय एक ही हैं तथा समाज कार्य समाजाशास्त्र का ही एक रूप है। यह सही है कि समाजशास्त्र एवं समाज कार्य सहित अधिकांश सामाजिक विद्वानों द्वारा अन्त:विषयक उपागम (Inter-disciplinary approach) अपनाए

जाने से विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में अन्तर करना और भी कठिन हो गया है, फिर भी, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में परस्पर सम्बन्ध के बावजूद रुचियों, संकल्पनाओं एवं अध्ययन पद्धतियों में थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है। यह तथ्य समाजशास्त्र एवं समाज कार्य पर भी लागू होता है। समाज कार्यों में समाजशास्त्र के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विज्ञानों में उपलब्ध ज्ञान का भी प्रयोग किया जाता है ताकि सेवार्थी समस्याओं का प्रभावशाली ढंग से समाधान कर सकें तथा समस्याग्रस्त व्यक्तियों एवं समूहों में आत्म सहायता की क्षमता विकसित कर सकें। समाज कार्य द्वारा मनो-सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करना इस बात का द्योतक है कि इसमें समाजशास्त्र के अतिरिक्त मनोविज्ञान की भी सहायता ली जाती है।

समाज कार्य तथा समाजशास्त्र में पाया जाने वाला सम्बन्ध एक-तरफा नहीं है। समाज कार्य भी समाजशास्त्र को मूल्यवान ज्ञान उपलब्ध कराने में सहायक है। समाजशास्त्र में चिकित्सा समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र, पर्यावरणीय समाजशास्त्र जैसी शाखाओं के विकास में समाज कार्य के उल्लेखनीय योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। समाज कार्य द्वारा संकलित व्यावहारिक ज्ञान समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की पुनर्परीक्षा करने में भी सहायक होता है। समाजशास्त्रियों द्वारा पाठीय (पुस्तकीय) परिप्रेक्ष्य के स्थान पर क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य को दी जाने वाली प्राथमिकता का प्रमुख कारण भी समाज कार्य द्वारा उपलब्ध क्षेत्रीय ज्ञान ही है।

2.4 व्यावहारिक समाजशास्त्र

समाजशास्त्र एक विज्ञान है क्योंकि इसमें वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यह किस प्रकार का विज्ञान है? क्या यह एक विशुद्ध विज्ञान है अथवा व्यावहारिक? यह एक वाद-विवाद का विषय है। रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) के अनुसार समाजशास्त्र एक विशुद्ध या मौलिक विज्ञान है क्योंकि इसका प्रमुख उद्देश्य मानव समाज से सम्बन्धित सामाजिक घटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निरूपण कर ज्ञान का संग्रह करना है। विशुद्ध विज्ञान क्योंकि सैद्धान्तिक होता है इसीलिए इसके द्वारा संचित ज्ञान अनिवार्य रूप से व्यावहारिक उपयोग में नहीं लाया जा सकता। रोबर्ट बीरस्टीड ने स्पष्ट कर दिया है कि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि समाजशास्त्र व्यर्थ या अव्यावहारिक विज्ञान है, परन्तु समाजशास्त्र की इसमें कोई रुचि नहीं कि प्राप्त ज्ञान का प्रयोग व्यावहारिक क्षेत्रों पर कैसे लागू किया जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र में होने वाले अधिकतर शोध की प्रकृति भी मौलिक या विशुद्ध है। इस प्रकार का शोध नवीन तथ्यों की प्राप्ति करके मानव-जिज्ञासा को सन्तुष्टि करने से सम्बन्धित होता है। इसमें सामाजिक वास्तविकता के बारे में नवीन ज्ञान प्राप्त किया जाता है, मौलिक सिद्धान्तों और नियमों का निर्माण किया जाता है तथा पुराने सिद्धान्तों का नवीन ज्ञान के आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। अत: विशुद्ध शोध नवीन ज्ञान की प्राप्ति तथा पहले से प्राप्त ज्ञान की पुनर्परीक्षा द्वारा उसमें वृद्धि करने से सम्बन्धित है।

दूसरी ओर, जब से समाजशास्त्र का विकास हुआ है तभी से कुछ समाजशास्त्रियों का एक वर्ग समाजशास्त्र द्वारा प्राप्त वैज्ञानिक ज्ञान को सामाजिक समस्याओं के समाधान एवं समाज-सुधार हेतु प्रयुक्त करने के पक्ष में रहा है। इन विद्वानों में जेनी एडम्स (Jane Addams), ऑगस्त कॉम्ट (Auguste Comte), लेस्टर वार्ड (Lester Ward) इत्यादि प्रमुख हैं। उदाहरणार्थ—समाजशास्त्र के जनक कॉम्ट ने अपने अध्ययनों में समाजशास्त्रीय ज्ञान की व्यावहारिकताओं पर बल दिया। इनकी सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना (Plan of social reconstruction) समाजशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व देने की ही द्योतक है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र के समर्थक समाजशास्त्र द्वारा प्राप्त ज्ञान एवं तथ्यों द्वारा निर्मित सिद्धान्तों को नीति-निर्धारकों (Policy-makers) एवं लोगों के सामान्य जीवन पर लागू करने पर बल देते हैं। आज समाजशास्त्र में 'व्यावहारिक समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग मानव व्यवहार एवं संगठनों से सम्बन्धित प्रायोगिक प्रासंगिकता विकसित करने के इरादे के लिए किया जाता है। सामान्यतया इस प्रकार के कार्य का लक्ष्य किसी सामाजिक समस्या के समाधान में सहायता प्रदान करना होता है। अमेरिका, यूरोप के अनेक विकसित देशों एवं भारत जैसे विकासशील देशों में भी सरकार ने प्रजातिवाद, नृजातिवाद, साम्प्रदायिक हिंसा, अश्लील साहित्य, अपराध, बाल-अपराध, जनसंख्या आप्रावास इत्यादि सामाजिक महत्त्व के विषयों पर अनेक आयोग गठित किए हैं। इन आयोगों में समाजशास्त्रियों एवं अन्य सामाजिक वैज्ञानिकों को सदस्य बनाया जाना समाजशास्त्र के व्यावहारिक उपयोग का द्योतक है। अमेरिका जैसे देश में तो स्थानीय समुदायों के स्तर पर व्यावहारिक समाजशास्त्र के अनेक केन्द्र स्थापित किए गए हैं जिनमें सामुदायिक विषयों; जैसे—रोजगार के उपलब्ध अवसर, विकलांगों की समस्याएँ, वरिष्ठ नागरिकों की समस्याएँ इत्यादि पर शोध किया जाता है तथा प्राप्त निष्कर्षों को स्थानीय प्रशासन को उपलब्ध कराया जाता है ताकि इनसे सम्बन्धित नीति-निर्माण में सहायता मिल सके।

व्यावहारिक समाजशास्त्र के समर्थक समाजशास्त्र में व्यावहारिक शोध करने पर बल देते हैं। व्यावहारिक शोध ज्ञान प्राप्ति से सम्बन्धित न होकर प्राप्त ज्ञान को व्यावहारिक जीवन में लागू करने पर बल देता है। यह सामाजिक व्यवहार को समझने तथा सामाजिक व्याधिकीय अथवा विघटनकारी समस्याओं को समझने से सम्बन्धित होता है अर्थात् इसका उद्देश्य व्यावहारिक जीवन के विविध पहलुओं एवं समस्याओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करना होता है। 'व्यावहारिक समाजशास्त्र' में इसी प्रकार के शोध किए जाते हैं।

19वीं शताब्दी के अन्त तक एवं 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक समाजशास्त्रियों को समाज-सुधारकों एवं सामाजिक अभियन्ताओं के रूप में देखा जाता था क्योंकि वे समाजशास्त्रीय ज्ञान को सामाजिक समस्याओं के समाधान तथा सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने पर ही बल नहीं देते रहे, अपितु निरन्तर इस ओर प्रयासरत भी रहे। अमेरिका में वार्ड जैसे अनेक समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को समाज कल्याण से जोड़ने का प्रयास किया तथा नगरीकरण एवं औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्याओं को समझने व उनका समाधान खोजने का प्रयास किया। इसी से व्यावहारिक समाजशास्त्र की उत्पत्ति हुई। यद्यपि ऐसे विद्वानों को अधिक सफलता तो नहीं मिली क्योंकि समस्याओं के समाधान सम्बन्धी निर्णय लेने का कार्य सरकार करती है न कि कोई समाजशास्त्री या अन्य कोई सामाजिक वैज्ञानिक, तथापि आज 'व्यावहारिक समाजशास्त्र' के अस्तित्व को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं।

फैडरिको (Federico) के अनुसार 'व्यावहारिक समाजशास्त्र' सामान्य समाजशास्त्र की प्रयोगात्मक शाखा है जो समाजशास्त्रीय ज्ञान को लोगों के जीवन को उन्नत करने हेतु प्रयोग में लाने पर बल देती है। इनका यह भी कहना है कि ज्ञान को इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयोग में लाने के लिए समाज के बारे में उपलब्ध मूल ज्ञान में सुधार होना जरूरी है और इसीलिए समाजशास्त्रियों का वैज्ञानिक होने का नाते प्रथम उत्तरदायित्व वैज्ञानिक पद्धति द्वारा ज्ञान प्राप्त करना तथा इसे संगठित करना है।

स्कैफर एवं लाम (Schaefer and Lamm) के अनुसार व्यावहारिक समाजशास्त्र में बढ़ती हुई रुचि के परिणामस्वरूप ही समाजशास्त्र की अनेक विशिष्ट शाखाओं; जैसे—चिकित्सा समाजशास्त्र (Medical sociology) एवं पर्यावरणीय समाजशास्त्र (Environmental sociology) का विकास हुआ है।

चिकित्सा समाजशास्त्र में केवल इस बात का अध्ययन नहीं किया है कि डॉक्टर रोगियों से किस प्रकार का व्यवहार करते हैं, अपितु एड्स (AIDS) जैसे भयंकर रोगों का परिवारों, मित्रों एवं समुदायों पर सामाजिक प्रभाव देखने का प्रयास भी किया है। पर्यावरणीय समाजशास्त्री केवल मानव समाज एवं भौतिक पर्यावरण में सम्बन्धों का ही अध्ययन नहीं करते, अपितु यह समझने का प्रयास भी करते हैं कि कारखानों से निकलने वाला खतरनाक स्राव किस प्रकार से गन्दी बस्तियों एवं अल्पसंख्यक पड़ोसों को प्रभावित करता है।

स्कैफर एवं लाम का कहना है कि व्यावहारिक समाजशास्त्र की लोकप्रियता के परिणामस्वरूप ही 'निदानात्मक समाजशास्त्र' (Clinical sociology) जैसी विशिष्ट शाखा का विकास हुआ है। यद्यपि लुईस विर्थ (Louis Wirth) ने आज से लगभग सात दशक पहले (1931 ई० में) 'निदानात्मक समाजशास्त्र' शब्द का प्रयोग किया था, तथापि यह शब्द पिछले कुछ वर्षों में ही लोकप्रिय हुआ है। निदानात्मक समाजशास्त्र के समर्थक समाजशास्त्र में क्रियात्मक शोध (Action research) करने पर बल देते हैं। यह वह सामाजिक शोध है जिसमें शोधकर्ता किसी सामाजिक समस्या या घटना के क्रियात्मक पक्ष को अधिक महत्त्व देता है तथा शोध के निष्कर्षों का प्रयोग वर्तमान परिस्थितियों; जैसे गन्दी बस्तियों, जातीय तनावों या अन्य ऐसी परिस्थितियों को बदलने हेतु करता है। निदानात्मक समाजशास्त्री सामाजिक समस्याओं के निदान हेतु केवल सुझाव मात्र ही नहीं देते अपितु इस दिशा में स्वयं भी सक्रिय प्रयास करते हैं।

'निदानात्मक समाजशास्त्र' में परिवर्तन लाने हेतु विविध प्रकार की प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है तथा यह काफी सीमा तक 'व्यावहारिक समाजशास्त्र' के समान ही है। फिर भी, व्यावहारिक समाजशास्त्र मूल्यांकनात्मक हो सकता है, जबकि निदानात्मक समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों को बदलने अथवा सामाजिक संस्थाओं को पुनर्संरचित करने से सम्बन्धित है। अमेरिका में समाजशास्त्रीय ज्ञान को व्यक्तियों एवं सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से प्रासंगिक बनाने तथा इसे प्रोत्साहन देने हेतु 1978 ई० में 'The Sociological Practice Association' नामक समिति की स्थापना की गई थी जिसमें समाजशास्त्रियों का पेशेवर समूह व्यावहारिक एवं निदानात्मक समाजशास्त्र से सम्बन्धित अध्ययन करता है। इस समिति ने 1989 ई० से निदानात्मक समाजशास्त्र से सम्बन्धित 'Sociological Practice Review' नामक पत्रिका निकालना भी प्रारम्भ किया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि व्यावहारिक समाजशास्त्र सामान्य समाजशास्त्र की वह शाखा है जो समाजशास्त्रीय ज्ञान को व्यवहार में लाने अर्थात् समास्याओं के समाधान हेतु प्रयोग करने पर बल देती है। इसका सम्बन्ध समाज का पुनर्निर्माण करना है। चूँकि समाजशास्त्री स्वयं नीति-निर्धारक नहीं होता इसलिए व्यावहारिक समाजशास्त्री सामान्यतया संकलित ज्ञान एवं मूल्यांकन को प्रयोग में लाने का कार्य नीति-निर्धारकों पर छोड़ देते हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्रियों के विपरीत निदानात्मक समाजशास्त्री इस दिशा में स्वयं भी प्रयास करते हैं। इसी दृष्टि से 'निदानात्मक समाजशास्त्र' 'व्यावहारिक समाजशास्त्र' से भिन्न है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र की सामाजिक समस्याओं, सामाजिक कल्याण एवं नीति-निर्धारण के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसकी उपयोगिता को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के समाधान में सहायक है। यह केवल समाज में पाई जाने वाली विभिन्न समस्याओं के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में ही सहायक नहीं है, अपितु कारणों का विश्लेषण करके इनके समाधान के उपाय बताने में भी सहायक है। निर्धनता, बेरोजगारी, अपराध, बालापराध,

मद्यपान, मानसिक तथा साम्प्रदायिक उपद्रव, वेश्यावृत्ति इत्यादि समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने में समाजशास्त्रीय ज्ञान की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

2. व्यावहारिक समाजशास्त्र व्यावसायिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसने विभिन्न व्यवसायों को समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज इस विषय की अनेक शाखाएँ; जैसे कि 'शिक्षा का समाजशास्त्र', 'कानून का समाजशास्त्र', 'चिकित्सा का समाजशास्त्र', 'सैनिक जीवन का समाजशास्त्र', 'अपराध का समाजशास्त्र' आदि; अपने-अपने क्षेत्र में व्यवसायों को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

3. व्यावहारिक समाजशास्त्र का सामाजिक नियोजन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज सभी विकसित एवं विकासशील देश सामाजिक नियोजन द्वारा अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक नियोजन में सहायता प्रदान करके इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। आज विभिन्न देशों में योजनाओं के निर्माण में समाजशास्त्री एवं अन्य सामाजिक वैज्ञानिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

4. व्यावहारिक समाजशास्त्र राष्ट्र-निर्माण की समस्याओं को समझने तथा उनका निराकरण करने में सहायक है। समाजशास्त्रीय ज्ञान नागरिकों में राष्ट्रीयता की भावनाएँ जाग्रत करने तथा राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में तीव्रता लाने में भी सहायक है। इससे हमें यह पता चलता है कि कौन-कौन सी बाधाएँ किसी देश के राष्ट्र-निर्माण में प्रमुख हैं। उदाहरणार्थ—भारत में जातिवाद, भाषावाद, क्षेत्रीयता व प्रादेशिकता आदि प्रमुख बाधाओं को दूर करने के प्रयासों एवं राष्ट्रीयता की भावनाएँ जाग्रत करने में समाजशास्त्रीय ज्ञान उपयोगी सिद्ध हो रहा है।

5. व्यावहारिक समाजशास्त्र की नीति-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इसका ज्ञान नीतियों के निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। टी० बी० बॉटोमोर के अनुसार, समाजशास्त्री उन मामलों पर पर्याप्त, आवश्यक, निश्चित एवं वस्तुनिष्ठ रूप से विचार करते हैं जो राजनीतिज्ञों, प्रशासकों व समाज-सुधारकों के सामने आते हैं। समाजशास्त्रीय विश्लेषण एवं ज्ञान नीति-निर्धारकों का मार्गदर्शन करता है तथा नीति-निर्माण का कार्य सरल बनाता है।

6. व्यावहारिक समाजशास्त्र का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पाई जाने वाली विविधताओं को समझने तथा सभी राष्ट्रों में सद्‌भाव बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह हमें संसार के अनेक देशों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता प्रदान करता है। आज औद्योगीकरण एवं यन्त्रीकरण के कारण हमारा जीवन दिन-प्रतिदिन अन्तर्राष्ट्रीय होता जा रहा है तथा इसके लिए अन्य समाजों में रहने वाले व्यक्तियों तथा उनकी संस्कृतियों को जानना अत्यन्त जरूरी हो गया है। अत: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुलझाने एवं सद्‌भाव बनाए रखने में समाजशास्त्र का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यावहारिक समाजशास्त्र एक अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण सामाजिक विज्ञान है। वस्तुत: व्यावहारिक समाजशास्त्र ही समाज कार्य के अधिक नजदीक है।

2.5 शब्दावली

सामाजिक विज्ञान — वे विज्ञान जो समाज के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करते हैं सामाजिक विज्ञान कहे जाते हैं।

प्रजाति — प्रजाति एक प्राणिशास्त्रीय अवधारणा है। यह वह समूह है जोकि शारीरिक विशेषताओं का विशिष्ट योग धारण करता है। यह शारीरिक विशेषताएँ वंशानुक्रमण द्वारा निर्धारित होती हैं।

2.6 अभ्यास प्रश्न

1.किस प्रकार समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है? स्पष्ट कीजिए।

2.समाजशास्त्र क्या है? इसमें तथा समाज कार्य में सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

3.निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) स्वरूपात्मक सम्प्रदाय

(ब) व्यावहारिक समाजशास्त्र

(स) समाज कार्य को समाजशास्त्र का योगदान।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Arnold M. Rose, Sociology, Boston : Houghton Mifflin, 1962.
- Bierstedt, Robert, The Social Order, New York : McGraw Hill, 1957.
- Biesanz, J. and Biesanz, M., Modern Society, New York : Columbia University Press, 1955.
- Bottomore, T. B., Sociology : A Guide to Problems and Literature, London : Allen and Unwin, 1969.
- Cuber, J. F., Sociology, New York : Appleton-Century-Crofts, 1963.
- Dawson, C. A. and Gettys, W. E., An Introduction to Sociology, New York : Ronald Press, 1994.
- Federico, Ronald C. Sociology, Mishawaka : Addison-Wesley, 1983.
- Giddings, F. H., Inductive Sociology : A Syllabus of Methods, Analyses and Classifications and Provisionally Formulated Laws, New York : Macmillan, 1901.
- Gillin, J. L. and Gillin, J. P., Cultural Sociology, Bombay : Orient Longman, 1993.
- Ginsberg, Morris, Sociology, London : Thornton Butter- worth. 1934.
- Gisbert, P., Fundamentals of Sociology, New Delhi : Prentice-Hall of India, 1965.
- Green, A. W., Sociology : An Analysis of Life in Modern Society, New York : McGraw-Hill, 1968.
- Johnson, Harry M., Sociology : A Systematic Introduction, London : Routledge and Kegan Paul, 1961.
- Lumley, F. E., Principles of Sociology, New York : McGraw-Hill Book Company, 1935.

इकाई – 3

समाज एवं पशु समाज
Society & Animal Society

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 समाज का अर्थ एवं परिभाषा
3.3 समाज के आधारभूत तत्व
3.4 समाज एवं एक समाज
3.5 मानव एवं पशु समाज
3.6 पशु समाज
3.7 मानव एवं पशु समाज में अन्तर
3.8 शब्दावली
3.9 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

समाजशास्त्र में सामाजिक यथार्थता को व्यक्त करने हेतु अनेक अवधारणाओं (जिन्हें संकल्पनाएँ, संबोध अथवा संप्रत्यय भी कहा जाता है) का प्रयोग किया जाता है। इन्हीं से उस विषय की शब्दावली का निर्माण होता है। उदाहरणार्थ—समाज, सामाजिक समूह, समुदाय, समिति, संस्था, संस्कृति, प्रस्थिति, भूमिका, व्यक्तित्व, समाजीकरण, सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता, तथ्य, अनुसन्धान, सिद्धान्त आदि अवधारणाएँ ही हैं। विषय के मूल ज्ञान हेतु इन अवधारणाओं को स्पष्ट रूप से समझना अनिवार्य होता है।

प्राकृतिक विज्ञानों में प्रत्येक अवधारणा का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है, जबकि सामाजिक विज्ञानों में ऐसा नहीं है। इस इकाई में समाज, मानव एवं पशु समाज, की अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

3.1 प्रस्तावना

हम सब लोग समाज में रहते हैं। समाज के बिना हमारा जीवन सम्भव नहीं है। इसीलिए यह भी कहा जाता है कि ''जहाँ जीवन है, वहाँ समाज भी है।'' वास्तव में, व्यक्ति एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इनसे ही समूहों एवं समाज का निर्माण होता है। समाज का अध्ययन होने के नाते समाज समाजशास्त्र की सर्वाधिक प्रमुख एवं प्राथमिक अवधारणा मानी जाती है।

3.2 समाज

'समाज' शब्द का प्रयोग हम बहुधा दैनिक बोलचाल की भाषा में करते रहते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह अथवा संकलन के लिए किया जाता है। उदाहरण के लिए—हम हिन्दू समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, ब्रह्म समाज, शिक्षक समाज, छात्र समाज, स्त्री समाज इत्यादि शब्दों का प्रयोग आये दिन करते हैं। इन शब्दों में हम 'समाज' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में करते हैं अर्थात् जब हम 'शिक्षक समाज' की बात करते हैं तो उस समय हमारे मन में इसका तात्पर्य, 'शिक्षकों का एक समूह' होता है। परन्तु इस अर्थ में 'समाज' शब्द की कोई स्पष्ट व्याख्या दृष्टिगत नहीं हो पाती है। समाजशास्त्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग एक निश्चित एवं विशिष्ट अर्थ में किया जाता है।

3.2.1 समाज का अर्थ एवं परिभाषाएँ

समाज का विज्ञान होने के नाते समाजशास्त्र में 'समाज' शब्द का प्रयोग मनमाने अर्थ में नहीं किया जाता है। समाजशास्त्र में व्यक्तियों के समूह या संकलन (एकत्रीकरण) मात्र को ही समाज नहीं कहा जाता है। व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समाज का निर्माण मात्र व्यक्तियों के संकलन से नहीं होता, इसके लिए उनमें पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों का होना अनिवार्य है। मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) ने इस सन्दर्भ में उचित ही कहा है कि, ''समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल (Web) है।'' सामाजिक सम्बन्धों के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—प्रथम, व्यक्तियों को एक-दूसरे का आभास (जानकारी) होना, द्वितीय, उनमें अर्थपूर्ण व्यवहार होना तथा तृतीय, उनका एक-दूसरे के व्यवहार से प्रभावित होना। सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। विविध आवश्यकताओं (जैसे आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, परिवार सम्बन्धी या यौन आवश्यकताएँ इत्यादि) की पूर्ति के लिए उनमें अर्थपूर्ण व्यवहार होता है। यह व्यवहार एक-दूसरे की क्रियाओं से प्रभावित होता है। परस्पर अन्तर्क्रिया करते हुए व्यक्ति जिन सामाजिक सम्बन्धों के जाल में बँध जाते हैं, उसी को समाजशास्त्र में 'समाज' कहा जाता है।

सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण तभी होता है जब एक से अधिक व्यक्ति (कर्ता) परस्पर सम्पर्क स्थापित करते हैं तथा एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करते हैं। साथ ही यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि सामाजिक सम्बन्ध स्थायी एवं अस्थायी दोनों प्रकार के होते हैं। उदाहरणार्थ—परिवार के सदस्यों में स्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं, जबकि एक डॉक्टर और मरीजों, एक दुकानदार और ग्राहकों, एक बस कण्डक्टर तथा बस में बैठे यात्रियों में अस्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं। सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति सहयोगी एवं असहयोगी दोनों प्रकार की हो सकती है। सामाजिक सम्बन्ध असंख्य होते हैं जिसके कारण इनकी प्रकृति अत्यन्त जटिल होती है।

समाज का निर्माण इन्हीं विविध प्रकार के असंख्य सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर होता है, परन्तु यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि समाज मात्र सामाजिक सम्बन्धों का ढेर नहीं है। सामाजिक सम्बन्धों के व्यवस्थित ताने-बाने को ही हम समाज कहते हैं। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने इस सन्दर्भ में यह कहा है कि, ''जब सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था पनपती है तभी हम उसे समाज कहते हैं।'' अत: समाजशास्त्र में समाज का अर्थ सामाजिक सम्बन्धों का एक सुव्यवस्थित ताना-बाना अथवा जाल है।

समाज की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन है क्योंकि इस शब्द को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में परिभाषित किया है। गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, ''समाज स्वयं एक संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक ऐसा योग है जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति परस्पर सम्बन्धों द्वारा जुड़े रहते हैं।'' पारसन्स (Parsons) के अनुसार, ''समाज को उन मानव सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जाता है, जो साधन-साध्य सम्बन्धों के रूप में क्रियाओं के करने से उत्पन्न हुए हैं, चाहे ये यथार्थ हों या प्रतीकात्मक।'' मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समाज रीतियों, कार्य-प्रणालियों, अधिकार व पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहों तथा उनके विभागों, मानव व्यवहार पर नियन्त्रणों एवं स्वतन्त्रताओं की व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को ही हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है तथा यह सदैव परिवर्तित होता रहता है।'' इस परिभाषा में मैकाइवर एवं पेज ने समाज को ''सामाजिक सम्बन्धों का जाल'' कहा है। उनका यह कथन समाज की अमूर्तता की ओर संकेत करता है। इसी भाँति, जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, ''समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो कुछ सम्बन्धों अथवा व्यवहार की विधियों द्वारा संगठित है तथा उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इस प्रकार के सम्बन्धों द्वारा बँधे हुए नहीं हैं अथवा जिनके व्यवहार उनसे भिन्न हैं।''

रयूटर (Reuter) के अनुसार, ''(समाज) एक अमूर्त धारणा है, जोकि एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराती है।'' इंकलिस (Inkeles) के अनुसार, ''ऐसी सामाजिक व्यवस्था जो संस्थाओं से बड़ी है तथा समुदायों से भिन्न; फिर भी यह संस्थाओं के साथ न तो स्वत: उपस्थित रहती है, न ही प्रत्येक समुदाय से इसका उद्‌भव होता है। यह सबसे बड़ी इकाई है, जिसका सम्बन्ध समाजशास्त्र से है तथा इसे ही समाज कहा जाता है।'' लेपियर (LaPiere) के अनुसार, ''समाज मनुष्यों के एक समूह का नाम नहीं है वरन् यह ऐसी जटिल अन्तर्क्रियाओं का प्रतिमान है जो मनुष्यों के बीच उत्पन्न होता है।''

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज को मूर्त एवं अमूर्त दोनों रूपों में परिभाषित किया है। वस्तुत: समाज शब्द जितना सरल है उसकी परिभाषा देना उतना ही एक कठिन कार्य है। इसीलिए जी० डी० मिशेल (G. D. Mitchell) ने उचित ही लिखा है कि, ''समाजशास्त्री की शब्दावली में 'समाज' शब्द एक अत्यधिक अस्पष्ट एवं सामान्य शब्द है।'' तथापि, अधिकांश विद्वान् समाज को सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था, जाल अथवा ताना-बाना मानते हैं। व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना मूल रूप से अपनी विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रक्रिया में करता है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं, अत: समाज को भी अमूर्त माना गया है अर्थात् इसका कोई निश्चित रूप नहीं है। अगर समाज को व्यक्तियों के मूर्त समूह के रूप में परिभाषित किया जाता है तो इसे 'समाज' न कहलाकर 'एक समाज' कहा जाता है।

3.3 समाज के आधारभूत तत्त्व

समाज का अर्थ जान लेने के पश्चात् इसके निर्णायक अथवा आधारभूत तत्त्वों का पता होना भी अनिवार्य है। इन आधारभूत तत्त्वों को कई बार समाज की सामाजिक आवश्यकताएँ (Social necessities) भी कहा जाता है। ये निर्णायक तत्त्व प्रत्येक समाज, चाहे वह पशु समाज हो या मानव समाज, में पाए जाते हैं। परन्तु समाज के आधारभूत तत्त्वों के बारे में विद्वानों में थोड़े-बहुत मतभेद पाए जाते हैं।

किंग्सले डेविस ने समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं या निर्णायक तत्त्वों को निम्नलिखित चार श्रेणियों में विभाजित किया है—

1. जनसंख्या का प्रतिपालन—जनसंख्या को बनाए रखने के लिए कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। इनकी पूर्ति के द्वारा ही जनसंख्या का निर्वाह होता है। वे आवश्यकताएँ निम्नांकित हैं—

(i) पोषण का प्रबन्ध—जनसंख्या में सदस्यों को उचित पालन-पोषण की आवश्यकता होती है। भोजन के द्वारा उन्हें जीवन सम्बन्धी सुरक्षा की प्राप्ति होती है।

(ii) क्षति के विरुद्ध संरक्षण—जनसंख्या को बनाए रखने के लिए सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करना समाज का दूसरा कार्य है। बाढ़, महामारी, अकाल इत्यादि ऐसी दुर्घटनाएँ हैं जिनसे मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व नष्ट हो जाता है। समाज इनके विरुद्ध अपने सदस्यों को सुरक्षा प्रदान करता है।

(iii)नए जीवों का पुनरुत्पादन—नवीन प्राणियों की उत्पत्ति समाज की जनसंख्या को बनाए रखने में सहायक होती है। यदि उत्पत्ति न हो, तो समाज ही समाप्त हो जाएगा। इसलिए नवीन प्राणियों की उत्पत्ति समाज का आवश्यक तत्त्व है।

2.जनसंख्या के बीच कार्य का विभाजन—सदस्यों में उचित श्रम-विभाजन समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इससे मनुष्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना पनपती है। सहयोग की भावना के होने से संगठन में दृढ़ता भी आती है। श्रम-विभाजन से मनुष्यों को पदों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है और वे पदों के अनुरूप दायित्व का निर्वाह करते हैं।

3.समूह का संगठन—समाज के सदस्यों के मध्य एकता की भावना समाज का अनिवार्य तत्त्व है। सम्पर्कों के आधार पर प्राणियों में अन्तर्क्रियाएँ होती हैं। इसी के फलस्वरूप उनमें सहयोगात्मक व असहयोगात्मक भावनाएँ विकसित होती हैं। समूह सभी सदस्यों से सहिष्णुता एवं सहयोग की आशा करता है। भेदभाव, असहयोग, असहिष्णुता आदि कटुता को जन्म देते हैं। इसीलिए समाज सदस्यों से इनकी आशा नहीं करता है। अत: इसमें दो बातें प्रमुख हैं—

(i) सदस्यों के मध्य सम्पर्क की प्रेरणा, तथा

(ii) पारस्परिक सहिष्णुता की प्रेरणा तथा बाहरी तत्त्वों का प्रतिरोध।

4. सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता—प्रत्येक समाज के स्थायित्व एवं निरन्तरता के लिए सामाजिक व्यवस्था में निरन्तरता एवं स्थिरता अनिवार्य है। इसी के फलस्वरूप व्यवस्था पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का स्थिर होना अत्यन्त ही आवश्यक है।

टी॰ बी॰ बॉटोमोर ने भी समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य व्यवस्थाओं व प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है जिन्हें समाज की प्रकार्यात्मक पूर्व-आवश्यकताएँ कहा जा सकता है। जो न्यूनतम आवश्यकताएँ प्रतीत होती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

1.संचार की एक व्यवस्था,

2. वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण से सम्बन्धित आर्थिक व्यवस्था,

3. नवीन पीढ़ी का समाजीकरण करने वाली व्यवस्थाएँ (परिवार व शिक्षा सहित),

4. सत्ता व शक्ति के वितरण की व्यवस्था, तथा

5. सामाजिक समन्वय को बनाए रखने अथवा बढ़ाने के लिए संस्कारों की व्यवस्था (जो महत्त्वपूर्ण घटनाओं; जैसे जन्म, वयस्कता, कोर्टशिप, विवाह तथा मृत्यु आदि को सामाजिक मान्यताएँ प्रदान कर सके)।

हेरी एम० जॉनसन के अनुसार समाज के चार अनिवार्य तत्त्व हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. **निश्चित भू-भाग**—समाज एक भू-भागीय समूह है। व्यक्तियों द्वारा किन्हीं निश्चित सीमाओं में रहने के परिणामस्वरूप ही समाज का निर्माण होता है।

2. **यौन प्रजनन**—समाज में सदस्यों की भर्ती तथा समाज की निरन्तरता, समूह के भीतर ही की जाने वाली यौन प्रजनन प्रक्रिया द्वारा होती है।

3.सर्वांगव्यापी संस्कृति—बिना संस्कृति के समाज अपूर्ण है। अत: एक सर्वांगव्यापी संस्कृति का होना समाज के लिए अनिवार्य है।

4.आत्मनिर्भरता—समाज का एक अन्य अनिवार्य तत्त्व यह है कि वह किसी समूह का उपसमूह नहीं होता। इस कसौटी के आधार पर उन समूहों को भी समाज कहा जा सकता है जोकि राजनीतिक दृष्टि से अन्य समूह के अधीन होते हुए भी पूर्णत: उसमें समा नहीं पाए हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न विद्वानों ने समाज के आधारभूत तत्त्वों की विवेचना समाज के अपने अर्थ के अनुरूप की है।

3.3.1 समाज की प्रकृति अथवा समाज की विशेषताएँ

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाज की परिभाषाएँ जिन शब्दों में दी हैं उनसे समाज की कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं। समाज की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. समाज सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है—बिना सामाजिक सम्बन्धों के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाज के सदस्यों में पाए जाने वाले निश्चित सामाजिक सम्बन्धों के जाल अथवा व्यवस्था द्वारा सभी सदस्य एक-दूसरे से बँधे रहते हैं। ये सम्बन्ध अव्यवस्थित, मनमाने अथवा पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं होते हैं, अपितु इनकी स्थापना हेतु समाज में पाए जाने वाले सांस्कृतिक आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप होती है। समाज के सदस्य इन सम्बन्धों की स्थापना अपनी मानसिक सन्तुष्टि, सामान्य हितों की पूर्ति, पारस्परिक निर्भरता तथा सामाजिक दायित्वों के निर्वाह हेतु करते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में स्थापित इन्हीं सम्बन्धों द्वारा सदस्यों के व्यक्तित्व का विकास भी होता है। सदस्यों में पाए जाने वाले व्यापक सम्बन्धों के एक निश्चित ढाँचे अथवा व्यवस्था को ही समाज कहा जाता है।

2. **समाज अमूर्त है**—समाज मनुष्यों का मूर्त समूह कदापि नहीं है, अपितु यह सदस्यों में पाए जाने वाले व्यापक सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना या व्यवस्था है। क्योंकि सम्बन्धों का कोई स्वरूप नहीं होता, इसलिए समाज भी अमूर्त होते हैं। इस सन्दर्भ में रयूटर (Reuter) ने उचित ही लिखा है कि, ''जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं है, बल्कि जीवित रहने की प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है, बल्कि सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया है।'' राइट (Wright) की इस परिभाषा से भी समाज की अमूर्तता के बारे में पता चलता है कि, ''समाज व्यक्तियों का समूह नहीं है, यह समूह के सदस्यों के मध्य स्थापित सम्बन्धों की व्यवस्था है।'' सम्बन्ध क्योंकि अमूर्त होते हैं इसलिए समाज भी अमूर्त है।

3. समाज में सहयोग एवं संघर्ष–समाज के सदस्यों के मध्य सहयोगात्मक तथा असहयोगात्मक दोनों प्रकार के सम्बन्ध पाये जाते हैं। ये दोनों ही प्रकार के सम्बन्ध समाज के लिए आवश्यक भी हैं। सहयोग के द्वारा सामाजिक सम्बन्ध निर्मित होते हैं। संघर्ष के द्वारा सामाजिक समस्याओं का निराकरण होता है। सहयोग और संघर्ष एक प्रकार से जीवन के दो पहलू हैं। यदि इन्हें एक-दूसरे का पूरक भी कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस सम्बन्ध में जॉर्ज सिमेल (Georg Simmel) का कथन है कि समाज में दो प्रकार की शक्तियों का समावेश होता है—एक तो वे शक्तियाँ जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती हैं और दूसरी वे शक्तियाँ जो उन्हें पृथक् कर देती हैं।

(अ) **समाज में सहयोग**—मानव समाज एक जटिल व्यवस्था है। समाज के सदस्य एक-दूसरे से सहयोग करते हुए अपने लक्ष्यों (आवश्यकताओं) की पूर्ति करते हैं। मनुष्य की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है। यह भी सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति स्वयं ही कर ले। अत: मानव का सामाजिक जीवन सहयोग पर ही आधारित होता है। सहयोग दो प्रकार का होता है—

(i) प्रत्यक्ष सहयोग—प्रत्यक्ष सहयोग वहाँ प्रदान किया जाता है जहाँ व्यक्ति आमने-सामने (Face-to-face) के सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरण के लिए—परिवार में प्रत्येक सदस्य आमने-सामने का सम्बन्ध रखता है। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक-दूसरे से सहयोग करते हैं। प्रत्यक्ष सहयोग में समान कार्य व उद्देश्य का होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में यह स्मरण रखना होगा कि प्रत्यक्ष सहयोग का अर्थ स्वयं के कार्यों से अन्य को लाभ पहुँचाना नहीं है। इसका अर्थ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिल-जुलकर प्रयास करना होता है। ऐसा सहयोग सरल समाजों में पाया जाता है।

(ii) **अप्रत्यक्ष सहयोग**—अप्रत्यक्ष सहयोग जटिल समाजों में अधिक पाया जाता है। इसमें उद्देश्यों व लक्ष्यों में तो समानता होती है, परन्तु उसकी प्राप्ति हेतु सभी सदस्य मिलकर एक साथ एक-सा प्रयत्न नहीं करते। सदस्य इन उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अलग-अलग प्रयास करते हैं। वे अलग-अलग साधन भी अपना सकते हैं। अप्रत्यक्ष सहयोग का अर्थ समान उद्देश्यों को पाने के लिए असमान कार्य करने से है। उदाहरण के लिए—रेलगाड़ी तैयार करना। अलग-अलग लोग अपनी योग्यता और पद के अनुसार रेलगाड़ी के विभिन्न हिस्से बनाते हैं, लेकिन सभी का एक ही उद्देश्य है कि रेलगाड़ी बन जाए। इस प्रकार वे अप्रत्यक्ष सहयोग से रेलगाड़ी का निर्माण करते हैं। श्रम-विभाजन (Division of labour) अप्रत्यक्ष सहयोग का सर्वोत्तम उदाहरण है। समाज में महत्त्व की दृष्टि से दोनों प्रकार के सहयोग एक समान हैं।

(ब) **समाज में संघर्ष–**प्रत्येक मनुष्य जैविक, मानसिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न होता है। अतएव समाज में संघर्ष की उत्पत्ति होती है। समाज में मनुष्य अपनी आवश्यकताओं, उद्देश्यों व लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संघर्ष का आश्रय लेता है। वस्तुत: जीवन एक संघर्ष है। संघर्ष को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) **प्रत्यक्ष संघर्ष–**प्रत्यक्ष सम्पर्क होने पर विकसित संघर्ष को प्रत्यक्ष संघर्ष कहा जाता है। दो व्यक्तियों या समूहों में संघर्ष (जैसे साम्प्रदायिक दंगे, युद्ध, दो मित्रों में झगड़ा, परिवार के सदस्यों में संघर्ष या पति-पत्नी के मध्य संघर्ष तथा विवाह-विच्छेद आदि) प्रत्यक्ष संघर्ष के उदाहरण हैं।

(ii) **अप्रत्यक्ष संघर्ष**—इसके अन्तर्गत व्यक्ति अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे व्यक्तियों के हितों में बाधा पहुँचाने की चेष्टा करता है। अप्रत्यक्ष संघर्ष में व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए दूसरों के स्वार्थों का हनन करता है, लेकिन इसमें

वह दूसरों से प्रत्यक्ष रूप से परिचित नहीं होता है। सभी प्रकार की प्रतियोगिताएँ अप्रत्यक्ष संघर्ष का उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए—साइकिल बनाने वाली दो कम्पनियाँ हैं। हो सकता है कि उनके मालिक व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे को न जानते हों, लेकिन दोनों यह चाहते हैं कि उनका माल बाजार में अधिक बिके तथा इसके लिए वे अनेक प्रयत्न करते हैं। यह अप्रत्यक्ष संघर्ष है। अप्रत्यक्ष संघर्ष का क्षेत्र आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक हो सकता है।

4.**समाज में समानता और विभिन्नता**—समाज में समानता तथा विभिन्नता पायी जाती है। बाह्य दृष्टिकोण से दोनों परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं, पर वास्तविकता में ये परस्पर पूरक हैं। इन्हीं के द्वारा समाज को स्थायित्व व निरन्तरता प्राप्त होती है। समानता के कारण संस्थाओं का जन्म होता है। विभिन्नता के कारण संस्थाओं में परिवर्तन तथा कार्यों में सुधार होता है।

(अ) समाज में समानता—समाज के निर्माण में सामाजिक सम्बन्धों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। सामाजिक सम्बन्धों के अभाव में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सम्बन्धों की उत्पत्ति के लिए पारस्परिक चेतना एवं समानता का होना अत्यन्त आवश्यक है। यह समानता शारीरिक अथवा मानसिक रूप में हो सकती है। इसी समानता के कारण चेतना होगी तथा उससे सम्बन्धों का जन्म होगा। किसी निर्जीव वस्तु के साथ व्यक्ति अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि दोनों में पारस्परिक चेतना का जन्म नहीं होता, अत: सम्बन्धों की उत्पत्ति नहीं हो पाती है। किन्तु यदि दो मनुष्य हैं व उनमें किसी भी क्षेत्र में समानता पाई जाती है तो उनमें सम्बन्धों का जन्म होगा। गिडिंग्स ने इसे 'समानता की चेतना' कहा है। मैकाइवर एवं पेज का विचार है कि यदि हम एक विश्व के सिद्धान्त पर विजय पाना चाहते हैं तो ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब हम समस्त मानव प्रजाति के आधारभूत तत्त्व को समानता की मान्यता प्रदान करें।

(ब) समाज में विभिन्नता—समाज के लिए विभिन्नता भी महत्त्व रखती है। यद्यपि बाहरी रूप से विभिन्नताएँ समानताओं के विपरीत प्रतीत होती हैं, तथापि वास्तविकता में ये उनकी पूरक हैं। यदि समाज के सभी सदस्य जैविक व मानसिक दृष्टिकोण में समान होते, तो मानव व्यवहार यन्त्रवत् हो जाता। ऐसी अवस्था में मानव समाज व पशु समाज के मध्य कोई अन्तर नहीं रह जाता। मैकाइवर एवं पेज का कथन है कि यदि समाज के सदस्य सभी क्षेत्रों में एक-दूसरे के समान होते, तो उनके सम्बन्ध उतने ही सीमित हो जाते जितने कि चींटियों तथा मधुमक्खियों के समाज में पाए जाते हैं। मनुष्य के अनेक सामाजिक उद्देश्य हैं; जैसे—शरीर रक्षा, भोजन प्राप्त करना, सांस्कृतिक कार्य, सामाजिक कार्य आदि। इन लक्ष्यों या उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए भिन्न-भिन्न तरीके या साधन हैं। समाज में इसी कारण व्यक्तियों के विभिन्न पद एवं भूमिकाएँ होती हैं। समाज में अनेक भिन्नताएँ; जैसे पेशे में भिन्नता, व्यापार में भिन्नता, कार्यों में भिन्नता आदि पाई जाती हैं। योग्यता में भिन्नता के कारण ही समाज में व्यक्तियों को उच्च व निम्न स्थान प्रदान किए जाते हैं। ऐसे समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती, जहाँ सिर्फ पुरुष ही पुरुष या स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ हैं। समाज में विद्यमान विभिन्नताओं को निम्नलिखित तीन प्रमुख प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—

(i) जैविक भिन्नताएँ—इनका उदाहरण शारीरिक संरचनाएँ व यौन भिन्नताएँ हैं।

(ii) प्राकृतिक भिन्नताएँ—इसके अन्तर्गत मानसिक भिन्नताओं व कार्यक्षमताओं में अन्तर आदि आते हैं।

(iii) सामाजिक तथा सांस्कृतिक भिन्नताएँ—उद्देश्यों, मनोवृत्तियों, प्रथाओं, रहन-सहन, जीवन-पद्धति व रुचियों में भिन्नताएँ सामाजिक-सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं।

5. समाज का आधार अन्योन्याश्रितता है—मनुष्यों की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं को जैविक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि उपखण्डों में बाँटा जा सकता है; लेकिन किसी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं कि वह इन आवश्यकताओं को अपने आप या बिना किसी की सहायता के पूरा कर ले। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता है। मनुष्य की एक प्रमुख आवश्यकता यौन तृप्ति है। इसके लिए स्त्री–पुरुष परस्पर निर्भर होते हैं। बाल्यावस्था में बच्चा अपने पालन–पोषण एवं शिक्षण के लिए परिवार के सदस्यों पर (विशेषकर माता–पिता पर) निर्भर होता है। माता–पिता के वृद्ध होने पर उन्हें सन्तान पर निर्भर होना पड़ता है। दुर्खीम के अनुसार आधुनिक समाजों में व्यक्ति श्रम–विभाजन के कारण एक–दूसरे पर आश्रित होते हैं।

6. समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है—पारस्परिक सम्बन्धों से ही समाज का जन्म होता है। इन सम्बन्धों की स्थापना के लिए पारस्परिक जागरूकता का होना आवश्यक है। सभी जीवधारियों में जागरूकता पाई जाती है, भले ही जागरूकता की मात्रा कम हो। इसलिए जीवधारियों, चाहे वे पशु हो या कीट–पतंगे हों, में समाज पाया जाता है। मधुमक्खियों, चींटियों तथा दीमकों में समाज पाया जाता है। उनमें श्रम–विभाजन भी पाया जाता है तथा सामाजिक व्यवस्था भी। हाथियों में सुनियोजित सामाजिक व्यवस्था पाई जाती है।

7. निरन्तर परिवर्तनशील—समाज एवं उसमें व्याप्त सम्बन्धों की व्यवस्था स्थिर न होकर परिवर्तनशील है। समाज में समयानुसार निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने सामाजिक सम्बन्धों की सदैव परिवर्तित होने वाली जटिल व्यवस्था को ही समाज कहा है। इनके शब्दों में, यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है जो सदैव परिवर्तित होता रहता है।

3.4 'समाज' एवं 'एक समाज'

सामान्य शब्दों में लोग 'समाज' तथा 'एक समाज' दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में करते हैं, किन्तु समाजशास्त्र में इन दोनों शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं हैं अपितु दोनों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। समाज तो सामाजिक सम्बन्धों का ताना–बाना या जाल है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त हैं अत: इन सम्बन्धों के जाल द्वारा निर्मित समाज भी अमूर्त है। 'समाज' शब्द का प्रयोग सामान्य अर्थ में किया जाता है, जबकि 'एक समाज' शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट समाज के लिए किया जाता है, जिसकी निश्चित भौगोलिक सीमाएँ हैं तथा जो अन्य समाजों से भिन्न है। उदाहरण के लिए—भारतीय समाज, अमेरिकी समाज, फ्रांसीसी समाज इत्यादि 'एक समाज' के ही उदाहरण हैं।

रयूटर तथा जिन्सबर्ग की एक समाज की परिभाषा से 'समाज' एवं 'एक समाज' में अन्तर और अधिक स्पष्ट हो जाता है। रयूटर (Reuter) के अनुसार 'एक समाज' पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों का स्थायी तथा निरन्तर चलने वाला समूह है जिसमें लोग स्वतन्त्र रूप से सांस्कृतिक स्तर पर अपनी प्रजाति को जीवित एवं स्थायी रखने में सामर्थ होते हैं। 'एक समाज' में मनुष्य अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है।

जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार 'एक समाज' व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों अथवा व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन व्यक्तियों से भिन्न है जो इन सम्बन्धों से नहीं बँधे हैं अथवा जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।

सभी 'एक समाज' एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रत्येक 'एक समाज' के अपने मूल्य, आदर्श तथा कार्यपद्धति होती है। 'एक समाज' का एक और आवश्यक तत्त्व है—निश्चित भू-भाग, जिसके कारण समानता की भावना का जन्म होता है। 'समाज' तथा 'एक समाज' में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं—

1. 'समाज' सामाजिक सम्बन्धों का जाल है जिसमें सामाजिक सम्बन्धों की सम्पूर्ण व्यवस्था पाई जाती है, जबकि 'एक समाज' व्यक्तियों का समूह है जिसमें सम्बन्ध विशेषीकृत होते हैं।

2. 'समाज' सम्बन्धों का जाल होने के कारण अमूर्त है, जबकि 'एक समाज' व्यक्तियों का समूह होने के नाते मूर्त है।

3.'समाज' शब्द का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र के लिए होता है तथा यह 'एक समाज' से जटिल होता है, जबकि 'एक समाज' का प्रयोग सीमित क्षेत्र के लिए होता है तथा यह अपेक्षाकृत सरल संगठन होता है।

4. 'समाज' के सदस्यों में व्यवहारों, मनोवृत्तियों और क्रियाओं का एक होना आवश्यक नहीं वरन् इनमें भिन्नता पाई जाती है। 'एक समाज' के सदस्यों में समानता का कुछ न कुछ सीमा तक होना आवश्यक है, अन्यथा 'एक समाज' का अस्तित्व ही नहीं होगा।

5. 'समाज' को भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत नहीं बाँधा जा सकता। इसके विपरीत 'एक समाज' को भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत बाँधा जा सकता है।

6. 'समाज' बहु-सांस्कृतिक होता है अर्थात् उसमें एक ही समय पर एक से अधिक संस्कृतियाँ विद्यमान होती हैं। इसके विपरीत 'एक समाज' में प्राय: एक ही संस्कृति विद्यमान होती है।

3.5 मानव एवं पशु समाज

मनुष्य समाज में रहते हैं। परन्तु यह तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु पशुओं में भी समाज पाया जाता है। अनगिनत अन्य जीव जैसे चीटिंयाँ, दीमक, मधुमक्खी, बन्दर, लंगूर आदि में भी समाज पाया जाता है। विकास के जीवशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार मानव का विकास निम्न जीवधारियों में क्रमिक परिवर्तन से हुआ है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मानव तथा पशु समाज एक ही हैं। मानव और पशु समाज में अत्यधिक अन्तर पाया जाता है। मानव समाज को पशु समाज से भिन्न करने वाला सबसे प्रमुख आधार संस्कृति है। संस्कृति मानव समाज को एक अनुपम समाज बना देती है, जबकि पशु समाज में संस्कृति नहीं पाई जाती।

प्रत्येक समाज को, चाहे वह मानव समाज है या पशु समाज, अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए कुछ अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है। आवश्यकता से तात्पर्य समाज के अस्तित्व की अनिवार्य दशाओं से है। समाज को, प्रत्येक वस्तु की भाँति, अपने अस्तित्व के लिए कुछ दशाओं की आवश्यकता होती है। इन आवश्यकताओं की रूपरेखा किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने निम्नलिखित प्रकार से दी है—

1. जनसंख्या का प्रतिपालन

(अ) पोषण का प्रबन्ध

(ब) क्षति के विरुद्ध संरक्षण तथा

(स) नए जीवों का पुनरुत्थान

2. जनसंख्या के बीच कार्य विभाजन

3.समूह का संगठन

(अ) सदस्यों के बीच सम्पर्क की प्रेरणा

(ब) पारस्परिक सहिष्णुता की प्रेरणा

4. सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता।

3.6 पशु समाज

समाज की अनिवार्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज द्वारा विभिन्न प्रकार के साधनों का प्रयोग करके की जा सकती है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामाजिक प्रतिमान (Social patterns) दो प्रकार से निर्धारित होते हैं—आनुवंशिकता द्वारा, तथा संस्कृति द्वारा। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनाए गए।

इन दोनों प्रतिमानों के आधार पर समाज का वर्गीकरण निम्नलिखित दो प्रमुख श्रेणियों में किया जा सकता है—

1. जैविक-सामाजिक व्यवस्था, तथा

2. सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था।

जैविक-सामाजिक व्यवस्था में समाज की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रतिमान आनुवंशिकता (पैतृकता) द्वारा निर्धारित होते हैं। इसे हम मानवविहीन समाज (Manless society) अथवा पशु समाज (Animal society) भी कह सकते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में प्रतिमानों का निर्धारण संस्कृति द्वारा होता है। इसे हम मानव समाज कह सकते हैं। अत: पशु समाज तथा मानव समाज को हम क्रमश: जैविक- सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था कह सकते हैं।

3.6.1 पशु समाज या जैविक-सामाजिक व्यवस्था

जैविक-सामाजिक व्यवस्था अर्थात् मानवविहीन समाज (पशु समाज) में प्रत्येक प्रकार की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति आनुवंशिकता (पैतृकता) के आधार पर होती है। मानवविहीन समाज में जैविक- सामाजिक व्यवस्था एक समान नहीं है, अपितु विभिन्न जीवों में इसमें आश्चर्यजनक भिन्नता देखी जा सकती है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने पशु समाज को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—

1. कीड़ों का समाज या कीट-पंतग समाज—कीड़ों के समाज का तात्पर्य चींटी, टिड्डा, पतंगा, दीमक इत्यादि से है। ये सभी जीवधारी वंशानुक्रमण पर आधारित होते हैं। ये प्राणी अपने व्यवहारों में कोई परिवर्तन नहीं कर पाते हैं। एकता की भावना खाद्यपूर्ति तक ही सीमित मानी जाती है। इनमें नर तथा मादा में तथा एक ही योनि के जीवों में शारीरिक भिन्नता स्तनपायी समाज की अपेक्षा अधिक होती है। उदाहरणार्थ—कारबरा चीटियों में रानी चींटी; श्रमिक चीटी की अपेक्षा हजार गुना बड़ी होती है। इनमें संरचनात्मक विशेषीकरण का भी अभाव पाया जाता है। परिवार की सदस्य संख्या हजारों में होती है, जीवन काल अल्पायु होता है, इसलिए समाज में स्थायित्व भी कम होता है। इनमें समझने की शक्ति का अभाव होता है।

2. स्तनधारी समाज–पशुओं में स्तनधारी पशुओं का अलग ही महत्त्व पाया जाता है। स्तनधारी पशु उन्हें कहा जाता है जो स्तनपायी अथात् स्तनपान से बड़े होते हैं। स्तनधारी पशुओं में नर व मादा में विशेष अन्तर नहीं होता

है; जैसे—कुत्ता-कुतिया, गाय-भैंस, बिल्ली-बिलाव तथा नर चिम्पैंजी तथा मादा चिम्पैंजी में अन्तर (शारीरिक बनावट की दृष्टि से) बहुत कम पाया जाता है। शारीरिक गठन में सादृश्यता होती है। स्तनधारी पशुओं की बनावट जटिल होती है। ये प्रजनन शक्ति से युक्त होते हैं। कीड़ों के समाज में सभी सदस्य प्रजनन शक्ति से युक्त नहीं होते हैं जो प्रजनन शक्ति से युक्त होते हैं। किन्तु पशुओं में ऐसे कुछ भी होते हैं जो प्रजनन शक्ति से युक्त नहीं होते हैं। स्तनधारी पशुओं का समाज छोटा होता है, क्योंकि वे एक बार में एक या कुछ ही बच्चों को जन्म दे सकते हैं। इसी कारण स्तनधारी समाज में स्थायित्व होता है। पशु सामाजिक सीख अनुभव के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं तथा वातावरण के साथ अपना अनुकूलन स्थापित कर सकते हैं। इनके यौन व्यवहार पर मौसम का प्रभाव पड़ता है। यह विशेषता कीड़ों के समाज में नहीं पाई जाती है।

3. नर-वानर समाज—नर-वानर समाज स्तनधारी समाज से उच्च स्तर की अवस्था है। डार्विन (Darvin) ने नर-वानरों में मनुष्य को सम्मिलित किया है। इस वर्ग में लंगूर, चिम्पैंजी, बन्दर, गोरिल्ला आदि को सम्मिलित किया जाता है। इनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) ये मानसिक व शारीरिक दृष्टि से विकसित होते हैं। प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुकूल भली-भाँति कर लेते हैं। मस्तिष्क विकासशील होने के कारण यौन व्यवहारों पर मौसम का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। इनके सदस्य आपस में किसी भी मौसम में यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं। ये दूसरों के अनुकरण से नहीं, वरन् प्रेरणाओं में प्रेरित होकर यौन व्यवहार करते हैं। प्राणियों का व्यवहार परिपक्व व व्यवस्थित होता है।

(ii) बाल्यकाल की अवधि लम्बी होने के कारण मादा पशु एवं बच्चे का सम्पर्क भी स्थायी होता है। प्रजनन कम होता है, जिसके फलस्वरूप परिवार का आकार छोटा होता है।

(iii) ये परस्पर संचार के लिए आवाज या बोली के माध्यम से, शारीरिक क्रियाओं के माध्यम से, चेहरे के भाव-प्रदर्शन के द्वारा अपनी बात व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। संचार की प्रक्रिया भाषा से अधिक विकसित रूप में है।

(iv) इस समाज के प्राणियों में प्रभुत्व की भावना अधिकतर पाई जाती है। जुकरमैन (Zukerman) के अनुसार प्रभुत्व की भावना नर-वानर समाज में पाई जाती है, किन्तु स्तनधारी समाज में इसका अभाव पाया जाता है। प्रत्येक नर-वानर अपने नेता के आदेशों का पालन करता है। आदेशों व आज्ञाओं के उल्लंघन करने पर समाज से निष्कासित कर दिया जाता है।

3.6.2 मानव समाज या सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था

डेविस (Davis) के अनुसार एक जैविक-व्यवस्था के रूप में मानव समाज में नर-वानर समाज की सामान्य विशेषताएँ पाई जाती हैं परन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था होने के कारण मानव समाज में परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन सांस्कृतिक स्तर पर होते हैं। वास्तव में, संस्कृति केवल मानव को ही नहीं, अपितु मानव समाज को भी एक अनुपम समाज बना देती है। मनुष्यों का सम्पूर्ण जीवन संस्कृति ही निर्धारित करती है। संस्कृति से ही मनुष्य विवाह तथा यौन सम्बन्ध में, कानून तथा गैर-कानून में, सत्ता तथा प्रभुसत्ता में अन्तर सीखता है। इसीलिए कुछ विद्वानों ने मानव समाज के अध्ययन को संस्कृति का ही अध्ययन बताया है। परन्तु समाजशास्त्री की संस्कृति में रुचि केवल उन्हीं तत्त्वों तक सीमित है जो सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, वह केवल वही पहलू चुनता है जो सामाजिक संगठन व सामाजिक व्यवहार से सम्बन्धित हो। एक समाजशास्त्री की सबसे ज्यादा रुचि संस्कृति

की उन प्रवृत्तियों से है जो सामाजिक अन्तर्क्रियाओं, लोकरीतियों, लोकाचारों, कानून, विश्वास तथा विचारों से सम्बन्ध रखती है और ऐसी संस्थाओं से है जो सामाजिक व्यवहार निर्धारित करती है।

3.6.3 मानव समाज की प्रमुख विशेषताएँ

मानव समाज की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

1. शारीरिक व मानसिक समानता—मानव समाज के सदस्यों में परस्पर अनेक असमानताएँ दिखाई दे सकती हैं। वे काले, गोरे, लम्बे, छोटे, मन्द बुद्धि अथवा तीव्र बुद्धि के हो सकते हैं। परन्तु उन सभी के शरीरों में और उनके अंगों की बनावट में एक विचित्र और अद्वितीय समानता पाई जाती है। इस प्रकार, सभी मनुष्यों में शारीरिक व मानसिक समानता का अद्‌भुत साम्य होता है।

2. मानव समाज के पास संस्कृति है—मानव समाज की सबसे बड़ी धरोहर उसकी संस्कृति है। यह संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है और मनुष्य उसकी निरन्तर रक्षा और संवर्धन करता रहता है जिससे आने वाली पीढ़ियाँ लगातार बहुत कुछ सीखती रहती हैं।

3. सांस्कृतिक आधार पर आवश्यकताओं की पूर्ति—मानव समाज की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं—जैसे सुरक्षा, सन्तानोत्पादन, पालन-पोषण व श्रम-विभाजन आदि। समाज के सदस्य इन आवश्यकताओं की पूर्ति सांस्कृतिक आधार पर करते हैं। पशु समाज में तो इन आवश्यकताओ की पूर्ति का आधार अक्सर जैविक एवं उनका बाहुबल होता है, परन्तु मानव समाज में परम्पराएँ, कानून और संस्कृति इस पूर्ति का आधार बनती है।

4. मानव समाज में भाषा व संकेत—मानव समाज की सबसे बड़ी उपलब्धि उसकी भाषा है। इसी के सहारे वह एक-दूसरे के साथ अपने विचारों और संदेशों का आदान-प्रदान आसानी से कर लेता है। कुछ ऐसे संकेत और चिह्न भी होते हैं जिनसे वह ऐसा कर सकता है।

5. सामाजिक मूल्यों की उपस्थिति—सामाजिक मूल्यों का अर्थ ऐसी धारणाएँ एवं विचार हैं जिनसे समाज का व्यवहार नियन्त्रित होता है। दूसरे शब्दों में, समाज के वे स्वीकृत व्यवहार जिन्हें सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है सामाजिक मूल्य कहलाते हैं। मानव समाज में सामाजिक मूल्य पाए जाते हैं। मानव व्यवहार में कुछ बातें कम मान्य और कुछ अधिक मान्य होती हैं परन्तु अधिकांश मानव व्यवहार सामाजिक मूल्यों द्वारा ही संचालित होता है।

6. धर्म एवं नैतिकता—प्रकृति में स्वत: घटित घटनाओं और परिवर्तनों ने मानव को किसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास करना भी सिखाया है। इन्हीं के आधार पर उसने धर्म का निर्माण किया है। इसी प्रकार, धीरे-धीरे कुछ ऐसे विचारों का भी निर्माण हुआ है जिन्हें नैतिकता या नैतिक संहिताओं की संज्ञा दी जाती है यथा प्रेम, दया, सहिष्णुता, त्याग, सहानुभूति आदि। दोनों को मानव समाज की विशेषताएँ माना जाता है।

7. आदर्शात्मक मापदण्ड–मानव समाज में आदर्शों के आधार पर उचित और अनुचित में भेद किया जाता है। आदर्श एक प्रकार के ऐसे मापदण्ड होते हैं जिनके अनुसार किसी के कार्यों का मूल्यांकन होता है।

8. यौन सम्बन्धों में स्थायित्व—पशु तथा अन्य समाजों की अपेक्षा मानव समाज में यौन सम्बन्धों में अधिक स्थिरता पाई जाती है। इसका कारण मानव समाज में विवाह की संस्था का प्रचलित होना है। विवाह की संस्था यौन सम्बन्धों को समाज की मान्यताओं के अनुकूल नियन्त्रित करती है।

9. मानव समाज में गतिशीलता—मानव समाज, पशु समाज की भाँति, स्थिर नहीं है। इसमें परिवर्तनशीलता पाई जाती है। यह समयानुकूल निरन्तर परिवर्तित होता रहता है।

10. मानव समाज में सहयोग एवं संघर्ष–मानव जीवन एक साथ सहयोग और संघर्ष की भावना से पूरित है। एक ओर, अपने दैनिक कार्यकलापों में मनुष्य अन्य मनुष्यों के साथ सहयोग की भावना से कार्य करता है तो दूसरी ओर, वह उन्हीं के साथ प्रतियोगिता की स्थिति का निर्वाह करते हुए अपने हितों की पूर्ति के लिए संघर्षरत भी रहता है। यह मानव समाज की एक विचित्र स्थिति है।

11. संस्थाओं एवं संगठनों की उपस्थिति—मानव जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव समाज में अनेक समितियाँ, संस्थाएँ व संगठन भी पाए जाते हैं। सदस्य इन संगठनों के नियमों के अनुसार आचरण करते हुए अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करते हैं। ये संगठन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक व अन्य प्रकार के हो सकते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव समाज की अपनी कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं। यही विशेषताएँ मानव समाज को अनुपम स्वरूप प्रदान करती हैं तथा इसे पशु समाज से भिन्न करती हैं।

3.6.4 पशुओं में समाज पाया जाता है पर संस्कृति नहीं

समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। यह अनगिनत अन्य जीवों (जैसे चींटियाँ, दीमक, मधुमक्खियाँ, बन्दर, लंगूर इत्यादि) में भी पाया जाता है। परन्तु मानव समाज एवं पशु समाज में समानता न होकर भिन्नता पाई जाती है। भिन्नता का प्रमुख कारण मानव समाज में संस्कृति का पाया जाना है। संस्कृति केवल मानव को ही नहीं, अपितु मानव समाज को भी एक अनुपम समाज बना देती है। पशुओं में संस्कृति नहीं पाई जाती अत: पशु समाज को संस्कृति-विहीन समाज कहा गया है। 'पशुओं में समाज पाया जाता है पर संस्कृति नहीं' यह कथन पूर्णत: तर्कसंगत है। मानव की तरह पशु भी समाज में रहते हैं परन्तु संस्कृति मानव समाज को पशु समाज से भिन्न करती है। इस कथन की पुष्टि हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

(अ) पशुओं में समाज पाया जाता है—मानव ही अकेला ऐसा प्राणी नहीं है जो समाज का निर्माण करता है। चींटियाँ, दीमक, चिड़ियाँ, बन्दर, लंगूर, मधुमक्खियाँ आदि भी समाज में रहते हैं। इनमें भी ऊँच-नीच की व्यवस्था, श्रम-विभाजन, सहयोग, अपनत्व की भावना, पारस्परिक संचार आदि पाया जाता है। स्तनधारी पशुओं में तो सामाजिक जीवन का स्पष्ट बोध होता है। प्रेम, घृणा, सहानुभूति, विरोध, मित्रता, शत्रुता, सुख-दु:ख व सामूहिक एकता आदि इनमें भी पाई जाती है। बिना पूँछ के बन्दर जैसे गोरिल्ला, चिम्पैंजी, ओरगंटन आदि स्तनधारी पशुओं में मानव सामाजिक जीवन के अनेक गुण पाए जाते हैं। परन्तु इनमें ये समस्त गुण आनुवंशिकता द्वारा आते हैं। पशु सभी प्रकार का सामाजिक व्यवहार वंश परम्परा द्वारा सीखते हैं।

पशुओं की मुख्य आवश्यकताओं (जैसे भूख, प्यास, यौन-सन्तुष्टि तथा जीवित रहने के लिए अन्य मूलभूत आवश्यकताएँ) की पूर्ति उनके द्वारा स्वाभाविक रूप से होती है। परन्तु वे यह सब अकेले नहीं कर सकते, बल्कि सामूहिक सम्बन्धों के द्वारा समूह बनाकर करते हैं। सामूहिक प्रयासों द्वारा वे प्राय: अपनी रक्षा और निवास बनाने जैसा कठिन कार्य भी करते हैं जैसे गुफाएँ, बिल, घोंसले आदि बनाना।

इस प्रकार, मानव समाज की भाँति पशुओं में भी समाज होता है। समाज के आवश्यक तत्त्व उनमें अधिकांश रूप से मिलते हैं। समान हित वाले पशु एक साथ रहते हैं, किन्तु इनमें सामाजिक सम्बन्ध बहुत सीमित होते हैं। उनका

सामाजिक ढाँचा अत्यधिक सरल होता है। पशुओं में समाज पाया जाता है, इस कथन की पुष्टि हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

1. कीट-पतंग समाज—चींटी, टिडडे, पतंगे, दीमक इत्यादि अनगिनत कीट-पतंग समाज में रहते हैं। इनमें सभी गुण एवं क्षमताएँ आनुवंशिकता के आधार पर होती हैं। इनमें अपने व्यवहार को परिवर्तित करने की क्षमता नहीं होती।

2. स्तनधारी समाज—स्तनपान से बड़े हुए जीवों को स्तनधारी जीव कहा जाता है। गाय, कुत्ता, बिल्ली जैसे अनेक स्तनधारी जीव समाज में रहते हैं। इनमें नर-मादा में शारीरिक अन्तर बहुत कम पाया जाता है। इनकी शारीरिक बनावट भी जटिल होती है।

3. **नर-वानर समाज**—अनेक उच्च स्तनधारी नर-वानर जैसे लंगूर, चिम्पैंजी, बन्दर, गोरिल्ला इत्यादि में भी समाज पाया जाता है। ये शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से काफी विकसित होते हैं।

(ब) पशुओं में संस्कृति नहीं पाई जाती—पशुओं में समाज पाया जाता है तथा उनमें सामूहिक व सामाजिक भावना तो होती है परन्तु उनमें संस्कृति का अभाव होता है। उनकी सामाजिक व्यवस्था जैविक-सामाजिक व्यवस्था (Bio-social system) होती है। समाज में रहते हुए भी उनमें गुण तथा कार्य करने की क्षमता आदि आनुवंशिकता (पैतृकता) द्वारा निर्धारित होते हैं। पशुओं में संचार और साधारण संकेतों का आदान-प्रदान होता है। परन्तु उनके पास भाषा का अभाव होने के कारण ज्ञान का भी अभाव होता है। भाषा के अभाव से वे परस्पर एक-दूसरे को कुछ सिखा नहीं सकते। अत: उन्हें कोई भी ज्ञान अपने पूर्वजों से विरासत में प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक पशु को प्रत्येक बात स्वयं प्रयास से सीखनी पड़ती है।

संस्कृति के अभाव में पशुओं का सम्पूर्ण व्यवहार आनुवंशिकता द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए—पक्षियों में एक-एक तिनका जोड़कर घोंसला (Nest) बनाने की प्रवृत्ति, तथा गाय, बैल, हाथी, शेर इत्यादि अनेक पशुओं में तैरने की क्षमता उन्हें जन्म से ही प्राप्त होती है। पक्षियों को घोंसला बनाना या पशुओं को तैरना सिखाया नहीं जाता है। पशुओं में सम्पूर्ण गुण उनकी मूलप्रवृत्तियों (Instincts) तथा प्रतिवर्त (Reflex) व्यवहार के परिणामरूवरूप होते हैं।

अत: यह कहना पूर्णत: ठीक है कि पशुओं में समाज तो पाया जाता है पर संस्कृति नहीं। मानव और पशु समाज में अन्तर इस बात की भी पुष्टि करता है कि मानव समाज में सभी गुण संस्कृति के कारण ही हैं।

3.7 मानव एवं पशु समाज में अन्तर

शरीर विज्ञान के अनुसार मानव और पशु की शारीरिक संरचना में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता है। यही कारण है कि औषधि निर्माण के पश्चात् प्रथमत: प्रयोग पशुओं पर ही किए जाते हैं तथा शिक्षा कार्यों हेतु भी प्रयोगशाला में पशु शरीरों की चीर-फाड़ होती है। दोनों की समानता के विषय में किंग्सले डेविस ने कहा है कि एक जैविक-सामाजिक व्यवस्था के रूप में मानव नर-वानरों की साधारण विशेषताओं को उसी तरह प्रदर्शित करता है जिस प्रकार नर-वानर समूह स्तनधारी समाज की सामान्य विशेषताओं को प्रकट करता है। पशुओं में भी मानवों की तरह काम प्रवृत्ति (Sex instinct), प्रजनन क्षमता तथा अन्य सामान्य मूलप्रवृत्तियाँ एक समान पाई

जाती हैं। दोनों में सुख-दु:ख, काम-क्रोध, आशा-निराशा, भूख-भय आदि मानसिक उद्वेग एक से ही होते हैं। इस तरह, जैविक रूप से दोनों समान हैं। परन्तु दोनों प्रकार के समाजों में अनेक मूलभूत अन्तर पाए जाते हैं। मानव तथा पशु समाज में पाए जाने वाले अन्तर को अग्र दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) जैविक या प्राणिशास्त्रीय अन्तर—प्राणिशास्त्रीय आधार पर मनुष्य व पशु के मध्य अधिक अन्तर नहीं है। डार्विन ने इस सन्दर्भ में कहा था कि मानव रूप पशु की विकसित अवस्था है। फिर भी दोनों में निम्नांकित दृष्टियों से अन्तर किया जा सकता है—

1.शारीरिक बनावट—मानव के अस्थि-पंजर में एकरूपता पाई जाती है। शरीर पर बाल छोटे-छोटे होते हैं जिससे स्वरक्षा के लिए कृत्रिम साधनों का सहारा लेना पड़ता है। पशुओं के बाल अधिक लम्बे होते हैं व प्राय: बाल कड़े होते हैं। उन्हें रक्षा के लिए कृत्रिम उपायों का सहारा नहीं लेना पड़ता है। मानव के दाँत छोटे, व्यवस्थित व अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली होते हैं, पशुओं के दाँत तीखे एवं अधिक शक्तिशाली होते हैं। पशु अपने दाँतों से भी अपनी रक्षा करते हैं।

2.सीधे खड़े होने की क्षमता—मानव में सीधे खड़े होने की क्षमता होती है। परन्तु पशुओं में इसका पूर्ण अभाव पाया जाता है। मनुष्य अपने दोनों हाथों से कार्य कर सकता है। इसके विपरीत, पशु दोनों हाथ व पैरों के बल चलता है। पशु सीधे खड़े नहीं हो सकते। इसलिए पशु मानव से एकदम भिन्न होते हैं। मानव के हाथों में लचीलापन अधिक पाया जाता है।

3. बोलने की क्षमता—मानव विकसित भाषा द्वारा अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है। किन्तु पशुओं में इसका अभाव पाया जाता है। वे अपनी भावनाओं को दूसरों तक संचारित नहीं कर सकते हैं। विकसित मस्तिष्क के अभाव में पशुओं के पास बुद्धि का भी प्राय: अभाव पाया जाता है। बुद्धि विकसित न होने के कारण पशु भाषा का आदान-प्रदान नहीं कर सकते हैं।

4. मानव के पास विकसित मस्तिष्क का होना—मानव के पास अत्यन्त विकसित मस्तिष्क है जो उसे पशुओं से सर्वाधिक पृथक् करता है। इसकी सहायता से मानव ने इस पृथ्वी पर बड़े-बड़े कार्य और अनुसन्धान किए हैं। ऐसा विकसित और जटिल मस्तिष्क पशुओं में उपलब्ध नहीं है।

5. घूम सकने वाले हाथ—मानव की एक अन्य विशेषता उसके चारों ओर घुमाये जा सकने वाले स्वतन्त्र हाथ, अंगुलियाँ तथा अँगूठा है। इनकी सहायता से वह किसी भी कार्य का सम्पादन आसानी से कर सकता है। पशुओं में इस सुविधा का अभाव होता है।

(ब) सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर—समाजशास्त्र के छात्र होने के नाते हमारी मानव तथा पशु समाज के अध्ययन में रुचि, इन दोनों में पाए जाने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तरों के कारण है। इनमें पाए जाने वाले प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक अन्तर निम्नलिखित हैं—

1. नियमित यौन व्यवहार—मानव समाज में नियमित यौन व्यवहार पाया जाता है। इसका नियमन, प्रथाओं, परम्पराओं, कानून आदि के द्वारा होता है। यौन व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए मानव समाज में विवाह की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। मानव समाज में यौन क्रियाओं के लिए निश्चित समय या ऋतु नहीं होती। पशु समाज में इन विशेषताओं का पूर्ण अभाव पाया जाता है। उनमें यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कोई निश्चित नियम नहीं

होते। पशु अपनी जाति (Species) के अन्य पशुओं से प्रभुता के आधार पर यौन सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। पशुओं में यौन उत्तेजना की एक निश्चित ऋतु होती है।

2. सांस्कृतिक विरासत—संस्कृति का अर्थ होता है भाषा, प्रथा, ज्ञान, परम्पराएँ, धर्म, कानून आदि। संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। मानव समाज में संस्कृति पाई जाती है। यह संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। इसी कारण संस्कृति सदैव जीवित रहती है। परन्तु पशु समाज में संस्कृति नहीं पाई जाती है।

3. जागरूकता—मानव जीवन का एक निश्चित लक्ष्य होता है। उसे ज्ञात होता है कि उसे क्या करना है, उसके कर्त्तव्य क्या हैं, उसे कब किस प्रकार के अधिकार का प्रयोग करना है? पशुओं में कर्त्तव्यों व अधिकारों का कोई महत्त्व नहीं होता। मानव के विपरीत पशु न तो भविष्य की चिन्ता करते हैं और न वर्तमान के बारे में सोचते हैं।

4.श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण—मानव की आवश्यकताओं की कोई सीमा नहीं है तथा वह इन आवश्यकताओं को अकेले पूरा नहीं कर सकता। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण का होना आवश्यक है। पशु समाज में आवश्यकताएँ कम होती हैं तथा ज्ञान का अभाव होता है। अत: उनमें न तो विकसित श्रम-विभाजन होता है और न ही विशेषीकरण।

5. जीवन में जटिलता तथा परिवर्तनशीलता—प्रत्येक मानव एक ही समय में अनेक प्रकार के सम्बन्धों द्वारा अन्य व्यक्तियों से बँधा हुआ होता है। ये सम्बन्ध पारिवारिक, आर्थिक या व्यावसायिक हो सकते हैं। परन्तु पशु समाज में समान सम्बन्ध होते हैं। उनमें जटिलता और परिवर्तनशीलता का अभाव पाया जाता है। किसी भी पशु की भोज्य आदत में परिवर्तन नहीं होता है।

6. सामूहिक निर्णय—मानव समाज में संगठन हेतु एवं सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता के लिए सामूहिक निर्णय पाया जाता है। सामूहिक निर्णय के लिए विचारों का आदान-प्रदान किया जाता है। इसमें सदस्यों के मध्य अन्तर्क्रिया एवं अन्तर्निर्भरता बढ़ती है। पशु समाज में संघर्ष के समय कुछ सीमा तक सामूहिक निर्णय होता है। परन्तु वे सर्वदा ही सामूहिक निर्णय लें, ऐसा कभी नहीं होता।

7. स्मरण शक्ति—मनुष्य के पास स्मरण शक्ति है। इससे वह अपनी त्रुटियों को सुधार सकता है। परन्तु अधिकांश पशुओं में स्मरण शक्ति का अभाव होता है जिस कारण वे अपनी गलती नहीं सुधार सकते हैं।

8. मानव का विविधतापूर्ण सामाजिक जीवन—मानव का जीवन विविधताओं से इस प्रकार परिपूर्ण है जो पशुओं में देखने को नहीं मिल सकता। इन विविधताओं का आधार जाति, रंग व उसके पृथक् रीति-रिवाज हैं। संसार के प्रत्येक भाग में एक ही तरह के मानव पाए जाने पर भी उनका रहन-सहन, आचार-विचार, प्रथाएँ और संस्कृति विभिन्नता लिए हुए हैं। किन्तु पशुओं के समूह विश्व के सभी भागों में एक ही प्रकार का आचरण करते हैं।

9. आदर्शात्मक नियन्त्रण—मानव अपने जीवन में उचित व अनुचित में भेद करने के लिए कुछ आदर्शों को अपने सामने रखता है। इन्हीं के अनुसार वह अपने जीवन की गतिविधियों पर नियन्त्रण रखता है। यह आदर्शात्मक

नियन्त्रण उसे अपनी सांस्कृतिक विरासत के रूप में प्राप्त होता है। पशुओं में ऐसी कोई आदर्शात्मक नियन्त्रण की व्यवस्था नहीं होती।

10. मानव समाज में पारस्परिक चेतना—मानव समाज में मानव की मानव के प्रति पारस्परिक चेतना पाई जाती है। इससे वह अपने बारे में ही न सोच कर अपने परिवार, जाति, जनजाति, प्रजाति, प्रदेश तथा देश के बारे में भी चेतना रखता है। ऐसी विशिष्ट चेतना पशु समाज में नहीं पाई जाती है।

उपर्युक्त विवेचना से पशु और मानव समाज में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। किन्तु कितना भी और कैसा भी अन्तर दोनों समाजों में क्यों न हो, यह बात नितान्त सत्य है कि दोनों समाजों में चार बातें अवश्य समान होती हैं। ये हैं—भूख, निद्रा, भय और मैथुन। पशु समाज इनकी पूर्ति के लिए आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त उपायों का सहारा लेता है, जबकि मानव अपनी संस्कृति द्वारा निर्धारित उपायों द्वारा ही इनकी पूर्ति के लिए अग्रसर होता है।

3.7 शब्दावली

समाज — सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने को समाज कहते हैं। यह एक अमूर्त धारणा है, जोकि एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराती है।

श्रम-विभाजन — श्रम-विभाजन से अभिप्राय कार्यों (भूमिकाओं) का वितरण है। भूमिकाओं में विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण नहीं है अपितु इन भूमिकाओं में समन्वय भी है।

3.8 अभ्यास प्रश्न

1. समाज किसे कहते हैं? समाज के अनिवार्य तत्त्वों की विवेचना कीजिए।
2. समाज को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. समाज क्या है? 'समाज' एवं 'एक समाज' में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. मानव तथा पशु समाज में अन्तर बताइए।

इकाई –4

सामाजिक समूह

Social Group

इकाई की रूपरेखा

4.0 उददेश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 सामाजिक समूह

4.3 समूह की अर्थ एवं परिभाषा

4.4 सामाजिक समूह की विषेषता

4.5 सामाजिक समूह का वर्गीकरण

4.6 प्राथमिक समूह की अवधारणा

4.7 द्वितीयक समूह की आवधारणा

4.8 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की तुलना

4.9 शब्दावली

4.10 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उददेश्य

इसके इकाई के मुख्य उददेष्य सामाजिक समूह, सामाजिक समूह की प्रमुख विषेषतायें तथा समूह के विभिन्न प्रकार और सामाजिक समूह के महत्व का ज्ञान प्राप्त करना है।

4.1 प्रस्तावना

मनुष्य की जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समूह में रहना आवश्यक है, क्योंकि इनकी पूर्ति मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। इसी कारण मनुष्य अनेक समूहों का सदस्य है। उदाहरण के लिए—हम सभी अपने परिवार, क्रीड़ा समूह, मित्र-मण्डली, जाति तथा राष्ट्र के सदस्य हैं। इस सन्दर्भ में एडवर्ड सेपियर (Edward Sapir) का कथन है कि समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि कोई न कोई स्वार्थ उस समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रहता है। विभिन्न प्रकार के समूहों से ही समाज का निर्माण होता है। समिति से अभिप्राय किसी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु बनाए गए ऐसे संगठन से है जिसके सदस्य सामूहिक रूप से पारस्परिक सहयोग द्वारा लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। समुदाय, समूह एवं समिति की प्रकृति मूर्त होती है। संस्था नियमों की व्यवस्था अथवा व्यवहार से सम्बन्धित कार्यप्रणाली के कारण अमूर्त होती है। एक समाज में अनेक समुदाय पाए जाते हैं, समुदाय में अनेक समूह एवं समितियाँ पाई जाती हैं जो समाज द्वारा मान्य तरीकों (जिन्हें हम संस्था कहते हैं) द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करते हैं अथवा जिनके सदस्यों का व्यवहार इन्हीं स्वीकृत तरीकों द्वारा नियन्त्रित होता है।

4.2 सामाजिक समूह

हम सब समूहों में रहते हैं। परिवार, पड़ोस, क्रीड़ा समूह इत्यादि समूहों के ही उदाहरण हैं। इनका मानव व्यवहार को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। समाजशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन है। सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता यह है कि मनुष्य परस्पर अन्तर्क्रिया करते हैं, संवाद करते हैं तथा सामाजिक सामूहिकता को निर्मित भी करते हैं। प्रत्येक समाज, चाहे उसका स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, में मानवीय समूह और सामूहिकताएँ विद्यमान रहती हैं। इन समूहों एवं सामूहिकता के प्रकार अलग-अलग होते हैं।

सामाजिक समूहों का समाजशास्त्रीय अध्ययन 20वीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हुआ। इससे पहले अधिकांश विद्वान् समाज के उद्‌भव एवं विकास को समझने में ही लगे हुए थे। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक समूहों के सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्धों में तीव्र गति से परिवर्तन हुए जिसे समझने के प्रयास किए जाने लगे। टॉनीज, दुर्खीम, मार्क्स इत्यादि विद्वानों ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। अधिकांश समूहों की एक निश्चित संरचना होती है। परिवर्तन की प्रक्रियाएँ समूहों की संरचना को भी प्रभावित करती हैं। प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक समूह की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

4.3 सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषाएँ

सामान्य अर्थों में समूह का अर्थ व्यक्तियों के संग्रह या समुच्चय से लगा लिया जाता है। संग्रह या समुच्चय केवल लोगों का जमावाड़ा होता है जो एक समय में एक ही स्थान पर होते हैं लेकिन एक-दूसरे से कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं रखते। उदाहरणार्थ—हम खेल के मैदान, जलसे, बाजार, सिनेमा घर, रेलवे स्टेशन, हवाई अड्डे अथवा बस स्टॉप पर व्यक्तियों की भीड़ को देखते हैं, लेकिन उन्हें समूह की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में सामाजिक सम्बन्धों व चेतना का अभाव होता है। पारस्परिक चेतना व सामाजिक सम्बन्ध अन्योन्याश्रित हैं। चेतना के अभाव में परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं होते। इन्हें अर्द्ध-समूह तो कहा जा सकता है, परन्तु सामाजिक समूह नहीं। अर्द्ध-समूहों में संरचना अथवा संगठन की कमी होती है तथा सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ होते हैं। सामाजिक वर्गों, प्रस्थिति समूहों, आयु एवं लिंग समूहों, भीड़ इत्यादि को अर्द्ध-समूह के उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है।

समूह के निर्माण हेतु अन्तर्क्रिया (Interaction) तथा संचार (Communication) का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए—बाजार में सामान्य दृष्टिकोण के व्यक्तियों के संग्रह को समूह नहीं कहा जा सकता है। किन्तु यदि किसी कारण से (चाहे पॉकेटमार के पकड़ने से या अन्य किसी कारण से) ये संगृहीत लोग आपस में अन्तर्क्रिया करते हैं तो उनमें सामाजिक सम्बन्धों का जन्म होता है। तब उस समय वह संग्रह समूह में परिवर्तित हो जाएगा चाहे उसकी प्रकृति अस्थायी ही क्यों न हो। इसी भाँति, महिला आन्दोलन ने महिलाओं को एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित कर इन्हें सामाजिक समूह के रूप में परिवर्तित किया है। इन आन्दोलनों ने महिलाओं को अपनी पहचान एक सामूहिकता और समूह के रूप में विकसित करने में सहायता दी है। एक सामाजिक वर्ग, जाति अथवा समुदाय से सम्बन्धित व्यक्ति एक सामूहिक निकाय के रूप में संगठित होकर जब दीर्घकालीन अन्तर्क्रियाएँ करने लगते हैं तथा उनमें अपनत्व की भावना विकसित होने लगती है, तो वे समूह का रूप धारण कर लेते हैं।

इसी भाँति, आयु के आधार पर निर्मित समूह को सामाजिक समूह नहीं कहा जाता है। यह भी अर्द्ध-समूह का उदाहरण है। कई बार ऐसा भी होता है कि किसी माँग को लेकर किशोर आयु समूह संगठित हो जाए। यदि शिक्षा संस्थाओं में किसी माँग को लेकर अथवा समाज में किसी महत्त्वपूर्ण भूमिका को लेकर इस प्रकार का समूह अपने सदस्यों में आपसी पहचान एवं अपनत्व की भावना का विकास कर लेता है, सदस्यों में दीर्घ एवं स्थायी अन्तर्क्रिया प्रारम्भ हो जाती है तथा उनमें अन्तर्क्रिया के प्रतिमान स्थिर होने लगते हैं तो आयु के आधार पर बना किशोर समूह एक सामाजिक समूह का रूप धारण कर लेता है।

एक सामाजिक समूह में कम-से-कम निम्न लक्षण होना अनिवार्य है—

1. निरन्तरता के लिए दीर्घ एवं स्थायी अन्तर्क्रिया,
2. इन अन्तर्क्रियाओं का स्थिर प्रतिमान,
3. समूह एवं उसके नियमों, अनुष्ठानों एवं प्रतीकों के प्रति जागरूकता,
4. सामान्य रुचि,
5. सामान्य आदर्शों एवं मूल्यों को अपनाना, तथा
6. एक निश्चित संगठन या संरचना का होना।

बॉटोमोर (Bottomore) के अनुसार, ''सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं जिसमें विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित सम्बन्ध होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति समूह के प्रति और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में, एक सामाजिक समूह में कम से कम अल्पविकसित संरचना और संगठन (नियमों और संस्कारों सहित) तथा उसके सदस्यों में चेतना का एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है।''मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार, ''समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।'' बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, ''एक सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके ध्यान के कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं, जो एक-दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और जो समान क्रियाओं में भाग लेते हैं।'' ऑगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, ''जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।'' इसी भाँति, गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, ''सामाजिक समूहों के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति होती है, जिसमें सम्बन्धित व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अन्त: उत्तेजना और अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर सम्भव हो सके एवं जिसमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान टिका रहे और सामान्य चालकों, प्रेरकों व संवेगों का विकास हो सके।''

सामाजिक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अन्तर्क्रिया एवं सामाजिक सम्बन्धों को होना अनिवार्य है। वस्तुत: समूह के चार तत्त्व होते हैं—प्रथम, दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, द्वितीय, उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्धों एवं अन्तर्क्रियाओं का होना, तृतीय, उनकी अन्तर्क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना तथा चतुर्थ, एक निश्चित संगठन या संरचना का होना। उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का होना अत्यावश्यक है। अत: कहा जा

सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर सम्बन्धों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों का समुच्चय है जो आपस में किसी न किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक-दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

4.4 सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. समूह व्यक्तियों का संग्रह है—समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परन्तु उनके मध्य अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। इसी अन्तर्क्रिया से सामाजिक सम्बन्धों का जन्म होता है।

2. समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है—प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। फिचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है। उस संरचना में व्यक्तियों की प्रस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित भूमिका निभानी पड़ती है।

3**. समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है**—समूह में संगठन बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है। उदाहरण के लिए—शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग-अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारित कार्यों को निष्पादित करते हैं।

4. समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है—मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता है, क्योंकि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। सभी सदस्यों के स्वार्थ समान होते हैं। अतएव उनकी भावनाएँ भी एक-सी होती हैं। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में न सम्बन्धों में दृढ़ता रहेगी और न समूह में संगठन ही होगा।

5. समूह विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है—परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अत: मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक समूहों के सम्पर्क में आता है।

6. समूह की अपनी सत्ता होती है—समूह का आधार सामूहिक व्यवहार है। सामूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व सम्भव नहीं है। व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अत: वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ ही साथ, इससे समूह को स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

7. सामाजिक मानदण्ड समूह में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं—समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदण्डों या आदर्श-नियमों की स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। इन्हीं मानदण्डों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदण्ड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हो।

8. समूह एक मूर्त संगठन है—सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

4.5 सामाजिक समूहों का वर्गीकरण

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों का वर्गीकरण भिन्न आधारों को सामने रखकर किया है। प्रमुख समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण निम्नवर्णित प्रकार से किया है—

1. मैकाइवर एवं पेज का वर्गीकरण—मैकाइवर एवं पेज ने समस्त सामाजिक समूहों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। ये तीन वर्ग निम्नांकित हैं—

(i) क्षेत्रीय समूह—ये समूह वे हैं जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं। उदाहरणार्थ—राष्ट्र, पड़ोस, गाँव, नगर, देश, जनजाति आदि क्षेत्रीय समूह हैं।

(ii) हितों के प्रति चेतन समूह जिसका निश्चित संगठन नहीं होता है—ये समूह अपने हितों के बारे में सचेत तो अवश्य हैं, लेकिन इनमें निश्चित संगठन की कमी होती है। इस प्रकार के समूह के सदस्यों में समान प्रवृत्ति पाई जाती है। एक समूह से दूसरे समूह में जाने की इच्छा व पद-प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति भी इनमें पाई जाती है। इसका उदाहरण वर्ग, जाति, शरणार्थी समूह, समान तथा असमान रुचि वाली भीड़ है।

(iii) हितों के प्रति चेतन समूह जिसका निश्चित संगठन होता है—ये समूह अपने हितों के सम्बन्ध में सचेत होते हैं तथा संगठित भी होते हैं। इन समूहों की सदस्य संख्या सीमित होती है पर इनके उत्तरदायित्व असीमित होते हैं; उदाहरणार्थ—परिवार, पड़ोस, क्लब आदि। इस श्रेणी में कुछ समूह इस प्रकार के भी आते हैं जिनकी सदस्य संख्या तो अत्यधिक होती है परन्तु संगठन में औपचारिकता होती है; उदाहरणार्थ—राज्य, चर्च, श्रमिक संघ आदि।

2. समनर का वर्गीकरण—समनर ने समूह के सदस्यों में घनिष्ठता व सामाजिक दूरी के आधार पर समस्त समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है—

(i) अन्तःसमूह—जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है उन्हें उसका अन्तःसमूह कहा जाता है। अन्तःसमूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है। वे अन्तःसमूह के सुख को अपना सुख तथा दुःख को अपना दुःख मानते हैं। समूह का अस्तित्व सदस्य स्वयं का अस्तित्व मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के समूह में 'हम की भावना' (We feeling) पाई जाती है। प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे से भावात्मक सम्बन्धों द्वारा बँधा होता है। प्रेम, स्नेह, त्याग और सहानुभूति का भाव स्पष्ट रूप से सदस्यों के मध्य दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश व्यक्तियों के लिए परिवार अन्तःसमूह का एक चिरपरिचित उदाहरण है। अपना गाँव, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि अन्तःसमूह के अन्य उदाहरण हैं। प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र उसका अन्तःसमूह है। वह अपने देश की प्रशंसा उसकी प्रगति से प्रारम्भ करता है। इसके विपरीत देश की अवनति या बुराई से उसे दुःख होता है। ठीक इसी प्रकार पड़ोस या जिस शिक्षण संस्था का वह सदस्य है, वह व्यक्ति का अन्तःसमूह होता है। वह उस समूह (अन्तःसमूह) से विशेष लगाव व स्नेह रखता है। वह ठीक वैसे ही कार्य करता है, जैसे कि समूह की इच्छा होती है। अतः अन्तःसमूह, सदस्यों की दृष्टि में उनका अपना समूह होता है। उसके साथ सदस्य अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। एक समूह के सदस्यों के लिए जो अन्तःसमूह होता है, दूसरे

समूह के सदस्यों के लिए वही बाह्यसमूह होता है। अन्त:समूह प्राथमिक भी हो सकते हैं, द्वितीयक भी, वे स्थायी भी हो सकते हैं तथा अस्थायी भी।

(ii) बाह्यसमूह—कोई व्यक्ति बाह्यसमूह का उल्लेख अपने अन्त:समूह के सन्दर्भ में करता है। बाह्यसमूहों के लिए वह 'वे' या 'अन्य' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। बाह्यसमूह में जो गुण पाए जाते हैं वे अन्त:समूह से विपरीत होते हैं। इसमें इस तरह की भावना होती है व्यक्ति इसे दूसरों का समूह समझता है। इसी कारण बाह्यसमूह के प्रति सहयोग, सहानुभूति, स्नेह आदि का सर्वथा अभाव होता है। उसके स्थान पर बाह्यसमूह के प्रति दूरी या अलगाव, खिन्नता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा, पक्षपातपूर्ण भावना रहती है। यह भावना यदा-कदा शत्रुता या बैर के रूप में भी हो सकती है। उदाहरण के लिए—हम इस पड़ोस के सदस्य हैं लेकिन, 'वो' पड़ोस बहुत भ्रष्ट और गन्दा है। वहाँ के रहने वाले जानवर से भी गए-गुजरे हैं। इसमें 'वो' समूह एक बाह्यसमूह है। शत्रु सेना, विदेशी समूह, प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समूह आदि बाह्यसमूह के ही प्रमुख उदाहरण हैं।

अन्त:समूह एवं बाह्यसमूह में निम्नलिखित अन्तर पाए जाते हैं—

1. अन्त:समूह को व्यक्ति अपना समूह मानता है अर्थात् इसके सदस्यों में अपनत्व की भावना पाई जाती है, जबकि बाह्यसमूह को व्यक्ति पराया समूह मानता है अर्थात् इसके सदस्यों के प्रति अपनत्व की भावना का अभाव पाया जाता है।

2. अन्त:समूह के सदस्यों में 'हम की भावना' पाई जाती है, जबकि उनमें बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति विरोधपूर्ण भावनाएँ पाई जाती हैं।

3. अन्त:समूह के सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं, जबकि बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति घनिष्ठता नहीं पाई जाती है।

4. अन्त:समूह के सदस्य अपने समूह के दु:खों एवं सुखों को अपना दु:ख एवं सुख मानते हैं, जबकि बाह्यसमूह के प्रति इस प्रकार की भावना का अभाव होता है।

5. अन्त:समूह के सदस्य प्रेम, स्नेह, त्याग व सहानुभूति के भावों से जुड़े होते हैं, जबकि बाह्यसमूह के प्रति द्वेष, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एवं पक्षपात के भाव पाए जाते हैं।

6. अन्त:समूह के सदस्यों में अपने समूह के कल्याण के सामने व्यक्तिगत हितों की शिथिलता पाई जाती है, जबकि बाह्यसमूह के सदस्यों के प्रति सन्देह, घृणा एवं भेदभाव पाया जाता है।

7. अन्त:समूह का आकार तुलनात्मक रूप में छोटा होता है, जबकि बाह्यसमूह का आकार तुलनात्मक रूप से बड़ा होता है।

8. अन्त:समूह का लक्षण 'सामान्य हित' है, जबकि बाह्यसमूह का 'हितों में संघर्ष' है।

3. कूले का वर्गीकरण—चार्ल्स कूले ने प्राथमिक (Primary) एवं द्वितीयक (Secondary) समूह में भेद किया है। इनके अनुसार, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने-सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते हैं और वह भी मुख्यत: इस अर्थ में कि वे व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव तथा आदर्शों के निर्माण में मूलभूत होते हैं।''

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं—प्रथम, परिवार (Family), द्वितीय, क्रीड़ा समूह (Play group) तथा तृतीय, पड़ोस (Neighbourhood) उन्होंने समूह का जो दूसरा विभाजन किया

उसे द्वितीयक समूह कहते हैं। कूले के अनुसार द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णत: अभाव पाया जाता है। इनमें सामान्यत: उन विशेषताओं का अभाव होता है जोकि अधिकांशत: प्राथमिक समूह में पाई जाती हैं। उदाहरण के लिए—कॉरपोरेशन, श्रोतागण, क्लब, राष्ट्र, चर्च, व्यावसायिक संघ इत्यादि प्रमुख द्वितीयक समूह हैं।

4. मिलर का वर्गीकरण—हरबर्ट मिलर ने समूह के मध्य स्थित सामाजिक दूरी के आधार पर सामाजिक समूहों को दो श्रेणियों में बाँटा है—उदग्र समूह (Vertical group) तथा क्षैतिज समूह (Horizontal group) उदग्र समूह वे समूह हैं जो विभिन्न खण्डों में स्तरीकृत होते हैं तथा उनमें सामाजिक दूरी का बोध होता है। जब समूह के खण्डों में ऊँच-नीच या संस्तरण पाया जाए तो उसे उदग्र समूह कहते हैं। उदाहरण के लिए—वर्ण तथा जाति उदग्र समूह हैं। क्षैतिज समूह में सामाजिक समानता का पता चलता है। इन समूहों को क्षैतिज समूह इस कारण कहा जाता है कि इनके सदस्यों की स्थिति समान होती है; उदाहरण के लिए—कवि वर्ग, नेता वर्ग, श्रमिक वर्ग, अध्यापक वर्ग, छात्र वर्ग आदि। एक समूह विशेष के सदस्यों को उस समूह विशेष में समान स्थान प्राप्त है।

5. गिलिन एवं गिलिन का वर्गीकरण—गिलिन एवं गिलिन ने समूहों के सभी सम्बन्धित आधारों को सामने रखकर समूहों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है—

(i) रक्त सम्बन्धी समूह (जैसे—परिवार, जाति आदि),

(ii) शारीरिक विशेषताओं पर आधारित समूह (जैसे—समान लिंग, आयु अथवा प्रजाति पर आधारित समूह),

(iii) क्षेत्रीय समूह (जैसे—जनजाति, राज्य, राष्ट्र इत्यादि),

(iv) अस्थिर समूह (जैसे—भीड़, श्रोता समूह इत्यादि),

(v) स्थायी समूह (जैसे—खानाबदोशी जत्थे, ग्रामीण पड़ोस, कस्बे, शहर तथा विशाल नगर इत्यादि) तथा

(vi) सांस्कृतिक समूह (जैसे—आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोरंजनात्मक तथा शैक्षिक समूह)।

6. सामाजिक समूहों के अन्य वर्गीकरण—सामाजिक समूहों के अनेक अन्य वर्गीकरण भी किए गए हैं। उदाहरणार्थ, एलवुड (Ellwood) ने समूहों को ऐच्छिक व अनैच्छिक समूह, संस्थागत व असंस्थागत समूह तथा अस्थायी व स्थायी समूहों में विभाजित किया है। गिडिंग्स (Giddings) ने समूहों को जननिक (Genetic) समूह एवं इकट्ठे (Congregate) समूह का उल्लेख किया है। जननिक समूह परिवार है जिसमें मनुष्य का जन्म होता है। इकट्ठठा समूह ऐसा ऐच्छिक समूह है जिसमें मनुष्य स्वेच्छा से सम्मिलित होता है। वार्ड (Ward) ने दो प्रकार के समूह बताए हैं—ऐच्छिक समूह तथा अनिवार्य समूह। सोरोकिन (Sorokin) ने एकल-प्रबन्धन समूह/एकल-कार्यात्मक समूह तथा बहु-बन्धन समूह/बहु-कार्यात्मक समूह का उल्लेख किया है। नूनेज (Nunez) ने चार प्रकार के समूह बताए हैं—संरचित समूह, संरचित अर्द्ध-समूह, आकस्मिक अर्द्ध-समूह तथा कृत्रिम समूह। मर्टन (Merton) ने समूहों को सदस्यता समूह तथा गैर-सदस्यता समूहों में विभाजित किया है। उन्होंने सन्दर्भ समूह की अवधारणा भी विकसित की है। सन्दर्भ समूह से अभिप्राय उस समूह से है जिसको व्यक्ति अपना आदर्श स्वीकार करते हैं जिसके सदस्यों के अनुरूप बनना चाहते हैं तथा जिसकी जीवन-शैली का अनुकरण करते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम सन्दर्भ समूहों के सदस्य नहीं होते हैं। हम सन्दर्भ समूहों से अपने आप को अभिनिर्धारित अवश्य करते हैं।

लियोपोल्ड (Leopold) ने समूहों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—भीड़, समूह तथा अमूर्त संग्रह। पार्क एवं बर्गेस (Park and Burgess) ने समूहों को प्रादेशिक एवं गैर-प्रादेशिक समूहों में विभाजित किया है। जॉर्ज हासन (George Hasen) ने समूहों को असामाजिक, आभासी सामाजिक, समाज-विरोधी तथा समाज-पक्षी समूहों में विभाजित किया है। बीरस्टीड (Bierstedt) ने समूहों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है—सांख्यिकीय समूह, समाजीय समूह, सामाजिक समूह तथा सहचारी समूह। उन्होंने अनेक अन्य समूहों का भी उल्लेख किया है जिनमें वृहत् समूह एवं लघु समूह, बहुसंख्यक समूह एवं अल्पसंख्यक समूह, दीर्घकालीन समूह एवं अल्पकालीन समूह, खुला समूह एवं बन्द समूह, स्वतन्त्र समूह एवं आश्रित समूह, संगठित समूह एवं असंगठित समूह इत्यादि प्रमुख हैं।

4.6 प्राथमिक समूह की अवधारणा

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण में सर्वाधिक मान्यता कूले के वर्गीकरण को दी जाती है। उन्होंने 1909 ई० में अपनी कृति 'सामाजिक संगठन' (Social Organization) में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग किया। उन्होंने अपनी दूसरी कृति 'प्रारम्भिक समाजशास्त्र' (Introductory Sociology) में द्वितीयक समूह का उल्लेख किया है। कूले की प्राथमिक समूह की अवधारणा; टॉनीज द्वारा प्रतिपादित गेमाइनशाफ्ट (Gemeinschaft) तथा गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft) की अवधारणा के बहुत निकट है।

मानव के जीवन में स्नेह, प्रेम, सहानुभूति आदि भाव महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन भावों के विकास में प्राथमिक समूह की मुख्य भूमिका है। ऐसे गुणों के कारण समाज के संगठन को स्थायित्व प्राप्त होता है। मानव जब जन्म लेता है तो उसका रूप पूर्णत: जैविक होता है। सर्वप्रथम वह परिवार के सम्पर्क में आता है तथा परिवार उसे सामाजिक प्राणी बनाता है। चूँकि परिवार मनुष्य के जीवन में प्रथम या प्राथमिक है, इसलिए इसे प्राथमिक समूह कहा जाता है। प्राथमिक समूह से अभिप्राय उन समूहों से है जिनमें प्रत्यक्ष, अनौपचारिक, घनिष्ठ एवं प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं।

चार्ल्स कूले के शब्दों में, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने-सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग हैं। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में 'प्राथमिक' होते हैं और वह भी मुख्यत: इस अर्थ में कि व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव व आदर्शों के निर्माण में वे मूलभूत होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से इन घनिष्ठ सम्बन्धों का परिणाम सभी व्यक्तियों का एक सामान्य सम्पूर्णता में इस प्रकार मिल जाना है कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक ही व्यक्ति के विचार और उद्देश्य सम्पूर्ण समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाते हैं। इस सम्पूर्णता की अभिव्यक्ति करने के लिए सम्भवत: सबसे सरल ढंग यह है कि इसे 'हम' शब्द द्वारा सम्बोधित किया जाए। इस सम्पूर्णता में इस प्रकार की सहानुभूति व पारस्परिक एकरूपता की भावना पाई जाती है, जिनके लिए 'हम' एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।''

कूले की परिभाषा प्राथमिक समूह की मुख्य विशेषताओं का बोध कराती है। उन्होंने प्राथमिक समूह को एक ऐसा समूह माना है जिसके सदस्यों के मध्य आमने-सामने का सम्बन्ध होता है। आमने-सामने के सम्बन्धों के कारण सदस्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धों से बँधे होते हैं। ये समूह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव बनाने में तथा उसके जीवन में आदर्शों का निर्माण करने में भी प्राथमिक होते हैं। उदाहरण के लिए—परिवार को ही लिया जाए, जिसे कूले ने प्रथम प्राथमिक समूह माना है। परिवार के सदस्यों में आमने-सामने के सम्बन्ध पाए जाते हैं। इसके कारण सभी

सदस्य एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धों में बँधे रहते हैं। वे एक-दूसरे की सहायता या सहयोग भी करते हैं। परिवार समाजीकरण करने वाला सर्वप्रथम समूह होता है। इसी से व्यक्ति भाषा, खाने-पीने के ढंग, व्यवहार के ढंग, आचार-विचार सीखता है। अन्य शब्दों में, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का निर्माण प्राथमिक समूह ही करते हैं।

प्राथमिक सम्बन्धों में घनिष्ठता होने के कारण सदस्यों का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व में मिल जाता है। इससे सम्पूर्ण रूप से 'हम' की भावना का जन्म होता है। 'हम' की भावना एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो यह दर्शाती है कि समूह के प्रति सदस्यों में कितनी निष्ठा, लगाव और सहानुभूति है। इसलिए इस समूह का सुख-दु:ख उनका अपना सुख-दु:ख बन जाता है।

कूले ने तीन महत्त्वपूर्ण प्राथमिक समूहों का उल्लेख किया है—परिवार, खेल-साथियों का समूह या क्रीड़ा समूह तथा पड़ोस। इन्हें प्राथमिक मानने का कारण इनका सभी युगों में तथा सभी समाजों में पाया जाना है। ये समूह मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में आधारभूत तथा प्राथमिक योगदान प्रदान करते हैं। ये समूह व्यक्ति (जो जैविक प्राणी होता है) में सामाजिक गुणों को भरने (सामाजिक बनाने) में भी प्राथमिक होते हैं।

किंग्सले डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की समीक्षा करते हुए हमारा ध्यान दो बातों की ओर दिलाया है—प्रथम, कूले ने वास्तविक समूहों (जैसे परिवार, क्रीड़ा समूह, पड़ोस आदि) को प्राथमिक समूह कहा है तथा द्वितीय, कूले ने एक ओर तो ''आमने-सामने की समिति'' वाक्यांश का प्रयोग किया है और दूसरी ओर सम्बन्धों के कुछ विशिष्ट गुणों; जैसे सहानुभूति तथा पारस्परिक तादात्म्य पर बल दिया है। डेविस के अनुसार इन दोनों से प्राथमिक समूह के बारे में कुछ भ्रान्ति उत्पन्न होती है। ये दोनों बातें कुछ अंशों में प्रत्येक समूह में पाई जाती हैं। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष सम्बन्ध (जैसे पत्र व्यवहार द्वारा दो व्यक्तियों में मित्रता) तथा मित्रतापूर्वक एवं घनिष्ठ प्रत्यक्ष सम्बन्ध (जैसे वेश्यावृत्ति-ग्राहक या सैनिकों का अभिवादन) भी औपचारिक एवं अवैयक्तिक प्रकृति के हो सकते हैं।

4.6.1 प्राथमिक समूहों की प्रकृति या विशेषताएँ

डेविस के अनुसार प्राथमिक समूहों की प्रकृति को तीन पहलुओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं—

(अ) प्राथमिक समूहों की बाह्य विशेषताएँ या भौतिक दशाएँ—किंग्सले डेविस ने निम्नलिखित तीन प्रमुख भौतिक दशाओं को प्राथमिक समूह के लिए अनिवार्य माना है—

1. **शारीरिक समीपता**—प्राथमिक समूहों के लिए शारीरिक समीपता का होना आवश्यक है। जिसे कूले ने आमने-सामने का सम्बन्ध कहा है उसी के लिए किंग्सले डेविस 'शारीरिक समीपता' शब्द का प्रयोग करते हैं। पारस्परिक घनिष्ठता के लिए यह आवश्यक है कि सदस्य एक-दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानें। परस्पर जानने से एक-दूसरे के विचारों से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे एक-दूसरे की भावनाओं को समझा जा सकता है तथा 'हम की भावना' का विकास होता है।

2. **सीमित आकार**—प्राथमिक समूह आकार में लघु होते हैं। सदस्यों की कम संख्या के कारण ही सदस्यों में घनिष्ठता होती है। किंग्सले डेविस का कथन है कि प्राथमिक समूह को आकार में छोटा होना ही चाहिए, क्योंकि यह असम्भव है कि एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों से बुद्धिमत्तापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। फेयरचाइल्ड का विचार है कि प्राथमिक समूह में तीन-चार से लेकर पचास-साठ व्यक्ति तक पाए जा सकते हैं।

3. सम्बन्धों की लम्बी अवधि—सम्बन्धों की घनिष्ठता पर्याप्त रूप से उनकी अवधि पर निर्भर करती है। सम्बन्धों की अवधि जितनी लम्बी होती है, सम्बन्ध उतने ही घनिष्ठ होते हैं। प्राथमिक समूह में स्थिरता पाई जाती है। इसके दो मुख्य कारण हैं—प्रथम, यह कि सभी सदस्य एक-दूसरे को भली-भाँति जानते हैं, जिससे सम्बन्ध घनिष्ठ बने रहते हैं। घनिष्ठ सम्बन्धों के कारण समूह में स्थिरता रहती है तथा द्वितीय, यह कि प्राथमिक समूह के लक्ष्य सामान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त सम्बन्धों में निरन्तरता (लम्बी अवधि), सदस्यों की एकता तथा आत्मीयता के कारण अन्य समूहों से प्राथमिक समूह अधिक स्थिर होता है।

(ब) प्राथमिक सम्बन्धों की प्रकृति—प्राथमिक समूहों की आन्तरिक विशेषताओं के अन्तर्गत सदस्यों में पाए जाने वाले सम्बन्ध आते हैं। डेविस ने प्राथमिक सम्बन्धों की पाँच प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. लक्ष्यों में सादृश्यता—प्राथमिक समूह के सदस्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। इस घनिष्ठता का मुख्य आधार है सदस्यों के लक्ष्यों या उद्देश्यों में समानता। प्रत्येक सदस्य यह प्रयत्न करता है कि वह अपने लक्ष्यों या हितों को पूरा करने हेतु किसी दूसरे के हितों का हनन या अवहेलना न करे।

2. सम्बन्ध स्वयं साध्य होता है—प्राथमिक समूह में जो सम्बन्ध स्थापित किए जाते हैं, उनमें किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करने की भावना निहित नहीं होती। किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राथमिक समूह में सम्बन्ध स्थापित नहीं किए जाते हैं, अपितु सम्बन्ध ही अन्तिम लक्ष्य होता है।

3. सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है—प्राथमिक समूहों में सदस्य एक-दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। इसी कारण, सम्बन्धों में आडम्बर या दिखावा नहीं होता और न ही इनका हस्तान्तरण किया जा सकता है। सम्बन्ध अवैयक्तिक तथा औपचारिक नहीं होते वरन् वैयक्तिक एवं घनिष्ठ होते हैं।

4. सम्बन्ध सर्वांगीण (संयुक्त) होता है—प्राथमिक समूह के कार्य में हर एक सदस्य सम्पूर्ण हृदय तथा इच्छा से भाग लेता है। प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते तथा पहचानते हैं। अतएव एक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति जागरूक होता है। सभी सदस्य आपस में मिलकर लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए प्राथमिक समूहों में पाए जाने वाले सम्बन्ध सर्वांगीण होते हैं। अन्य शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के जीवन की सम्पूर्ण दशाओं को जानता है।

5. सम्बन्ध स्वजात होता है—प्राथमिक समूहों में सम्बन्धों का विकास स्वत: होता है। प्रत्येक सदस्य के साथ दूसरे सदस्य का जो सम्बन्ध होता है उसका आधार है स्वयं की इच्छा। यह सम्बन्ध किसी प्रकार के दबाव, प्रलोभन या शर्त द्वारा स्थापित नहीं होता है। व्यक्ति अपनी प्रसन्नता व इच्छा से समूह के लिए या सदस्यों के लिए अपना सब-कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है।

(स) मूर्त समूह तथा प्राथमिक सम्बन्ध—किंग्सले डेविस का कहना है कि प्राथमिक समूहों की जिन बाहरी अथवा भौतिक दशाओं तथा प्राथमिक सम्बन्धों के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे सभी अनिवार्य रूप से मूर्त रूप में विद्यमान नहीं होते। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि डेविस ने प्राथमिक समूहों की विवेचना आदर्श-प्ररूप (Ideal-type) के रूप में की है। अत: यह अनिवार्य नहीं है कि सभी विशेषताएँ वास्तविक समूहों में पाई ही जाएँ। कई बार लघु समूहों में भी प्रेम एवं घनिष्ठता के स्थान पर घृणा एवं संघर्ष जैसी विशेषताएँ पाई जाती हैं। वास्तव में, प्राथमिक सम्बन्ध केवल अन्तिम लक्ष्य होते हैं जिनकी ओर आगे बढ़ने के लिए कुछ वास्तविक प्रकार की अन्तर्क्रियाएँ तो होती हैं लेकिन उन लक्ष्यों तक हम पहुँच नहीं पाते।

4.6.2 प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा जाता है?

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं—परिवार, पड़ोस तथा क्रीड़ा समूह। कूले ने इन प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर हम अनेक दृष्टिकोणों को सामने रखकर दे सकते हैं। प्राथमिक समूहों को निम्नलिखित कारणों से प्राथमिक कहा जाता है—

1. प्राथमिक समूह समय की दृष्टि से प्राथमिक हैं—प्राथमिक समूहों को समय की दृष्टि से प्राथमिक कहा गया है। सर्वप्रथम बच्चा इन्हीं समूहों के सम्पर्क में आता है। उदाहरण के लिए—सर्वप्रथम बच्चा परिवार, क्रीड़ा समूह या मित्र-मण्डली तथा पड़ोस के सम्पर्क में ही आता है। अन्य समूहों से उसका सम्पर्क बाद में होता है।

2. प्राथमिक समूह महत्त्व की दृष्टि से प्राथमिक हैं—प्राथमिक समूहों का व्यक्तियों के व्यक्तित्व निर्माण में विशेष महत्त्व होने के कारण भी इन्हें प्राथमिक कहा गया है। ये सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के लिए आदर्श स्वरूप होते हैं।

3. प्राथमिक समूह मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधित्व करने की दृष्टि से प्राथमिक हैं—मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधि होने के कारण भी प्राथमिक समूहों को प्राथमिक माना गया हैं। किम्बल यंग के अनुसार प्राथमिक समूह सम्भवत: उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मानव जीवन। ये सरलतम रूप से ऐसे प्राथमिक समुदाय का निर्माण करते हैं जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्ति की मुख्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्त्वपूर्ण इकाई हैं।

4.प्राथमिक समूह समाजीकरण की दृष्टि से प्राथमिक हैं—प्राथमिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परिवार, पड़ोस तथा क्रीड़ा समूह बच्चों को सामाजिक प्राणी बनाने में (अर्थात् समाज की मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार सिखाने में) विशेष महत्त्व रखते हैं। इन्हीं से व्यक्ति अपने समूह की परम्पराओं, मान्यताओं एवं संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, हमारी रूढ़ियों तथा परम्पराओं का जन्म भी इसी समूह में होता है।

5. प्राथमिक समूह सम्बन्धों की प्रकृति के आधार पर प्राथमिक हैं—प्राथमिक समूह में प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। लक्ष्यों में सादृश्यता, स्वयं साध्य होना तथा सम्बन्धों का स्वजात, व्यक्तिगत एवं सर्वांगीण होना प्राथमिक सम्बन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। परिवार, क्रीड़ा समूह तथा पड़ोस जैसे प्राथमिक समूहों में ये विशेषताएँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। साथ ही, प्राथमिक समूहों को इसलिए भी प्राथमिक कहा गया है क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सहिष्णुता, दया, प्रेम और उदारता की मनोवृत्ति जन्म लेती है।

6. **प्राथमिक समूह आत्म-नियन्त्रण की दृष्टि से भी प्राथमिक हैं**—प्राथमिक समूह व्यक्ति में आत्म-नियन्त्रण की भावना उत्पन्न करते हैं। वास्तव में, ये सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं। व्यक्ति सहानुभूति व त्याग की भावना के कारण ही, प्राथमिक समूह के नियमों को नहीं तोड़ता है। कूले का कहना है कि प्राथमिक समूहों द्वारा पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण किया जाना ही, इनके द्वारा की जाने वाली प्रमुख सेवा है।

4.6.3 प्राथमिक समूहों का महत्त्व

प्राथमिक समूहों का सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। लैण्डिस ने इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि प्राथमिक समूहों से व्यक्ति में सहिष्णुता, दया, प्रेम और उदारता की मनोवृत्ति जन्म लेती है। यह उदारता व्यक्ति में प्रत्यक्ष शिक्षण की अपेक्षा अनुकरण तथा समूह की मनोवृत्तियों को सीखने से पनपती है। यद्यपि

इसमें प्रत्यक्ष शिक्षण भी होता है, पर इसके मुख्य लक्षण पारस्परिक ध्यान व स्नेह हैं। दूसरे व्यक्तियों के लिए प्रेम और सहानुभूति की भावना प्रतियोगिता एवं स्वयं के स्वार्थ से ऊपर होती है। दु:ख के समय पारिवारिक सहायता उपयुक्त रूप से दी जाती है। समूह के सदस्य एक-दूसरे के बारे में चर्चा करते हैं और अनुपस्थित सदस्य के बारे में रुचि लेते हैं और चिन्तित होते हैं।

निस्सन्देह मनुष्य प्राथमिक समूहों के कारण ही समाज के योग्य बनता है। यदि प्राथमिक समूह मानव जीवन में उपस्थित न रहें तो वह समाज में उपयुक्त नहीं बन सकेगा। मनुष्य को अपने जीवनकाल में किसी न किसी प्राथमिक समूह का सदस्य बनना ही पड़ता है। प्राथमिक समूह ही मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। गिलिन एवं गिलिन ने ठीक ही कहा है कि प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। यह व्यक्तियों के अनुभवों तथा मानव समाज के विकास में प्राथमिक होता है। अत: हम कह सकते हैं कि प्राथमिक समूह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन के आदर्श स्वरूप होते हैं।

किम्बल यंग ने प्राथमिक समूह की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यह मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधि है। सम्भवत: यह उतना ही प्राचीन है जितना कि मानव जीवन। मौलिक मानव संघ सरलतम रूप से ऐसे प्राथमिक समूहों का निर्माण करते हैं जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्ति की मुख्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्त्वपूर्ण होते हैं।

प्राथमिक समूहों में व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इनसे अपनी प्रथाओं, परम्पराओं तथा संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। मैकाइवर एवं पेज का कहना है कि हम सबसे पहले प्राथमिक समूह की सामाजिक भावनाओं को सृजनात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। हमारी सामाजिक रूढ़ियों तथा परम्पराओं का जन्म भी इन्हीं समूहों में होता है।

कूले के शब्दों में, ''प्राथमिक समूहों द्वारा पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण किया जाना ही सम्भवत: इनके द्वारा की जाने वाली प्रमुख सेवा है।'' इसका तात्पर्य यह हुआ है कि मनुष्य के अन्तर्मन में पाशविक प्रेरणाएँ (जैसे घृणा, हिंसा, प्रतिशोध आदि) हुआ करती हैं और इन्हीं प्रेरणाओं पर प्राथमिक समूह विजय पाना सिखाता है तथा स्नेह, त्याग, प्रेम आदि भावों को उत्पन्न करता है।

संक्षेप में, प्राथमिक समूह के महत्त्व को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1.प्राथमिक समूह मानव के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। जन्म लेने के पश्चात् ही इन समूहों का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है। जीवन भर व्यक्ति का व्यवहार इन समूहों द्वारा प्रभावित होता रहता है।

2. प्राथमिक समूह समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण हैं। एच० ई० बार्नस का कथन है कि समाजीकरण की प्रक्रिया के विकास में प्राथमिक समूह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। वे स्वाभाविक रूप से व्यक्ति के समाजीकरण, स्थापित संस्थाओं से एकीकरण व सुरक्षा में भी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

3.प्राथमिक समूह सामाजिक नियन्त्रण का मुख्य साधन हैं। व्यक्ति सहानुभूति व त्याग की भावना के कारण प्राथमिक समूह के नियमों को नहीं तोड़ता। ये समूह उसके समाजीकरण के द्वारा उसकी पाशविक प्रवृत्तियों को समाप्त कर उसके व्यवहार पर नियन्त्रण लगाते हैं।

4.प्राथमिक समूह हमें उचित-अनुचित का ज्ञान कराते हैं। ये सामूहिक मान्यताओं के अनुरूप व्यक्तित्व की रचना में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। उदाहरणार्थ—परिवार अपने सदस्यों को सामान्यत: समाज में उचित व्यवहार करना सिखाता है।

5.प्राथमिक समूह इस प्रकार का वातावरण बनाते हैं जिनमें व्यक्ति को भावात्मक सुरक्षा मिलती है। ब्रूम का कथन है कि ''प्राथमिक समूह व्यक्ति और समाज के मध्य सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। प्राथमिक समूहों की सहायता से व्यक्ति को भावात्मक सुरक्षा प्राप्त होती है और इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपने उच्चतर लक्ष्यों को प्राप्त करता है।''

4.7 द्वितीयक समूह की अवधारणा

आज सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। द्वितीयक समूह की प्रकृति प्राथमिक समूह की प्रकृति के विपरीत होती है। किंग्सले डेविस का कथन है कि, ''स्थूल रूप से द्वितीयक समूहों को, जो चीजें प्राथमिक समूह के बारे में कही गई हैं उनके विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।'' द्वितीयक समूह इतने विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं कि इनके सदस्यों को निकटता में रहने की आवश्यकता नहीं होती। न ही सभी सदस्य एक-दूसरे को वैयक्तिक रूप में जानते हैं। इनमें ऐसे सम्बन्ध होते हैं जो स्वयं में लक्ष्य नहीं होते, न वैयक्तिक और न ही संयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ—राज्य एक द्वितीयक समूह है जिसकी विशेषताएँ प्राथमिक समूहों में पाई जाने वाली विशेषताओं के विपरीत हैं।

अत: प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषताओं वाले समूह को द्वितीयक समूह की संज्ञा दी जाती है। यह समूह का वह रूप है जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक समूहों की घनिष्ठता से भिन्न है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, ''जो समूह घनिष्ठता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं, उन्हें द्वितीयक समूह कहा जाता है।'' लुण्डबर्ग (Lundberg) के अनुसार, ''द्वितीयक समूह वे हैं जिनमें दो या अधिक व्यक्तियों के सम्बन्ध अवैयक्तिक, हित-प्रधान तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।'' फेयरचाइल्ड (Fairchild) के अनुसार, ''समूह का वह रूप, जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक या आमने-सामने के समूह की तरह घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वितीयक समूह कहलाता है।'' इसी भाँति, कूले (Cooley) के अनुसार, ''द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णत: अभाव होता है और सामान्यत: उन विशेषताओं का भी अभाव होता है जोकि अधिकतर प्राथमिक तथा अर्द्ध-प्राथमिक समूहों में पाई जाती हैं।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीयक समूहों में प्राथमिक समूहों के विपरीत विशेषताएँ पाई जाती हैं। वे आकार में बड़े होते हैं तथा इनमें घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।

4.7.1 द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ

द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1.**बड़ा आकार**—द्वितीयक समूह में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, अतएव द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। द्वितीयक समूहों की सदस्यता की कोई सीमा नहीं होती है।

2.**उद्देश्यों का विशेषीकरण**—द्वितीयक समूह किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। कोई भी द्वितीयक समूह उद्देश्यविहीन नहीं होता और न ही किसी स्वार्थरहित द्वितीयक समूह की कल्पना ही की जा सकती है। इसी कारण किम्बल यंग ने इन्हें 'विशेष स्वार्थ समूह' कहा है।

3.**अप्रत्यक्ष सम्पर्क**—द्वितीयक समूह में प्रत्यक्ष सम्पर्क भी हो सकते हैं, तथापि प्राय: अप्रत्यक्ष सम्पर्क ही अधिक पाया जाता है। इसका मुख्य कारण समूह के आकार का बड़ा होना है। अप्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण घनिष्ठता का जन्म उस सीमा तक नहीं होता है जितना कि प्राथमिक समूह में होता है।

4.व्यक्तिगत तथा घनिष्ठ सम्बन्धों का अभाव—द्वितीयक समूहों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होने के कारण प्रत्येक सदस्य परस्पर वैयक्तिक रूप से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता, अत: उनमें घनिष्ठता नहीं आ पाती है।

5.उद्देश्यों की भिन्नता—द्वितीयक समूह में प्रत्येक व्यक्ति अपने हित या लक्ष्य को पूरा करने की सोचता है। जब सभी सदस्य अपने ही हित को पाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे तब उस स्थिति में उद्देश्यों की भिन्नता पाई जाएगी। उद्देश्यों की भिन्नता के कारण ही द्वितीयक समूहों में स्वार्थ-सिद्धि तथा प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिलता है।

6.औपचारिक सम्बन्ध—द्वितीयक समूहों के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ निश्चित नियमों व उपनियमों के अनुसार नियन्त्रित होता है। यदि ये नियम नहीं हों तो इन समूहों में अव्यवस्था फैल जाएगी। इन नियमों के कारण सदस्यों का सम्बन्ध औपचारिक होता है।

7. इच्छा से स्थापित—चूँकि ये विशेष स्वार्थ समूह होते हैं इस कारण इनकी स्थापना जान-बूझकर की जाती है। जब सदस्यों को कोई विशेष लक्ष्य या उद्देश्य प्राप्त करना होता है तो उस दशा में लोग द्वितीयक समूह की स्थापना करते हैं ताकि उनके लक्ष्यों की पूर्ति हो सके।

4.8 प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अन्तर

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ पूर्णत: एक-दूसरे के विपरीत होती हैं। दोनों में निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है—

1. आकार—प्राथमिक समूह का आकार छोटा होता है। उदाहरण के लिए—परिवार, पड़ोस तथा मित्र-मण्डली का आकार सीमित है। फेयरचाइल्ड के अनुसार इसमें तीन-चार व्यक्तियों से लेकर पचास-साठ व्यक्तियों तक तथा कूले के अनुसार इसमें दो से साठ व्यक्तियों तक की संख्या हो सकती है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। इसके सदस्यों की संख्या असीमित हो सकती है। सम्पूर्ण राष्ट्र भी एक द्वितीयक समूह है जिसकी संख्या असीमित होती है।

2. **सम्बन्ध**—प्राथमिक समूह के सदस्यों में आमने-सामने के वैयक्तिक व घनिष्ठ सम्बन्ध पाए जाते हैं। वैयक्तिक सम्बन्धों के कारण इनमें औपचारिकता नहीं होती है। इसके विपरीत प्रेम, सहयोग, सद्भावना आदि आन्तरिक गुणों का समावेश होता है। इनमें हम की भावना की प्रधानता रहती है। द्वितीयक समूह में अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। इनमें सहयोग, स्नेह, घनिष्ठता की कमी होती है और 'हम' के स्थान पर 'मैं' की प्रधानता रहती है।

3.**हित**—प्राथमिक समूह में कोई विशेष हित नहीं होता है। सभी कार्यों में प्रत्येक सदस्य पूर्ण ह्रदय से हिस्सा लेते हैं। वे समूह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं। द्वितीयक समूह में, जोकि विशेष स्वार्थ समूह के नाम से जाने जाते हैं, प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जी जान से कोशिश करता है। यदि उसे अपने हित के लिए दूसरे सदस्यों के हितों की अवहेलना भी करनी पड़ जाए तो भी वह इसके लिए तत्पर रहता है।

4.**सम्बन्धों का जन्म**—प्राथमिक सम्बन्धों का जन्म स्वत: होता है। इस प्रकार के सम्बन्धों की स्थापना में किसी प्रकार की कोई शर्त या दबाव नहीं होता है। द्वितीयक समूह में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आडम्बर या

कृत्रिमता का आश्रय लिया जाता है। इनमें प्राथमिक सम्बन्धों (जोकि आमने-सामने के सम्बन्ध हैं) के विपरीत, सम्बन्ध अप्रत्यक्ष अथवा दूर-संचार के माध्यम से होते हैं।

5.**दायित्व**—प्राथमिक समूहों में दायित्व की कोई सीमा नहीं होती है। यह नहीं बताया जा सकता कि माँ अपने पुत्र के प्रति कितने दायित्वों को निभाएगी। द्वितीयक समूहों में सदस्यों का दायित्व सीमित व शर्तों या नियमों के अनुसार होता है।

6.**नियम**—प्राथमिक समूह में किसी प्रकार का लिखित नियम नहीं होता है। ये समूह अनौपचारिक होते हैं। ये अपने सदस्यों पर कोई कानून या शर्त नहीं लगाते हैं। द्वितीयक समूह की प्रकृति औपचारिक है। इसमें अनेक प्रकार के नियम, कानून तथा कार्यविधियों को सदस्यों पर थोपा जाता है और नियम का उल्लंघन करने वालों को औपचारिक दण्ड मिलता है।

7.**नियन्त्रण**—प्राथमिक समूहों में नियन्त्रण की प्रकृति अनौपचारिक होती है। निन्दा व तिरस्कार आदि के द्वारा सदस्यों का व्यवहार नियन्त्रित होता है। द्वितीयक समूहों के नियन्त्रण की प्रकृति औपचारिक होती है। द्वितीयक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण कानून, पुलिस आदि द्वितीयक साधनों की सहायता से करता है।

8.**क्षेत्र**—प्राथमिक समूह प्रत्येक काल व प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं। अन्य शब्दों में, ये सार्वभौमिक होते हैं। ये समूह बहुत छोटे क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। द्वितीयक समूह सार्वभौमिक नहीं होते हैं। इनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होता है। कोई-कोई द्वितीयक समूह सम्पूर्ण देश में भी फैला हो सकता है।

9.**प्रभाव**—प्राथमिक समूह व्यक्ति के विचारों व मनोवृत्तियों को बनाते हैं, अत: इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है। द्वितीयक समूह विशेषीकृत समूह होते हैं और इनका प्रभाव कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

10.**व्यक्तित्व**—प्राथमिक समूह में व्यक्ति के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण भाग समूह के सम्पर्क में आता है। इसीलिए प्राथमिक समूह के सदस्य एक-दूसरे के बारे में पूर्णतया परिचित होते हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों में व्यक्तित्व का केवल कुछ भाग ही समूह के सम्पर्क में आता है।

11.**कार्य-**प्राथमिक समूह मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता है या समाजीकरण करता है। कूले के अनुसार, ''यह मानव स्वभाव का निर्माण स्थल है।'' इसके विपरीत द्वितीयक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विशेषीकरण करते हैं या विशेषीकरण करने वाले समूह हैं।

12.**सदस्यता**—प्राथमिक समूह की सदस्यता अनिवार्य होती है। इसके कारण मनुष्य को अपने परिवार, खेल-समूह तथा पड़ोस में रहना पड़ता है। द्वितीयक समूह की सदस्यता अनिवार्य नहीं है। जब व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसे हित विशेष को प्राप्त करना है, तभी वह द्वितीयक समूह का सदस्य बनता है।

13.**कार्य-क्षेत्र**—प्राथमिक समूह का कार्य-क्षेत्र सीमित तथा कम होता है। द्वितीयक समूह का कार्य-क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

14.**हम की भावना**—प्राथमिक समूह में हम की भावना पाई जाती है तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध प्राथमिक होते हैं। द्वितीयक समूह में किसी प्रकार की हम की भावना नहीं पाई जाती है तथा सम्बन्ध गौण होते हैं।

15.**व्यक्तिगत एवं सामूहिक हित**—प्राथमिक समूह समष्टिवादी होते हैं। इसी कारण सदस्यों के व्यक्तिगत हित सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। द्वितीयक समूह व्यक्तिवादी होते हैं। इनमें सामूहिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

16.**प्राचीनता**—प्राथमिक समूह अत्यधिक प्राचीन हैं, शायद उतने ही जितना कि स्वयं मानव समाज। द्वितीयक समूह तुलनात्मक रूप में नए समूह हैं। जनसंख्या में वृद्धि, औद्योगिक क्रान्ति, सामाजिक गतिशीलता इत्यादि कारणों से आधुनिक समाजों में द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि हुई है।

किंग्सले डेविस द्वारा प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में किया गया अन्तर निम्नांकित तालिका द्वारा दर्शाया गया है—

किंग्सले डेविस द्वारा प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अन्तर

प्राथमिक समूह	**द्वितीयक समूह**
1.भौतिक स्थितियाँ :	**1.भौतिक स्थितियाँ :**
(i) स्थानीय निकटता	(i)स्थानीय दूरी
(ii)कम संख्या	(ii)अधिक संख्या
(iii)लम्बी अवधि	(iii) अल्प अवधि
2.सामाजिक विशेषताएँ :	**2 सामाजिक विशेषताएँ :**
(i)लक्ष्यों की एकरूपता (पहचान)	(i) लक्ष्यों की अनेकरूपता
(ii)सम्बन्धों का आन्तरिक मूल्यांकन	(ii) सम्बन्धों का बाह्य मूल्यांकन
(iii)अन्य व्यक्तियों का आन्तरिक मूल्यांकन	(iii) अन्य व्यक्तियों का बाह्य मूल्यांकन
(iv)अन्य व्यक्तियों का अभिव्यापक ज्ञान	(iv)अन्य व्यक्तियों का सीमित तथा विशेषीकृत ज्ञान
(v)स्वतन्त्रता तथा स्वेच्छा की भावना	(v)बाह्य नियन्त्रण की भावना
(vi)अनौपचारिक नियन्त्रण की कार्यशीलता	(vi)औपचारिक नियन्त्रण की कार्यशीलता
3.सम्बन्धों के उदाहरण :	**3.सम्बन्धों के उदाहरण :**
मित्र-मित्र	विक्रेता-ग्राहक
पति-पत्नी	वक्ता-श्रोता
माता-पिता और सन्तान	अभिनेता और दर्शक
अध्यापक-शिष्य	अधिकारी तथा अधीन व्यक्ति
	लेखक तथा पाठक
4.उदाहरण :	**4 उदाहरण :**
क्रीड़ा समूह, परिवार,	राष्ट्र, क्लर्कों का संगठन,
गाँव या पड़ोस, एक साथ	व्यावसायिक समिति,
काम करने वाले व्यक्ति	कॉरपोरेशन (निगम)

4.9 शब्दावली

सामाजिक समूह — जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं। सामाजिक समूह के सदस्यों में सामाजिक सम्बन्ध पाया जाना अनिवार्य होता है।

प्राथमिक समूह — प्राथमिक समूह से अभिप्राय उस लघु समूह से है जिसके सदस्यों में आमने-सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग पाया जाता है। परिवार, क्रीड़ा समूह एवं पड़ोस इसके प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं।

अन्त:समूह — जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है, उन्हें उनका अन्त:समूह कहा जाता है। अन्त:समूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है।

4.10 अभ्यास प्रश्न

1. समुदाय को परिभाषित कीजिए तथा ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर बताइए।

2.सामाजिक समूह किसे कहते हैं? इसके प्रमुख वर्गीकरण कौन-से हैं?

3.प्राथमिक समूह किसे कहते हैं? प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह में अन्तर बताइए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Bottomore, T. B., Sociology : A Guide to Problems and Literature, London : Allen and Unwin, 1969.
- Bogardus, E. S., Introduction to Sociology, Los Angeles : University of Southern California Press, 1917.
- Cooley, C. H., Social Organization, Glencoe : The Free Press, 1962.
- Davis, Kingsley, Human Society, New York : MacMillan Company, 1949.
- Fairchild, H. P. (ed.), Dictionary of Sociology, London : Vision, 1958.

इकाई-5

समुदाय
Community

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 समुदाय–अर्थ व परिभाषा

5.3 समुदाय के आधार या तत्व

5.4 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय

5.5 समुदाय एवं समाज में अन्तर

5.6 शब्दावली

5.7 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

समुदाय, समूह, समिति एवं संस्था की अवधारणाएँ समाजशास्त्र की मूल अथवा प्राथमिक अवधारणाएँ मानी जाती हैं जिनको समझे बिना इस विषय का ज्ञान अधूरा माना जाता है। इस इकाई का उद्देश्य समुदाय, की अवधारणाओं को समझाना है।

5.1 प्रस्तावना

समाज व्यक्तियों का संकलन मात्र नहीं है। यह व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों का जाल (व्यवस्था या ताना–बाना) है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त हैं अत: समाज को भी अमूर्त माना गया है। समुदाय एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। इसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाई जाती है। समाज का निर्माण अनेक समुदायों से होता है। समुदाय में अनेक समूह होते हैं। समूह निर्माण हेतु दो से अधिक व्यक्तियों में पारस्परिक चेतना एवं अन्तर्क्रिया होना आवश्यक है। वस्तुत: मनुष्य अपना जीवन अकेले न बिताकर अन्य मनुष्यों के साथ समूहों के अन्तर्गत बिताता है। इसके सर्वप्रमुख दो कारण हैं—प्रथम, वह सामाजिक प्राणी होने के कारण समूह में रहना पसन्द करता है तथा द्वितीय, उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों पर आश्रित होना पड़ता है।

5.2 समुदाय

व्यक्ति समुदाय में रहकर ही अपना सामान्य जीवन व्यतीत करता है। उदाहरण के लिए—हम जिस गाँव या नगर में रहते हैं वह समुदाय ही है। सामान्य शब्दों में, व्यक्तियों के किसी भी संगठन को समुदाय कह दिया जाता है।

परन्तु यह ठीक नहीं है। समाजशास्त्र में 'समुदाय' शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। केवल व्यक्तियों का समूह ही समुदाय नहीं है। यह व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं। समुदाय में न केवल सदस्यों का सामान्य जीवन व्यतीत होता है, अपितु उनमें सामुदायिक भावना भी पाई जाती है। यह भावना समुदाय को समिति से भिन्न करती है।

5.2.1 समुदाय का अर्थ एवं परिभाषाएँ

'समुदाय' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'कम्यूनिटी' (Community) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जोकि लैटिन भाषा के 'कॉम' (Com) तथा 'म्यूनिस' (Munis) शब्दों से मिलकर बना है। लैटिन में 'कॉम' शब्द का अर्थ 'एक साथ' (Together) तथा 'म्यूनिस' का अर्थ 'सेवा करना' (To serve) है, अत: 'समुदाय' का शाब्दिक अर्थ ही 'एक साथ सेवा करना' है। समुदाय व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें उनका सामान्य जीवन व्यतीत होता है। इसी आधार पर समुदाय समिति से भिन्न है। समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह में दो बातों का होना अनिवार्य है— निश्चित भू-भाग, तथा इसमें रहने वालों में सामुदायिक भावना का होना। बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार. ''समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों तक हम की भावना होती है तथा जो एक निश्चित क्षेत्र में निवास करता है।'' डेविस (Davis) के अनुसार, ''समुदाय सबसे छोटा वह क्षेत्रीय समूह है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ सकते हैं।''मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार, ''जहाँ कहीं एक छोटे या बड़े समूह के सदस्य एक साथ रहते हुए उद्देश्य विशेष में भाग न लेकर सामान्य जीवन की मौलिक दशाओं में भाग लेते हैं, उस समूह को हम समुदाय कहते हैं।''

ऑगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, ''किसी सीमित क्षेत्र के अन्दर रहने वाले सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।'' ग्रीन (Green) के अनुसार, ''समुदाय संकीर्ण प्रादेशिक घेरे में रहने वाले उन व्यक्तियों का समूह है जो जीवन के सामान्य ढंग को अपनाते हैं। एक समुदाय एक स्थानीय क्षेत्रीय समूह है।'' इसी भाँति, मेन्जर (Manger) के अनुसार, ''वह समाज, जो एक निश्चित भू-भाग में रहता है, समुदाय कहलाता है।''

अत: समुदाय की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समुदाय व्यक्तियों का एक विशिष्ट समूह है जोकि निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। इसके सदस्य सामुदायिक भावना द्वारा परस्पर संगठित रहते हैं। समुदाय में व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य की अपेक्षा अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करते रहते हैं।

5.3 समुदाय के आधार या तत्त्व

मैकाइवर एवं पेज ने समुदाय के निम्नलिखित दो आवश्यक तत्त्व बताए हैं—

1.स्थानीय क्षेत्र—समुदाय के लिए एक अत्यन्त आवश्यक तत्त्व निवासस्थान या स्थानीय क्षेत्र का होना है। इसकी अनुपस्थिति में समुदाय जन्म नहीं ले सकता। क्षेत्र में निश्चितता होने के कारण ही वहाँ रहने वाले सदस्यों के मध्य घनिष्ठता, सहनशीलता तथा सामंजस्यता की भावना जाग्रत होती है।

2. सामुदायिक भावना—सामुदायिक भावना की अनुपस्थिति में समुदाय की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सामुदायिक भावना को 'हम की भावना' (We feeling) भी कहा जाता है। इस भावना का जन्म होने का

कारण एक निश्चित क्षेत्र, सदस्यों के कार्य करने का सामान्य ढंग तथा प्रत्येक सदस्य का एक-दूसरे के दु:ख व सुख से परिचित हो जाना है। दूसरे की खुशी उनकी खुशी व दूसरे का दु:ख उनका स्वयं का दु:ख होता है। वे अनुभव करते हैं कि 'हम एक हैं।' वस्तुत: यह एक ऐसी भावना है जो समुदाय से दूर चले जाने के बाद भी बनी रहती है।

किंग्सले डेविस ने भी समुदाय के दो आधारभूत तत्त्वों का विवेचन किया है—

1. प्रादेशिक निकटता—सदैव ही कुछ स्थानों पर आवासों के समूह पाए जाते हैं, किसी दूसरे समूह के व्यक्तियों की तुलना में व्यक्ति अपने समूह में ही अन्तर्क्रिया करना सरल समझते हैं। निकटता सम्पर्क को सुगम बनाती है। यह सुरक्षा की भावना भी प्रदान करती है तथा समूह के संगठन को सुविधाजनक बनाती है। बिना प्रादेशिक निकटता के किसी भी समुदाय की कल्पना नहीं की जा सकती है।

2. सामाजिक पूर्णता—डेविस के अनुसार समुदाय सबसे छोटा प्रादेशिक समूह होता है। यह सामाजिक जीवन के समस्त पहलुओं का आलिंगन करता है। यह उन समस्त विस्तृत संस्थाओं, समस्त दलों तथा रुचियों को सम्मिलित करता है जो समाज का निर्माण करती हैं। व्यक्ति अपना अधिकांश सामाजिक जीवन समुदाय में ही व्यतीत करता है।

5.3.1 सामुदायिक भावना के आवश्यक तत्त्व

सामुदायिक भावना के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. हम की भावना—यह सामुदायिक भावना का प्रमुख अंग है। इस भावना के अन्तर्गत सदस्यों में 'मैं' की भावना नहीं रहती है। लोग मानते हैं कि यह हमारा समुदाय है, हमारी भलाई इसी में है या यह हमारा दु:ख है। सोचने तथा कार्य करने में भी हम की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। इसके कारण सदस्य एक-दूसरे से अपने को बहुत समीप मानते हैं। इसी भावना के आधार पर कुछ वस्तुओं, स्थानों व व्यक्तियों को अपना माना जाता है व उनके साथ विशेष लगाव रहता है। यह भावना सामान्य भौगोलिक क्षेत्र में लम्बी अवधि तक निवास करने के कारण विकसित होती है।

2. दायित्व की भावना—सदस्य समुदाय के कार्यों को करना अपना दायित्व समझते हैं। वे अनुभव करते हैं कि समुदाय के लिए कार्यों को करना, उनमें हिस्सा लेना, दूसरे सदस्यों की सहायता करना आदि उनका कर्त्तव्य एवं दायित्व है। इस प्रकार, सदस्य समुदाय के कार्यों में योगदान की भावना रखते हैं।

3. निर्भरता की भावना—समुदाय का प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है कि वह दूसरे सदस्यों पर निर्भर है। सदस्य का स्वयं का अस्तित्व समुदाय में पूर्णत: मिल जाता है। वह बिना समुदाय के अपना अस्तित्व नहीं समझता है। अन्य शब्दों में, सदस्य समुदाय पर ही निर्भर करता है।

5.3.2 समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ

समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवर्णित हैं—

1. व्यक्तियों का समूह—समुदाय निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले व्यक्तियों का मूर्त समूह है। समुदाय का निर्माण एक व्यक्ति से नहीं हो सकता अपितु समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह होना आवश्यक है।

2.सामान्य जीवन—प्रत्येक समुदाय में रहने वाले सदस्यों का रहन-सहन, भोजन का ढंग व धर्म सभी काफी सीमा तक सामान्य होते हैं। समुदाय का कोई विशिष्ट लक्ष्य नहीं होता है। समुदाय के सदस्य अपना सामान्य जीवन समुदाय में ही व्यतीत करते हैं।

3. सामान्य नियम—जिन्सबर्ग ने इसे समुदाय की प्रमुख विशेषता माना है। समुदाय के समस्त सदस्यों के व्यवहार सामान्य नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। जब सभी व्यक्ति सामान्य नियमों के अन्तर्गत कार्य करते हैं तब उनमें समानता की भावना का विकास होता है। यह भावना समुदाय में पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करती है।

4. विशिष्ट नाम—प्रत्येक समुदाय का कोई न कोई नाम अवश्य होता है। इसी नाम के कारण ही सामुदायिक एकता का जन्म होता है। समुदाय का नाम ही व्यक्तियों में अपनेपन की भावना को प्रोत्साहित करता है।

5. स्थायित्व—समुदाय चिरस्थाई होता है। इसकी अवधि व्यक्ति के जीवन से लम्बी होती है। व्यक्ति समुदाय में जन्म लेते हैं, आते हैं तथा चले जाते हैं, परन्तु इसके बावजूद समुदाय का अस्तित्व बना रहता है। इसी कारण यह स्थायी संस्था है।

6. स्वतः जन्म—समुदाय को विचारपूर्वक किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हेतु निर्मित नहीं किया जाता है। इसका स्वत: विकास होता है। जब कुछ लोग एक स्थान पर रहने लगते हैं तो अपनेपन की भावना का जन्म होता है। इससे समुदाय के विकास में सहायता मिलती है।

7. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र—समुदाय का एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि समुदाय के सभी सदस्य निश्चित भौगोलिक सीमाओं के अन्तर्गत ही निवास करते हैं।

8. अनिवार्य सदस्यता—समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं करती। व्यक्ति जन्म से ही उस समुदाय का सदस्य बन जाता है जिसमें उसका जन्म हुआ है। सामान्य जीवन के कारण समुदाय से पृथक् रहकर व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती है।

9. सामुदायिक भावना—सामुदायिक भावना ही समुदाय की नींव है। समुदाय के सदस्य अपने हितों की पूर्ति के लिए ही नहीं सोचते। वे सम्पूर्ण समुदाय का ध्यान रखते हैं। हम की भावना, दायित्व तथा निर्भरता की भावना हैं जोकि सामुदायिक भावना के तीन तत्त्व हैं, समुदाय के सभी सदस्यों को एक सूत्र में बाँधने में सहायता देते हैं।

10. आत्म-निर्भरता—सामान्य जीवन एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण समुदाय में आत्म-निर्भरता पाई जाती है। प्राचीन समाजों में समुदाय काफी सीमा तक आत्म-निर्भर थे, परन्तु आज यह विशेषता प्राय: समाप्त हो गई है।

5.3.3 सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरण

गाँव, कस्बा, कोई नयी बस्ती, नगर, राष्ट्र, जनजाति (जोकि एक निश्चित क्षेत्र में निवास करती है) इत्यादि समुदायों के प्रमुख उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के लगभग सभी आधारभूत तत्त्व तथा विशेषताएँ पाई जाती हैं। परन्तु कुछ ऐसे समूह अथवा संगठन भी हैं जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ तो पाई जाती हैं परन्तु कुछ नहीं। ऐसे समूहों को सीमावर्ती समुदायों की संज्ञा दी जाती है। समुदाय की कुछ विशेषताएँ न होने के कारण इन्हें पूरी तरह से समुदाय नहीं माना जा सकता है। जाति, जेल, पड़ोस, तथा राज्य सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। ये समुदाय तो नहीं हैं परन्तु समुदाय की कुछ विशेषताओं का इनमें समावेश होने के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है। आइए, अब हम ऐसे कुछ सीमावर्ती समुदायों पर विचार करें।

1. क्या जाति एक समुदाय है?–जाति व्यवस्था भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रमुख स्वरूप है। जाति एक अन्तर्विवाही (Endogamous) समूह है। इसकी सदस्यता जन्म द्वारा निर्धारित होती है। विभिन्न जातियों की स्थिति एक समान नहीं होती। इनमें ऊँच–नीच का एक स्वीकृत क्रम होता है। इसमें एक जाति द्वारा दूसरी जातियों से सम्पर्क की स्थापना को स्पर्श, सहयोग, भोजन, निवास आदि के प्रतिबन्धों द्वारा बहुत सीमित कर दिया जाता है। परन्तु जाति में समुदाय की अनेक विशेषताएँ (जैसे अनिवार्य सदस्यता आदि) होने के बावजूद इसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जाति का कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता अर्थात् एक ही जाति के सदस्य एक स्थान पर नहीं रहते अपितु अनेक क्षेत्रों व प्रदेशों में रहते हैं। उसमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र न होने के कारण इसमें व्यक्तियों का सामान्य जीवन भी व्यतीत नहीं होता है। अत: जाति को एक समुदाय नहीं कहा जा सकता है।

2. क्या पड़ोस एक समुदाय है?–आज पड़ोस समुदाय नहीं है। पहले पड़ोस में हम की भावना, आश्रितता की भावना इत्यादि समुदाय के लक्षण पाए जाते थे। इसीलिए कुछ विद्वान् पड़ोस को एक समुदाय मानते थे। परन्तु आज जटिल समाजों में अथवा नगर–राज्य प्रकृति वाले समाजों में पड़ोस समुदाय नहीं है। इसमें न ही तो सामुदायिक भावना पाई जाती है, न ही सामान्य नियमों की कोई व्यवस्था ही। पड़ोस का विकास भी समुदाय की भाँति स्वत: नहीं होता है। अत्यधिक गतिशीलता के कारण पड़ोस में रहने वालों में स्थायीपन का भी अभाव पाया जाता है।

3. क्या जेल एक समुदाय है?–जेल (बन्दीगृह) को भी समुदाय की अपेक्षा सीमावर्ती समुदाय का उदाहरण माना जाता है। जेल में समुदाय के अनेक लक्षण पाए जाते हैं। यह व्यक्तियों का समूह है। इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है, इसके सदस्यों में कुछ सीमा तक हम की भावना पाई जाती है, इसमें रहने के कुछ सर्वमान्य नियम होते हैं तथा इसका एक विशिष्ट नाम होता है। मैकाइवर एवं पेज ने जेल को समुदाय कहा है क्योंकि यह (यथा विहार व आश्रम जैसे अन्य समूह) प्रादेशिक आधार पर बने होते हैं। वास्तव में ये सामाजिक जीवन के क्षेत्र ही हैं। उन्होंने जेल में कार्यकलापों के सीमित क्षेत्र के तर्क को अस्वीकार कर दिया क्योंकि मानवीय कार्यकलाप ही सदैव समुदाय की प्रकृति के अनुरूप परिणत होते हैं। परन्तु जेल को समुदाय नहीं माना जा सकता—एक तो इसमें कैदियों का सामान्य जीवन व्यतीत नहीं होता अर्थात् वे सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते हैं। दूसरे, उनमें सामुदायिक भावना का भी अभाव पाया जाता है। तीसरे, जेल का विकास भी स्वत: नहीं होता है। अत: जेल एक समुदाय नहीं है।

4. क्या राज्य एक समुदाय है?–राज्य भी व्यक्तियों का समूह है। इसमें समुदाय के अनेक अन्य लक्षण (जैसे विशिष्ट नाम, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, मूर्त समूह, नियमों की व्यवस्था इत्यादि) पाए जाते हैं। परन्तु राज्य को समुदाय नहीं माना जा सकता है। समुदाय के विपरीत, राज्य के निश्चित उद्देश्य होते हैं। राज्य निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया समूह है, न कि सामान्य व सर्वमान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए। साथ ही, इसका विकास स्वत: नहीं होता अपितु यह व्यक्तियों के चेतन प्रयासों का परिणाम है।

जाति, पड़ोस, जेल (बन्दीगृह) तथा राज्य की तरह राजनीतिक दल, धार्मिक संघ, क्लब, परिवार इत्यादि भी सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। इनमें भी कुछ विशेषताएँ समुदाय की पाई जाती हैं तो कुछ विशेषताएँ समिति की होती हैं। ये समुदाय तो नहीं हैं परन्तु कुछ विशेषताओं के कारण इनके समुदाय होने का भ्रम उत्पन्न होता है।

गाँव, नगर, शरणार्थियों के कैम्प, जनजाति तथा खानाबदोशी झुण्ड सीमावर्ती समुदाय के प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं क्योंकि इनमें समुदाय के आधारभूत तत्त्व एवं प्रमुख विशेषताएँ पाई जाती हैं।

5.4 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय

समुदाय को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, ग्रामीण समुदाय तथा द्वितीय, नगरीय समुदाय। प्रारम्भ में व्यक्ति को खेती करने का ज्ञान नहीं था। वह खाने-पीने की वस्तुएँ जुटाने के लिए इधर-उधर भटकता फिरता था। किन्तु शनैः शनैः उसने खेती करना सीखा। जहाँ उपजाऊ जमीन थी, वहीं पर कुछ लोग स्थायी रूप से बस गए और खेती करने लगे। इस प्रकार कुछ परिवारों के लोगों के एक ही भू-खण्ड पर निवास करने, सुख-दुःख में एक-दूसरे का हाथ बँटाने और मिलकर प्रकृति से संघर्ष करने से उनमें सामुदायिक भावना का विकास हुआ। इसी से ग्रामीण समुदायों की उत्पत्ति हुई। ग्रामीण समुदाय की परिभाषा देना एक कठिन कार्य है क्योंकि गाँव की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है।

गाँव अथवा ग्रामीण समुदाय का अर्थ परिवारों का वह समूह कहा जा सकता है जो एक निश्चित क्षेत्र में स्थापित होता है तथा जिसका एक विशिष्ट नाम होता है। गाँव की एक निश्चित सीमा होती है तथा

गाँववासी इस सीमा के प्रति सचेत होते हैं। उन्हें यह पूरी तरह से पता होता है कि उनके गाँव की सीमा ही उसे दूसरे गाँवों से पृथक् करती है। इस सीमा में उस गाँव के व्यक्ति निवास करते हैं, कृषि तथा इससे सम्बन्धित व्यवसाय करते हैं तथा अन्य कार्यों का सम्पादन करते हैं। सिम्स (Sims) के अनुसार, ''गाँव वह नाम है, जो कि प्राचीन कृषकों की स्थापना को साधारणतः दर्शाता है।''

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गाँवों का उद्‌भव सामाजिक संरचना में आए उन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से हुआ जहाँ खानाबदोशी जीवन की पद्धति, जो शिकार, भोजन संकलन तथा अस्थायी कृषि पर आधारित थी, का संक्रमण स्थायी जीवन में हुआ। आर्थिक तथा प्रशासनिक शब्दों में गाँव तथा नगर बसावट के दो प्रमुख आधार जनसंख्या का घनत्व तथा कृषि-आधारित आर्थिक क्रियाओं का अनुपात हैं। गाँव में जनसंख्या का घनत्व कम होता है तथा अधिकांश जनसंख्या कृषि एवं इससे सम्बन्धित व्यवसायों पर आधारित होती है।

नगर अथवा नगरीय समुदाय से अभिप्राय एक ऐसी केन्द्रीयकृत बस्तियों के समूह से है जिसमें सुव्यवस्थित केन्द्रीय व्यापार क्षेत्र, प्रशासनिक इकाई, आवागमन के विकसित साधन तथा अन्य नगरीय सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं। नगर की परिभाषा देना भी एक कठिन कार्य है। अनेक विद्वानों ने नगर की परिभाषा जनसंख्या के आकार तथा घनत्व को सामने रखकर देने का प्रयास किया है। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) इससे बिलकुल सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि सामाजिक दृष्टि से नगर परिस्थितियों की उपज होती है। उनके अनुसार नगर ऐसा समुदाय है जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विषमता पाई जाती है। यह कृत्रिमता, व्यक्तिवादिता, प्रतियोगिता एवं घनी जनसंख्या के कारण नियन्त्रण के औपचारिक साधनों द्वारा संगठित होता है। सोमबर्ट (Sombart) ने घनी जनसंख्या पर बल देते हुए इस सन्दर्भ में कहा है कि ''नगर वह स्थान है जो इतना बड़ा है कि उसके निवासी परस्पर एक-दूसरे को नहीं पहचानते हैं।'' निश्चित रूप से नगरीय समुदाय का विस्तार ग्रामीण समुदाय की तुलना में अधिक बड़े क्षेत्र पर होता है।

ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में अन्तर करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि इन दोनों में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती है। वास्तव में, ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों की विशेषताएँ आज इस प्रकार आपस में मिल

गई हैं कि कुछ विद्वानों ने ग्राम-नगर सांतत्यक (Rural-urban continuum) की बात करनी शुरू कर दी है। दोनों में अन्तर करने की कठिनाइयों के बावजूद कुछ बिन्दुओं के आधार पर अन्तर किया जा सकता है। ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में अग्रलिखित प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर अन्तर पाए जाते हैं—

1. व्यवसाय—ग्रामीण समुदाय में व्यक्ति अधिकतर कृषि व्यवसाय पर आश्रित हैं। नगरीय समुदाय में व्यवसायों में भिन्नता होती है। नगरीय समुदायों में एक ही परिवार के सदस्य भी भिन्न-भिन्न तरह के व्यवसाय करते हैं।

2. प्रकृति के साथ सम्बन्ध—ग्रामीण व्यक्तियों का प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तथा वे अपने व्यवसाय के लिए भी प्राकृतिक साधनों पर आश्रित हैं। नगरीय समुदाय में प्रकृति से पृथक्करण पाया जाता है एवं कृत्रिम वातावरण की प्रधानता पाई जाती है।

3. समुदाय का आकार—ग्रामीण समुदाय में सदस्यों की संख्या सीमित होती है। लघुता के कारण सम्बन्ध प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत होते हैं। नगरीय समुदाय का आकार बड़ा होता है तथा सभी सदस्यों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध सम्भव नहीं हैं।

4.जनसंख्या का घनत्व—ग्रामीण समुदाय में जनसंख्या कम होती है। विस्तृत खेतों के कारण जनसंख्या का घनत्व भी बहुत कम पाया जाता है। इससे अनौपचारिक, प्रत्यक्ष एवं सहज सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता मिलती है। नगरीय समुदाय में जनसंख्या का घनत्व अधिक पाया जाता है। इसलिए बड़े नगरों में स्थान कम होने के कारण जनसंख्या के आवास की समस्या अधिक पाई जाती है।

5. सजातीयता तथा विजातीयता—ग्रामीण समुदाय के सदस्यों का व्यवसाय एक-सा होता है। उनका रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज तथा जीवन-पद्धति भी एक जैसी होती है, अत: उनके विचारों में भी समानता पाई जाती है। नगरीय समुदाय में रहन-सहन में पर्याप्त अन्तर होता है। इसमें विजातीयता अधिक पाई जाती है। सदस्यों की जीवन-पद्धति एक जैसी नहीं होती है।

6. सामाजिक स्तरीकरण तथा विभिन्नीकरण—ग्रामीण समुदाय में आयु तथा लिंग के आधार पर विभिन्नीकरण बहुत ही कम होता है। इसमें जातिगत सामाजिक स्तरीकरण की प्रधानता होती है। नगरीय समुदाय में विभिन्नीकरण अधिक पाया जाता है। इसमें स्तरीकरण का आधार केवल जाति न होकर वर्ग भी होता है।

7**. सामाजिक गतिशीलता–ग्रा**मीण समुदाय के सदस्यों में सामाजिक गतिशीलता बहुत कम पाई जाती है। व्यवसाय तथा सामाजिक जीवन एक होने के कारण गतिशीलता की अधिक सम्भावना भी नहीं रहती। व्यक्ति की प्रस्थिति प्रदत्त आधार (जैसे जाति, परिवार इत्यादि) पर निर्धारित होती हैं। नगरीय समुदाय में सामाजिक तथा व्यावसायिक गतिशीलता अधिक पाई जाती है। व्यक्ति अर्जित गुणों के आधार पर प्रस्थिति प्राप्त करता है।

8. सामाजिक अन्तर्क्रियाओं की व्यवस्था—ग्रामीण समुदाय में अन्तर्क्रियाओं का क्षेत्र भी सीमित होता है। नगरीय समुदाय में व्यक्तियों में सम्पर्क अधिक होते हैं तथा अन्तर्क्रियाओं का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

9. प्राथमिक तथा द्वितीयक सम्बन्ध—सीमित आकार होने के कारण ग्रामीण समुदाय में प्राथमिक सम्बन्ध पाए जाते हैं। सम्बन्धों में अनौपचारिकता, सहजता तथा सहयोग पाया जाता है। सम्बन्ध स्वयं साध्य हैं। ये किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित नहीं किए जाते हैं। अधिक विस्तृत क्षेत्र होने के कारण नगरीय समुदाय में द्वितीयक सम्बन्ध पाए जाते हैं। सम्बन्धों में औपचारिकता अथवा कृत्रिमता पाई जाती है।

10. धर्म की महत्ता—ग्रामीण समुदाय में धर्म अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जीवन के प्रत्येक पहलू में धार्मिक विचारों की प्रभुता स्पष्ट देखी जा सकती है। नगरीय समुदाय में धर्म की महत्ता कम होती है। वहाँ धर्मनिरपेक्ष विचारधाराएँ अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं।

11. सामाजिक नियन्त्रण—ग्रामीण समुदाय में परम्पराओं, प्रथाओं, जनरीतियों तथा लोकाचारों की प्रधानता पाई जाती है। सामाजिक नियन्त्रण भी इन्हीं अनौपचारिक साधनों द्वारा रखा जाता है। नगरीय समुदाय में प्रथाओं, परम्पराओं व लोकाचारों से नियन्त्रण करना सम्भव नहीं है। नगरों में औपचारिक नियन्त्रण के साधन जैसे राज्य, कानून, शिक्षा आदि अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

5.5 समुदाय एवं समाज में अन्तर

समाज व्यक्तियों का संकलन मात्र नहीं है। यह व्यक्तियों में पाए जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों का जाल (व्यवस्था या ताना-बाना) है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त हैं अत: समाज को भी अमूर्त माना गया है। समुदाय एक ऐसा समूह है जोकि किसी निश्चित भौगोलिक सीमाओं में निवास करता है। इसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाई जाती है। समुदाय तथा समाज में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

1.समुदाय व्यक्तियों का समूह है।समाज व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है।

2.समुदाय एक मूर्त अवधारणा है।समाज एक अमूर्त अवधारणा है।

3.समुदाय के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना आवश्यक है।समाज के लिए निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक नहीं है। यह असीम होता है।

4.समुदाय में सहयोगी सम्बन्धों का होना आवश्यक है। समाज में सभी प्रकार के सहयोगी तथा असहयोगी सम्बन्ध पाए जाते हैं। इसमें समानता तथा असमानता दोनों ही पाई जाती है।

5.समुदाय के लिए सामुदायिक भावना का होना आवश्यक है।समाज में विभिन्न हितों से सम्बन्धित अनेक समूह होते हैं। अतएव इसमें सामुदायिक भावना सम्भव नहीं है।

6.समुदाय एक सीमित अवधारणा है। अत: एक समुदाय में समाज निहित नहीं हो सकता।एक समाज के अन्दर कई समुदाय हो सकते हैं। समाज एक विस्तृत अवधारणा है तथा एक समाज का निर्माण अनेक समुदायों से मिलकर होता है।

5.6 शब्दावली

समुदाय — किसी सीमित क्षेत्र के अन्दर रहने वाले सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है। इसके सदस्यों में कुछ अंशों तक हम की भावना पाई जाती है।

5.7 अभ्यास प्रश्न

1. समुदाय किसे कहते हैं? समुदाय की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।

2. समुदाय को परिभाषित कीजिए तथा ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय में अन्तर बताइए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Bottomore, T. B., Sociology : A Guide to Problems and Literature, London : Allen and Unwin, 1969.
- Bogardus, E. S., Introduction to Sociology, Los Angeles : University of Southern California Press, 1917.
- Cooley, C. H., Social Organization, Glencoe : The Free Press, 1962.
- Davis, Kingsley, Human Society, New York : MacMillan Company, 1949.
- Fairchild, H. P. (ed.), Dictionary of Sociology, London : Vision, 1958.

इकाई –6

समिति

Association

इकाई की रूपरेखा

6.0 उददेश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 समिति
6.3 समिति के अनिवार्य तत्व
6.4 समिति की प्रमुख विषेषतायें
6.5 समिति के प्रकार
6.6 समाज एवं समिति में अन्तर
6.7 संस्था – अर्थ एवं परिभाषा
6.8 संस्था की विशेषतायें
6.9 संस्था के प्रकार
6.10 संस्थाओं के सामाजिक कार्य एवं महत्व
6.11 समिति एवं संस्था में अन्तर
6.12 शब्दावली
6.13 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.0 उददेश्य

इस इकाई का मुख्य उददेश्य समिति संस्था तथा इनकी प्रमुख विषेषताओं तथा महत्व का ज्ञान प्राप्त करना है।

6.1 प्रस्तावना

समाजकार्य के किसी भी विद्यार्थी को इस विषय को पढ़ने से पहले इसकी अवधारणाओं को समझ लेना चाहिए। सच में देखा जाए तो अवधारणाएँ अपने औपचारिक रूप में निश्चित और स्पष्ट होती हैं। समाजशास्त्र की एक निश्चित पारिभाषिक शब्दावली है इससे विद्यार्थी का पूरा सम्पर्क होना चाहिए। इसलिए मैकाईवर तथा पेज ने कहा कि समाजशास्त्र में भी प्रत्येक विज्ञान और ज्ञान षाखा की तरह अपने निजी पारिभाषिक उपकरणों का एक परिवार है। इसलिए समाजशास्त्र के विद्यार्थी को चाहिए कि वह प्रारंभिक अभ्यास की तरह कुछ प्राथमिक अवधारणाओं को जो कि उसके अध्ययन क्षेत्र के आधार हैं, पकड़ लें और याद कर लें।

अवधारणाएँ केवल शब्द नहीं है। कोई भी शब्दकोष शब्दों के अर्थ को तो देता है लेकिन इन शब्दों में निहित जो ऐतिहासिक और विधि सम्बन्धी अर्थ निहित होते हैं, उनकी व्याख्या नहीं देता। कोई भी समाज विज्ञान तभी समृद्ध होगा जब उसके पास अधिकारिक अवधारणाएँ होंगी। यहाँ हम समाजशास्त्र की कतिपय अवधारणाओं की व्याख्या करेंगे, जो सामान्यतया समाजशास्त्र में पायी जाती हैं।

6.2 समिति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी असीमित इच्छाएँ व आवश्यकताएँ हैं। जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए व्यक्ति अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है। मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के मतानुसार इन आवश्यकताओं या लक्ष्यों को पूरा करने के तीन ढंग हो सकते हैं—प्रथम, व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को स्वतन्त्र रूप से अकेले ही बिना किसी की सहायता लिए स्वयं पूरा कर ले, परन्तु यह एक तो असामाजिक ढंग है तथा दूसरे अत्यन्त दुष्कर है; द्वितीय, व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरे के हितों का हनन करे व उनसे संघर्ष करे। यह ढंग भी समाज-विरोधी प्रवृत्ति को अधिक स्पष्ट करता है। यद्यपि संघर्ष जीवन का ही एक अंग है फिर भी यह असामाजिक है। समाज द्वारा इस तरीके को मान्यता प्रदान नहीं की जाती; तथा तृतीय, व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को दूसरे व्यक्तियों के सहयोग से पूरा करे। यह एक सामाजिक ढंग है। आवश्यकताओं को पूरा करने का तीसरा ढंग समिति का आधार है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के आधार पर मिल-जुलकर लक्ष्यों को पूरा करने वाले समूह या संगठन को हम समिति कह सकते हैं।

6.2.1 समिति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

समिति व्यक्तियों का समूह है। यह किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। परिवार, विद्यालय, व्यापार संघ, चर्च (धार्मिक संघ), राजनीतिक दल, राज्य इत्यादि समितियाँ हैं। इनका निर्माण विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। उदाहरणार्थ—विद्यालय का उद्देश्य शिक्षण तथा व्यावसायिक तैयारी है। इसी प्रकार, श्रमिक संघ का उद्देश्य नौकरी की सुरक्षा, उचित पारिश्रमिक दरें, कार्य की स्थितियाँ इत्यादि को ठीक रखना है। साहित्यकारों या पर्वतारोहियों के संगठन भी समिति के ही उदाहरण हैं। जिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, ''समिति आपस में सम्बन्धित सामाजिक प्राणियों का

एक समूह है, जो एक निश्चित लक्ष्य या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए एक सामान्य संगठन का निर्माण करते हैं।''मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार, ''सामान्य हित या हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के सहयोग के साथ सोच-विचार कर संगठित किए गए समूह को समिति कहते हैं।''गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, ''समिति व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो किसी विशेष हित या हितों के लिए संगठित होता है तथा मान्यता प्राप्त या स्वीकृत विधियों और व्यवहार द्वारा कार्य करता है।'' इसी भाँति, बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, ''समिति प्राय: किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लोगों का मिल-जुलकर कार्य करना है।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह होता है जिसमें सहयोग व संगठन पाया जाता है। इसका प्रमुख उद्देश्य किसी लक्ष्य की पूर्ति है। समिति के सदस्य अपने विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति कुछ निश्चित नियमों के अन्तर्गत सामूहिक प्रयास द्वारा करते हैं।

6.3 समिति के अनिवार्य तत्त्व

समिति के निम्नलिखित चार अनिवार्य तत्त्व हैं—

1. व्यक्तियों का समूह—समिति समुदाय की ही तरह मूर्त है। यह व्यक्तियों का एक संकलन है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियों का होना समिति के निर्माण हेतु अनिवार्य है।

2. सामान्य उद्देश्य—समिति का दूसरा आवश्यक तत्त्व सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों का होना है। व्यक्ति इन्हीं सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो संगठन बनाते हैं उसे ही समिति कहा जाता है।

3. पारस्परिक सहयोग—सहयोग समिति का तीसरा अनिवार्य तत्त्व है। इसी के आधार पर समिति का निर्माण होता है। सहयोग के बिना समिति का कोई अस्तित्व नहीं है।

4. संगठन—समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन का होना भी आवश्यक है। संगठन द्वारा समिति की कार्यप्रणाली में कुशलता आती है।

समिति के निर्माण हेतु उपर्युक्त चारों तत्त्वों का होना अनिवार्य है। वस्तुत: समितियों का निर्माण अनेक आधारों पर किया जाता है। अवधि के आधार पर समिति स्थायी (जैसे राज्य) एवं अस्थायी (जैसे बाढ़ सहायता समिति); सत्ता के आधार पर सम्प्रभु (जैसे राज्य), अर्द्ध-सम्प्रभु (जैसे विश्वविद्यालय) एवं असम्प्रभु (जैसे क्लब); कार्य के आधार पर जैविक (जैसे परिवार), व्यावसायिक (जैसे श्रमिक संघ), मनोरंजनात्मक (जैसे संगीत क्लब) एवं परोपकारी (जैसे सेवा समिति) हो सकती हैं।

6.4 समिति की प्रमुख विशेषताएँ

समिति की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं। इनमें से प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. मानव समूह—समिति का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों के समूह से होता है जिसका एक संगठन होता है। संगठन होने का आधार उद्देश्य या उद्देश्यों की समानता है।

2. निश्चित उद्देश्य—समिति के जन्म के लिए निश्चित उद्देश्यों का होना आवश्यक है। यदि निश्चित उद्देश्य न हों तो व्यक्ति उनकी पूर्ति के लिए तत्पर न होंगे और न ही समिति का जन्म होगा।

3. **पारस्परिक सहयोग**—समिति अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक व्यवस्था का निर्माण करती है। उद्देश्य की प्राप्ति तथा व्यवस्था के लिए सहयोग होना अति आवश्यक है। चूँकि सदस्यों के समान उद्देश्य होते हैं, इस कारण उनमें सहयोग पाया जाता है।

4. ऐच्छिक सदस्यता—प्रत्येक मनुष्य की अपनी आवश्यकताएँ हैं। जब वह अनुभव करता है कि अमुक समिति उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकती है तो वह उसका सदस्य बन जाता है। समिति की सदस्यता के लिए कोई बाध्यता नहीं होती है। इसकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। इसे कभी भी बदला जा सकता है।

5. अस्थायी प्रकृति—समिति का निर्माण विशिष्ट उद्देश्यों को पूर्ति के लिए किया जाता है। जब उद्देश्यों की प्राप्ति हो जाती है तो वह समिति समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—गणेशोत्सव के लिए गठित समिति गणेशोत्सव समाप्त होने के बाद भंग हो जाती है।

6. **विचारपूर्वक स्थापना**—समिति की स्थापना मानवीय प्रयत्नों के कारण होती है। व्यक्तियों का समूह पहले यह परामर्श करता है कि समिति उनके लिए कितनी लाभप्रद होगी। यह विचार-विमर्श करने के पश्चात् ही समिति की स्थापना की जाती है।

7. **नियमों पर आधारित**—प्रत्येक समिति की प्रकृति अलग होती है। इसी कारण समितियों के नियम भी अलग-अलग होते हैं। उद्देश्यों को पाने के लिए व सदस्यों के व्यवहार में अनुरूपता (Conformity) लाने के लिए कतिपय निश्चित नियम आवश्यक हैं। नियमों के अभाव में समिति अपने लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर सकती।

8. **मूर्त संगठन**—समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो कतिपय लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु एकत्र होते हैं। इस दशा में समिति को मूर्त संगठन के रूप में वर्णित किया जा सकता है। इसको किसी के भी द्वारा देखा जा सकता है।

9. समिति साधन है, साध्य नहीं—समितियों का निर्माण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। यदि हम पढ़ने के शौकीन हैं, तो वाचनालय की सदस्यता ग्रहण कर लेते हैं। इससे हमें इच्छानुसार पुस्तकें मिलती रहती हैं। इसमें वाचनालय पुस्तकें प्राप्त करने का साधन है, साध्य नहीं; और यही समिति है। अत: हम कह सकते हैं कि समिति साधन है साध्य नहीं।

10. सुनिश्चित संरचना—प्रत्येक समिति की एक सुनिश्चित संरचना होती है। समस्त सदस्यों की प्रस्थिति समान नहीं होती, वरन् उनकी अलग-अलग प्रस्थिति या पद होते हैं। पदों के अनुसार ही उन्हें अधिकार प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए—महाविद्यालय में प्राचार्य, अध्यापक, छात्र, लिपिक इत्यादि प्रत्येक की अलग-अलग प्रस्थिति होती है तथा तदनुसार उनके अलग-अलग कार्य होते हैं।

6.5 समितियों के प्रकार

समिति की संरचना के आधार पर समितियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—औपचारिक समितियाँ एवं अनौपचारिक समितियाँ। इन दोनों को निम्नांकित प्रकार से समझा जा सकता है—

(अ) औपचारिक समितियाँ—औपचारिक समिति का आदर्श रूप वही है जो समिति की विभिन्न परिभाषाओं में दिखाया गया है। किसी विशिष्ट हित या हितों की प्राप्ति के लिए जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक औपचारिक एवं स्पष्ट कार्यपद्धति के अनुसार संगठित होते हैं तो उसे औपचारिक समिति कहा जाता है। ऐसी समितियों में सम्पूर्ण कार्य को निश्चित भागों में तार्किक आधार पर बाँट दिया जाता है और उसी के अनुरूप प्रत्येक कार्य के लिए निश्चित पदों का सृजन किया जाता है। प्रत्येक पद के अधिकार और कर्त्तव्य सुपरिभाषित होते हैं। औपचारिक नियमों के आधार पर प्रत्येक पद के लिए उपयुक्त योग्यता का व्यक्ति चयन द्वारा नियुक्त किया जाता है। उसका वेतनक्रम, उन्नति का प्रावधान, प्रशिक्षण आदि सभी सेवा सम्बन्धी नियम स्पष्ट होते हैं। इसी भाँति, निरीक्षण एवं नियन्त्रण के नियम भी पूर्व-निर्धारित होते हैं।

ऐसी औपचारिक समितियों के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं; जैसे—कॉलेज की प्रबन्ध समिति, राजनीतिक दल, सरकारी कार्यालय, मजदूर संघ अथवा छात्र संघ। उदाहरणार्थ—किसी छात्र संघ को लिया जा सकता है जिसका निर्माण निश्चित, लिखित व स्पष्ट संविधान के आधार पर किया जाता है। इस संविधान में छात्र संघ के उद्देश्य, औपचारिक संगठन की रूपरेखा, नेताओं के चयन की पद्धति एवं संघ के कार्यों का स्पष्ट समावेश होता

है। संघ की सभाओं के सम्बन्ध में पूर्व सूचना सम्बन्धी नोटिस के नियम, न्यूनतम अनिवार्य उपस्थिति (कोरम) के नियम, प्रस्ताव अनुमोदन के नियम आदि सभी दिए जाते हैं। बजट और कार्यक्रम के नियम भी होते है। यदि पदासीन नेताओं और विरोधी पक्ष में किसी विषय पर मतभेद हो जाए तो विवादास्पद विषय पर निर्णय कैसे होगा, यह निर्णय कौन देगा आदि भी पहले से ही तय होता है। ऐसे औपचारिक नियमों के अभाव में छात्र संघ की कल्पना करना भी कठिन है।

इस भाँति, औपचारिक समिति के प्रमुख लक्षण इस प्रकार हैं—

1. विशिष्ट नाम,
2. सुघोषित उद्देश्य,
3. स्पष्ट नेतृत्व,
4. औपचारिक संविधान,
5. निरीक्षण एवं नियन्त्रण की व्यवस्था (पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा),
6. कार्य-क्षेत्र की परिधि, तथा
7. विशिष्ट चिह्न, यदि कोई हो तो।

(ब) अनौपचारिक समितियाँ—अनौपचारिक समितियाँ ऊपर (सतह) से ही परस्पर दो विरोधी शब्द लगते हैं क्योंकि अधिकांशत: समिति की परिभाषा औपचारिक नियमों की विद्यमानता के आधार पर ही की जाती है। परन्तु यदि हम सतह से नीचे गहराई में देखें तो यह एक यथार्थ है कि अनेक समितियाँ अनौपचारिक रूप से विकसित होती हैं और कार्य करती हैं। इसके सदस्य विशिष्ट हितों के लिए मिल-जुल कर कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं। औपचारिक रूप से चयन न होने पर भी उसमें स्पष्ट नेतृत्व उभर का कर सामने आ जाता है और उसकी प्रभाविता भी साफ दिखाई देती है। ऐसी समितियों के सदस्य भी अपने व्यवहार के आदर्श एवं नियम विकसित कर लेते हैं जो परस्पर सहमति के परिणाम होते हें। ये नियम अथवा आचरण के प्रतिमान, चाहे लिखित या औपचारिक न हों, परन्तु उनके प्रति सदस्यों में उच्च स्तर की प्रतिबद्धता पाई जाती है। अनौपचारिकता की मात्रा के आधार पर नीचे दो अनौपचारिक समितियों (मित्र-मण्डली एवं परिवार) के उदाहरण दिए जा रहे हैं।

मित्र-मण्डली भी एक विशेष प्रकार की समिति है। जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की सहज पूर्ति व स्नेहमय सहयोग के लिए पारस्परिक आकर्षण के आधार पर इस मित्र-मण्डली का निर्माण होता है। यद्यपि यह सही है कि उनमें आपस में कोई लिखित विधान लागू नहीं होता, परन्तु मित्रों के आचरण के भी कुछ आदर्श होते हैं। मित्रों से आशा की जाती है कि वे एक-दूसरे से कुछ छिपायेंगे नहीं। एक-दूसरे के परिवार को अपने परिवार के समान मानेंगे। आवश्यकता पड़ने पर यथासम्भव एक-दूसरे की सहायता करेंगे। विपदा के समय यह सहायता सामान्य सीमाओं से भी परे हो सकती है। धीरे-धीरे उस मित्र-मण्डली के बीच भी कोई एक निर्णायक के पद पर पहुँच जाता है जिसके सुझावों व निर्देशों में सभी को विश्वास है और जो मित्र-मण्डली का नायक बन जाता है। इन उपर्युक्त अलिखित आदर्शों का उल्लंघन करने वाला ऐसी मित्र-मण्डली से या तो खुद ही बाहर हो जाता है या बाहर कर दिया जाता है।

यदि हम परिवार को देखें तो उसमें मित्र-मण्डली की अपेक्षा औपचारिकता और सहजता अधिक होती है। भारतीय परिवेश में पिता और सन्तान के सम्बन्ध निश्चित ही औपचारिकता का सम्बन्ध लिए हुए होते हैं। पिता

की प्रभुता में औपचारिकता का अंश है परन्तु फिर भी परिवार को औपचारिक समिति नहीं कहा जा सकता। यह तो स्त्री–पुरुष के मध्य समाज द्वारा स्वीकृत ऐसे स्थायी यौन सम्बन्धों पर आधारित होता है जिसमें बालकों का प्रजनन और लालन–पालन हो सके। परिवार में सहजता, अनौपचारिकता, स्नेह, निस्स्वार्थ सहयोग और व्यक्तिगत सम्बन्ध पाए जाते हैं। इसीलिए हम इसे अनौपचारिक समिति की श्रेणी में रखते हैं।

ऐसी अनेक अनौपचारिक समितियों में किसी गुप्त क्रान्तिकारी दल या आतंकवादी दल को भी लिया जा सकता है। सच तो यह है कि आधुनिक समाजशास्त्रियों के विचार में आज का युग जटिल समाज का युग है। इस समाज में विभिन्न हितों (राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि) के लिए बड़े–बड़े औपचारिक संगठनों का निर्माण किया जाता है। जैसे एक विश्वविद्यालय लाखों विद्यार्थियों के हित हेतु स्थापित किया जाता है। अनेक आचार्य उससे सम्बद्ध होते हैं। इसी भाँति, किसी बड़े उद्योग संस्थान अथवा पुलिस संगठन को लिया जा सकता है। परन्तु यह देखा गया है कि इन सभी औपचारिक संगठनों में दो प्रकार की संरचनाएँ विकसित हो जाती हैं— एक तो वैधानिक–औपचारिक संरचना है और दूसरी वह अनौपचारिक संरचना है जो पदाधिकारी व अन्य कर्मचारी धीरे–धीरे पारस्परिक परिचय व घनिष्ठता के आधार पर हितों के संरक्षण एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विकसित कर लेते हैं। वह ऐसे वृहत् संरक्षण का अनौपचारिक पक्ष होता है। प्रत्येक संगठन में ऐसे अनौपचारिक गुट पाए जाते हैं जो यान्त्रिक औपचारिक कार्यप्रणाली के दबाव, दूरी, उबाऊपन या जटिलता से बचने के लिए पारस्परिकता पर आधारित सहज अनौपचारिक कार्यप्रणाली विकसित कर लेते हैं। ये उन्हें सहज, सरल व अनौपचारिक क्रियाशीलता प्रदान करते हैं। वास्तव में, प्रत्येक संगठन में ऐसी अनौपचारिक संरचना अधिक प्रभावपूर्ण और क्रियाशील होती है।

इस भाँति, अनौपचारिक समिति के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

1. समान हित,
2. पारस्परिक परिचय एवं सम्पर्क,
3. कार्यप्रणाली की सहजता एवं सरलता,
4.वैयक्तिक सम्बन्ध,
5. अनौपचारिक नियमावली, तथा
6.सहमति के आधार पर स्वत: विकसित सहज नेतृत्व।

6.5.1 औपचारिक एवं अनौपचारिक समितियों में तुलना

औपचारिक एवं अनौपचारिक समितियों की तुलना इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों में कुछ लक्षण समान हैं और जो अन्तर हैं वे मात्रा के हैं किस्म के नहीं। इसलिए तो दोनों के साथ समितियाँ शब्द लगा हुआ है। समानता की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दोनों ही हित–प्रधान सामाजिक संगठन हैं जो किसी विशेष लक्ष्य या लक्ष्यों की प्राप्ति की ओर उन्मुख हैं। दूसरे, दोनों में ही आचरण के कुछ आदर्श और नियम होते हैं। तीसरे, दोनों में ही स्पष्ट नेतृत्व है और अन्तिम रूप से, दोनों में ही सदस्य अभिमति (Sanctions) द्वारा नियन्त्रित होते हैं अर्थात् किसी भी सदस्य के किसी व्यवहार के प्रति अन्य सहयोगी कैसी प्रतिक्रिया करेंगे, वे उसका अनुमोदन करेंगे या उसके विरुद्ध कार्यवाही करेंगे, यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसी से प्रत्येक सदस्य नियन्त्रित होता है।

औपचारिक एवं अनौपचारिक समितियों में निम्नांकित प्रमुख अन्तर हैं—

1. औपचारिक समितियों में लिखित व यान्त्रिक प्रक्रिया होती है, जबकि अनौपचारिक समितियों में नियमावली परस्पर सहमति के आधार पर सर्वमान्य होती है । वह स्वत: विकसित होती है और अधिकांशत: अलिखित होती है।

2. औपचारिक समितियों में नेतृत्व का स्वरूप पदों के अनुसार होता है, जबकि अनौपचारिक समितियों में वह स्वत: विकसित और सहज होता है।

3. औपचारिक समितियों के सदस्यों में अवैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं, जबकि अनौपचारिक समितियों का निर्माण ही पारस्परिक परिचय व सम्बन्धों की घनिष्ठता के आधार पर होता है। इसलिए उसके सदस्यों के सम्बन्ध वैयक्तिक अधिक और अवैयक्तिक कम होते हैं।

4. औपचारिक समितियों के उद्देश्यों में सार्वभौमिकता अथवा सामान्यता अधिक होती है, जबकि अनौपचारिक समितियाँ सदस्यों के सार्वभौमिक हितों की अपेक्षा उनके अपने हितों की पूर्ति पर अधिक जोर देती है।

5. औपचारिक समितियों में नियन्त्रण औपचारिक दृष्टि से पुरस्कार या दण्ड के द्वारा होता है, जबकि अनौपचारिक समितियों में सदस्यों का जनमत अथवा मतैक्य अधिक प्रभावपूर्ण होता है।

यथार्थ में किसी भी संगठन की संरचना दो पहलुओं में होती है—औपचारिक एवं अनौपचारिक। यही संगठित सामाजिक जीवन की एक वास्तविकता है।

6.6 समाज एवं समिति में अन्तर

समाज एवं समिति दोनों अलग-अलग अवधारणाएँ हैं। समाज व्यक्तियों में पाए जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना या जाल है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं, अत: समाज भी अमूर्त है। समिति व्यक्तियों द्वारा किसी निश्चित उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाया गया एक मूर्त संगठन है। समाज एवं समिति में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

समाज/समिति

1. समाज व्यक्तियों के मध्य विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। समिति सामान्य लक्ष्यों की पूर्ति हेतु निर्मित व्यक्तियों का एक समूह है।
2. सामाजिक सम्बन्धों का जाल होने के कारण समाज एक अमूर्त अवधारणा है। व्यक्तियों का समूह होने के कारण समिति एक मूर्त अवधारणा है।
3. समाज की प्रकृति अधिकांशत: स्थायी होती है। समिति पूर्णत: अस्थायी होती है।
4. समाज में सहयोग व संघर्ष का मिश्रित प्रवाह होता है। समिति का आधार सहयोग है। अतएव समिति में पूर्ण सहयोग पाया जाता है।
5. समाज की सदस्यता ऐच्छिक न होकर अनिवार्य है। मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी समाज का सदस्य होता है।समिति की सदस्यता अनिवार्य न होकर ऐच्छिक होती है।
6. समाज में संगठन व विघटन दोनों ही पाए जाते हैं। समिति में पूर्णत: संगठन पाया जाता है।

7. व्यक्ति एक समय में एक ही समाज का सदस्य हो सकता है। व्यक्ति एक समय में अनेक समितियों का सदस्य हो सकता है।
8. समाज का विकास स्वत: होता है।समिति का निर्माण विचारपूर्वक किया जाता है।
9. समाज में समानता तथा भिन्नता दोनों ही पाई जाती हैं। समिति में केवल समानता ही पाई जाती है।
10. समाज एक साध्य है। समिति एक साधन है।

6.6.2 समिति एवं समुदाय में अन्तर

समिति एवं समुदाय दो भिन्न अवधारणाएँ हैं। यद्यपि दोनों ही व्यक्तियों के मूर्त समूह हैं तथापि दोनों में पर्याप्त अन्तर है। समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। समुदाय, इसके विपरीत, व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि एक निश्चित भू–भाग पर रहता है तथा जिसके सदस्यों में सामुदायिक भावना पाई जाती है। समिति एवं समुदाय में पाए जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं—

समिति/समुदाय

1. समिति के लिए निश्चित भू–भाग की आवश्यकता नहीं है। समुदाय के लिए निश्चित भू-भाग का होना आवश्यक है।

2. समिति की स्थापना विचारपूर्वक की जाती है।समुदाय का जन्म स्वत: होता है।

3. उद्देश्य सीमित होने के कारण समिति एक छोटी इकाई है।समुदाय सामान्य जीवन से सम्बन्धित होने के कारण एक बड़ी इकाई है।

4. समिति के उद्देश्य पूर्व–निश्चित होते हैं।समुदाय सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होता है।

5. समिति की सदस्यता अनिवार्य नहीं है।समुदाय की सदस्यता अनिवार्य है।

6. व्यक्ति एक ही समय में कई समितियों का सदस्य बन सकता है।समुदाय में ऐसा होना सम्भव नहीं है।

7. इसकी प्रकृति अस्थायी होती है। उद्देश्य विशेष पर आधारित होने के कारण उसकी पूर्ति के पश्चात् समिति समाप्त हो जाती है।समुदाय में उद्देश्य सामान्य होने के कारण इसकी प्रकृति स्थायी है।

8. समिति के लिए सामुदायिक भावना आवश्यक नहीं है। समुदाय के लिए सामुदायिक भावना का होना आवश्यक तत्त्व है।

9. समितियाँ साधन होती हैं।समुदाय स्वयं साध्य होते हैं।

10. समिति में संगठन आवश्यक है।समुदाय संगठित एवं विघटित दोनों रूपों में कार्य करता है।

समिति एवं समुदाय में उपुर्यक्त अन्तर से स्पष्ट हो जाता है कि समिति व्यक्तियों का विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया समूह है। समुदाय में, समिति के विपरीत, हमारे सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति होती है। समुदाय में हमारा सम्पूर्ण जीवन व्यतीत होता है। समिति हमारे किसी एक उद्देश्य से सम्बन्धित होती है अर्थात् इसका सम्बन्ध जीवन के किसी एक पक्ष से होता है। समिति एक संकुचित अवधारणा है, जबकि समुदाय एक वृहत् अवधारणा है। एक समुदाय के अन्तर्गत अनेक समितियाँ पाई जा सकती हैं। इस सन्दर्भ में मैकाइवर एवं पेज ने उचित ही लिखा है कि, ''एक समिति एक समुदाय नहीं है, बल्कि समुदाय के अन्तर्गत एक संगठन है।''

समाजशास्त्र में प्रयुक्त एक अन्य प्रमुख अवधारणा संस्था की है जिसे अधिकतर समिति के सन्दर्भ में समझा जाता है तथा इसीलिए कई बार दोनों के अर्थ में भ्रान्ति भी हो जाती है। समिति व्यक्तियों का एक समूह है जोकि किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाया गया है। संस्था समिति के उद्देश्यों की पूर्ति की समाज द्वारा मान्य पद्धति है। इसीलिए संस्था शब्द को कार्यप्रणाली, कार्यपद्धति अथवा नियमों की ऐसी व्यवस्था के रूप में प्रयोग किया जाता है जोकि अमूर्त होती है।

6.7 संस्था

सामान्य तौर से संस्था व समिति का एक ही अर्थ लगाया जाता है, परन्तु इन दोनों में कुछ आधारभूत अन्तर हैं। मानव की असीमित आवश्यकताएँ होती हैं। इनकी पूर्ति करने के लिए वह यथासम्भव प्रयास करता है। इन आवश्यकताओं में कुछ आवश्यकताएँ सामान्य होती हैं। इस प्रकार की स्थिति में व्यक्ति परस्पर मिल-जुलकर सामान्य आवश्यकताओं व उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक संगठन बना लेते हैं। व्यक्तियों के इसी संगठन को समिति कहा जाता है। इस प्रकार निर्मित की गई समितियों की सफलता के लिए परस्पर सहयोग की आवश्यकता होती है। समिति का कार्य विधिवत् रूप से चलाने के लिए (अर्थात् समिति के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए) जो साधन, तौर-तरीके, विधियाँ, प्रणालियाँ आदि उपयोग में लाई जाती हैं, उन्हें संस्था कहते हैं। दूसरे शब्दों में, आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो प्रतिमानित व्यवहार-प्रणाली या कार्यविधि होती है, उसे ही संस्था कहते हैं। उदाहरण के लिए—यदि कोई व्यक्ति अपना परिवार बसाना चाहता है तो उसे कुछ नियमों व रीति-रिवाजों का पालन करके विवाह करना होगा। परिवार एक समिति है, जबकि विवाह एक संस्था है। इसी भाँति, कोई महाविद्यालय तो एक समिति है, जबकि नियमों की व्यवस्था होने के कारण परीक्षा पद्धति एक संस्था है। चूँकि परिवार का स्वरूप समाज की मान्यताओं के अनुरूप निर्धारित होता है, इसलिए मूर्त होते हुए भी कई बार परिवार को एक संस्था ही कहा जाता है।

6.7.1 संस्था का अर्थ एवं परिभाषाएँ

संस्थाएँ वे कार्यप्रणालियाँ हैं जिनके द्वारा व्यक्ति, समितियाँ या संगठन अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। ये समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती हैं। कार्यप्रणालियाँ या नियमों की व्यवस्था होने के कारण संस्थाएँ अमूर्त होती हैं। विवाह, उत्तराधिकार, परीक्षा प्रणाली, स्नातकत्व, सामूहिक सौदेबाजी, प्रजातन्त्र इत्यादि संस्थाओं के प्रमुख उदाहरण हैं। संस्था को सामाजिक रीति-रिवाजों का समूह कहा गया है। ऑगबर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के अनुसार, ''सामाजिक संस्थाएँ कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए संगठित एवं स्थापित प्रणालियों को कहते हैं।'' बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, ''सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है जिसको सुस्थापित कार्यविधियों द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।'' ग्रीन (Green) के अनुसार, ''एक संस्था अनेक जनरीतियों और रूढ़ियों (प्राय: अधिकतर पर आवश्यक रूप से नहीं) का ऐसा संगठन होता है जो अनेक सामाजिक कार्य करता है।'' गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, ''एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों (जिनमें क्रियाएँ, विचार, मनोवृत्तियाँ तथा सांस्कृतिक उपकरण सम्मिलित हैं) का वह क्रियात्मक स्वरूप है जिसमें कुछ स्थायित्व होता है और जिसका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना है।'' इसी भाँति, मैकाइवर एवं पेज (MacIver

and Page) के अनुसार, ''संस्थाएँ सामूहिक क्रिया की विशेषता बताने वाली कार्यप्रणाली के स्थापित स्वरूप या अवस्था को कहते हैं।''

संस्था की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि संस्था नियमों या कार्यप्रणालियों की व्यवस्था है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्था का तात्पर्य व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमानों से है जिनके द्वारा परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियों की भूमिकाएँ निश्चित कर दी जाती हैं।

6.8 संस्था की प्रमुख विशेषताएँ

सामाजिक संस्था की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1.सुपरिभाषित उद्देश्य—प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक निश्चित उद्देश्य होता है जिसकी पूर्ति के लिए संस्था का निर्माण किया जाता है। सामाजिक संस्थाओं के उद्देश्य पूर्णत: सुपरिभाषित व स्पष्ट होते हैं।

2.स्थायित्व–सामाजिक संस्था का विकास दीर्घ समय में होता है। जब कोई कार्यविधि दीर्घ समय तक समाज के व्यक्तियों की आवश्यकताओं को सफलतापूर्वक पूरा करती रहती है, तब ही उसे एक संस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है। अतएव साधारणत: स्थायित्व के कारण संस्था में परिवर्तन नहीं होता।

3.सामूहिक अभिमति—सामाजिक संस्था के लिए सामूहिक अभिमति का होना अति आवश्यक है। सामूहिक अभिमति के कारण इसमें स्थायित्व आता है तथा सदस्यों के लिए अधिक प्रभावशाली होती है।

4. नियमों की संरचना—बिना उचित ढाँचे या संरचना के कोई भी सामाजिक संस्था विकसित नहीं हो सकती। ढाँचे से अभिप्राय उन नियमों (लिखित या अलिखित) अथवा कार्यप्रणालियों से है जिनके द्वारा संस्था का काम चलता है तथा उद्देश्यों की प्राप्ति होती है।

5. सामूहिक प्रयत्न—सामाजिक संस्था व्यक्ति विशेष के लक्ष्यों को पूरा न करके, सामूहिक लक्ष्यों की पूर्ति करती है। इस कारण संस्था का विकास या अवनति व्यक्ति विशेष पर आधारित नहीं होती है।

6. प्रतीक—प्रत्येक सामाजिक संस्था के कुछ प्रतीक होते हैं। प्रतीकों की प्रकृति भौतिक या अभौतिक हो सकती है। उदाहरणार्थ—प्रत्येक बैंक या विश्वविद्यालय का अपना प्रतीक होता है। स्त्रियों के लिए विवाह संस्था का प्रतीक मंगलसूत्र है।

7. अमूर्त व्यवस्था—सामाजिक संस्था व्यक्तियों का समूह न होकर कार्यविधियों की व्यवस्था है। कार्यविधि अथवा नियमों की व्यवस्था होने के कारण ही संस्था को अमूर्त व्यवस्था कहा जाता है।

8. सांस्कृतिक व्यवस्था की इकाई–सामाजिक संस्था में अनेक रीतियाँ, प्रथाएँ, जनरीतियाँ व रूढ़ियाँ सम्मिलित होती हैं। ये सभी संस्कृति के अंग है। इनसे मिलकर बनने के कारण संस्था स्वयं सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की इकाई बन जाती है।

6.9 संस्थाओं के प्रकार

संस्थाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार कुछ विशिष्ट संस्थाएँ ऐसी होती हैं जो कई प्रकार की समितियों में मिलती हैं; जैसे—सदस्यता का प्रयत्न, अधिकारियों का निर्वाचन और प्रबन्ध का रूप। परन्तु कुछ अन्य संस्थाएँ भी हैं जो किसी विलक्षण व विशिष्ट प्रकार की समितियों में पाई जाती हैं। एक संस्था

की प्रकृति समिति द्वारा अपनाए गए विशेष हित की प्रकृति पर निर्भर रहती है। इस प्रकार प्रत्येक समिति का एक संस्थात्मक पक्ष होता है। मैकाइवर एवं पेज ने समितियों, संस्थाओं तथा हितों के बीच सम्बन्ध निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया है—

समिति	**विशेष संस्थाएँ**	**विशेष हित**
परिवार	विवाह, घर, उत्तराधिकार।	यौन सम्बन्ध, घर, वंशावली।
कॉलेज	भाषण और परीक्षा प्रणाली, स्नातकत्व।	शिक्षण, व्यावसायिक तैयारी।
व्यापार	लेखा प्रणाली, संस्थापन, अंश-पूँजी।	लाभ।
व्यापार संघ	सामूहिक सौदेबाजी, हड़ताल, धरन	नौकरी सुरक्षा, पारिश्रमिक दरें, कार्य की स्थितियाँ।
चर्च (धार्मिक संघ)	सम्प्रदाय, धर्म, भ्रातृत्व, उपासना के रूप।	धार्मिक विश्वास।
राजनीतिक दल	प्राथमिक इकाइयाँ, दल 'यन्त्र' राजनीतिक मंच।	कार्यालय, शक्ति, सरकारी नीति।
राज्य	संविधान, वैधानिक संहिता, शासन के रूप।	सामाजिक व्यवस्था का साधारण नियमन।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक संस्थाएँ अनेक प्रकार की हैं। आर्थिक संस्थाएँ (जैसे श्रम-विभाजन, सम्पत्ति, बाजार व्यवस्था, इत्यादि), राजनीतिक संस्थाएँ (जैसे संविधान, प्रजातन्त्र आदि), सांस्कृतिक संस्थाएँ (जैसे विवाह आदि), धार्मिक संस्थाएँ (जैसे धर्म आदि), शैक्षणिक संस्थाएँ, मनोरंजनात्मक संस्थाएँ इत्यादि समाज में विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ ही हैं जो समाज के अस्तित्व को बनाए रखती हैं तथा सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

6.10 संस्थाओं के सामाजिक कार्य एवं महत्त्व

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक संस्थाओं के कुछ आधारभूत सामाजिक कार्य बताए हैं जोकि निम्नलिखित हैं—

1. मानव व्यवहार पर नियन्त्रण–सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए सदस्यों का व्यवहार समाज की आशा के अनुरूप होना चाहिए। सामाजिक संस्थाएँ, जोकि सामूहिक अभिमति की अभिव्यक्ति होती हैं, इसमें पूर्ण योगदान देती हैं। सामाजिक संस्था का उल्लंघन करना कोई सरल काम नहीं है।

2. **संस्कृति की वाहक**—सामाजिक संस्थाएँ सांस्कृतिक व्यवस्था का अंग होती हैं। ये सांस्कृतिक विरासत पर आधारित होती हैं। सामाजिक संस्था के नियम और पद्धतियाँ संस्कृति के गुणों को दर्शाते हैं। संस्थाओं के द्वारा संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है।

3. सामाजिक परिवर्तन का कारण—सामाजिक संस्था में रूढ़िवादिता होने के कारण परिवर्तित युग के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं होता और न आवश्यकता ही पूरी हो पाती है। ऐसी दशा में संस्थाओं में परिवर्तन के प्रयत्न सामाजिक परिवर्तन लाते हैं।

4. व्यक्ति के विकास और प्रगति में बाधक—सामाजिक संस्थाएँ कई बार व्यक्ति के विकास और प्रगति में भी बाधा बन जाती हैं। उदाहरणार्थ—व्यक्ति के लिए अपनी जाति या उपजाति के अन्दर विवाह करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसी दशा में रूढ़िवादिता के कारण विभिन्न जातियों में दूरी बनी रहती है।

5. व्यक्ति को प्रस्थिति एवं भूमिका प्रदान करना—प्रत्येक सामाजिक संस्था अपने सदस्य को पद देती है और उस पद के अनुसार भूमिका की आशा करती है। उदाहरण के लिए—विवाह के बाद पुरुष और स्त्री को क्रमश: पति एवं पत्नी का पद प्राप्त होता है और उनसे हम इन पदों के अनुकूल भूमिका की आशा करते हैं।

6. सामाजिक अनुकूलन में सहायक—सामाजिक संस्थाएँ अपने नियमों तथा उपनियमों के द्वारा व्यक्ति को कठिन परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करना सिखाती हैं।

7. मार्गदर्शन करना—मनुष्य के व्यवहारों एवं आचरणों को निर्देशित करने के लिए विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ मार्गदर्शन का कार्य करती हैं । क्योंकि संस्थाएँ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं, इसलिए व्यक्ति इन विधियों के अनुसार व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है।

8. **मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति**—सामाजिक संस्था का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रथम कार्य मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। मानव सर्वप्रथम किसी आवश्यकता का अनुभव करता है तथा उसकी पूर्ति हेतु संस्था का जन्म होता है। जैसे विवाह एक संस्था है जिसका प्रमुख कार्य यौन सन्तुष्टि करना है।

6.11 समिति एवं संस्था में अन्तर

संस्था एवं समिति दोनों मानव की आवश्यकता पूर्ति से सम्बन्धित हैं। इनमें जो मूलभूत अन्तर पाया जाता है उसे मैकाइवर एवं पेज के इस कथन से स्पष्ट समझा जा सकता है कि प्रत्येक समिति अपने विशिष्ट हित के लिए विशिष्ट संस्थाएँ रखती है। समिति तो व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जोकि एक या अधिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित है, जबकि संस्थाएँ समितियों के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु मान्यता प्राप्त विधियाँ या कार्यप्रणालियाँ हैं। समिति एवं संस्था में प्रमुख अन्तर अग्र प्रकार हैं—

समिति /संस्था

1.समिति का तात्पर्य मानव समूह से है और इससे सदस्यता का बोध होता है।संस्था नियमों एवं कार्यप्रणालियों का संकलन है और इससे पद्धति का बोध होता है।

2.समिति मूर्त होती है।संस्था अमूर्त होती है।

3.समिति का जन्म मनुष्यों द्वारा होता है।संस्था का विकास स्वत: तथा शनै: शनै: होता है।

4.समिति की प्रकृति अस्थायी होती है।संस्था की प्रकृति अपेक्षाकृत स्थायी होती है।

5.समिति पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है।संस्था मनुष्यों की क्रियाओं पर निर्भर है।

6.प्रत्येक समिति नाम से जानी जाती है। प्रत्येक संस्था का एक प्रतीक होता है।

7.नियम पालन के सन्दर्भ में समिति में अनिवार्यता उतनी नहीं होती।नियम पालन के सन्दर्भ में संस्था में अनिवार्यता अधिक होती है।

8.हम समितियों के सदस्य हो सकते हैं। हम संस्थाओं के सदस्य नहीं हो सकते हैं।

9.समिति अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संस्था का निर्माण करती है।संस्था समिति का निर्माण नहीं करती है।

10.समिति का कोई निश्चित ढाँचा नहीं होता। संस्था का निश्चित सामाजिक ढाँचा होता है।

11.समितियाँ प्रगतिशील व परिवर्तन में सहायक होती हैं।संस्थाएँ प्रथाओं पर आधारित होने के कारण रूढ़िवादी होती हैं।

6.11.1 हम समितियों के सदस्य होते हैं न कि संस्थाओं के

समिति एवं संस्था के अर्थ, परिभाषाओं तथा अन्तर से यह पूर्णत: स्पष्ट हो जाता है कि हम समितियों के तो सदस्य हो सकते हैं पर संस्थाओं के नहीं। समिति तथा संस्था दो पर्यायवाची शब्द नहीं हैं।

समाजशास्त्र में इन दोनों को विशेष अर्थों में परिभाषित किया जाता है। मैकाइवर एवं पेज ने इस सन्दर्भ में ठीक ही कहा है कि, ''हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के।''

इस कथन का तात्पर्य यह है कि चूँकि समिति मानव-समूह है अत: यह मूर्त है। इसीलिए मानव अपनी इच्छा से इसका सदस्य बन सकता है। उदाहरण के लिए—हम परिवार, विद्यालय, क्लब, राज्य इत्यादि के सदस्य हो सकते हैं। लेकिन संस्था अमूर्त है क्योंकि यह नियमों या कार्यप्रणालियों का संकलन है। इसी कारण व्यक्ति संस्था का सदस्य नहीं बन सकता है। उदाहरण के लिए—विवाह, परीक्षा की पद्धति इत्यादि संस्थाएँ हैं। कार्यप्रणालियाँ या नियमों की व्यवस्थाएँ होने के कारण हम संस्थाओं के सदस्य नहीं हो सकते। व्यक्ति अनेक समितियों का सदस्य होता है। हम समितियों के सदस्य इसलिए हैं क्योंकि ये मूर्त होती हैं तथा संस्थाओं के इसलिए नहीं क्योंकि वे अमूर्त होती हैं। इस प्रकार मैकाइवर एवं पेज का यह कथन पूर्णत: सही है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं पर संस्थाओं के नहीं।

6.12 शब्दावली

समुदाय — किसी सीमित क्षेत्र के अन्दर रहने वाले सामाजिक जीवन के सम्पूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है। इसके सदस्यों में कुछ अंशों तक हम की भावना पाई जाती है।

सामाजिक समूह — जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्र होकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं। सामाजिक समूह के सदस्यों में सामाजिक सम्बन्ध पाया जाना अनिवार्य होता है।

प्राथमिक समूह — प्राथमिक समूह से अभिप्राय उस लघु समूह से है जिसके सदस्यों में आमने-सामने का घनिष्ठ सम्बन्ध और सहयोग पाया जाता है। परिवार, क्रीड़ा समूह एवं पड़ोस इसके प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं।

अन्त:समूह — जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है, उन्हें उनका अन्त:समूह कहा जाता है। अन्त:समूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है।

सामिति — किसी विशेष लक्ष्य की पूर्ति हेतु बनाए गए व्यक्तियों के ऐच्छिक संगठन को समिति कहते हैं। समिति मूर्त होती है।

संस्था — संस्था से अभिप्राय समाज द्वारा स्वीकृत नियमों अथवा कार्यप्रणालियों की व्यवस्था से है। संस्थाएँ अमूर्त होती हैं।

6.13 अभ्यास प्रश्न

1. समिति एवं संस्था की अवधारणाएँ स्पष्ट कीजिए तथा दोनों में अन्तर बताइए।
2. समिति को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. संस्था को परिभाषित कीजिए। संस्थाओं के प्रमुख प्रकार कौन–से हैं?
4. समिति किसे कहते हैं? क्या यह कथन सही है कि हम समितियों के सदस्य हो सकते हैं संस्थाओं के नहीं? तर्क दीजिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Bottomore, T. B., Sociology : A Guide to Problems and Literature, London : Allen and Unwin, 1969.
- Bogardus, E. S., Introduction to Sociology, Los Angeles : University of Southern California Press, 1917.
- Cooley, C. H., Social Organization, Glencoe : The Free Press, 1962.
- Davis, Kingsley, Human Society, New York : MacMillan Company, 1949.
- Fairchild, H. P. (ed.), Dictionary of Sociology, London : Vision, 1958.
- Gillin, J. L. and Gillin, J. P., Cultural Sociology, Bombay : Orient Longman, 1993.
- Ginsberg, Morris, The Psychology of Society, London : Methuen and Co. Ltd., 1921.
- Green, A. W., Sociology : An Analysis of Life in Modern Society, New York : McGraw-Hill, 1968.
- Lundberg, G. A., Foundations of Sociology, New York : McKay, 1964.
- MacIver, R. M. and Page, C. H., Society : An Introductory Analysis, London : Macmillan, 1949.
- Manger, H. C., Practical Sociology and Social Problems, New York : D. Van Nostrand. Rose, 1976.
- Ogburn, W. F. and Nimkoff, M. F., A Handbook of Sociology, London : Routledge and Kegan Paul, 1964.

इकाई –7

संस्कृति व सभ्यता

Culture & Civilization

इकाई की रूपरेखा

7.0 उददेश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संस्कृति

7.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषा

7.4 संस्कृति के प्रमुख लक्षण

7.5 संस्कृति प्रमुख आयाम

7.6 संस्कृति के स्वरूप

7.7 सभ्यता का अर्थ एवं परिभाषा

7.8 संस्कृति एवं सभ्यता में अन्तर

7.9 शब्दावली

7.10 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.0 उददेश्य

सामाजिक विज्ञानों में एक ही अवधारणा को विविध अर्थों में प्रयोग किया जाता है जिसका परिणाम यह है कि बहुधा इन विज्ञानों की 'वैज्ञानिक प्रकृति' पर प्रश्न-चिह्न लगाने का प्रयास किया जाता है। समाजशास्त्रीय अवधारणाएँ निश्चयात्मक (Definitive) न होकर अनिश्चयात्मक (Sensitizing) प्रकृति की होती हैं। समाजशास्त्र में विभिन्न अवधारणाओं की अनिश्चितता का प्रमुख कारण यह है कि इन अवधारणाओं को सामान्य बोलचाल की भाषा में भी प्रयोग में लाया जाता है। फिर भी, समाजशास्त्र में अवधारणाओं का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया जाता है। इस इकाई में संस्कृति तथा सभ्यता की अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

7.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र की शब्दावली में 'समाज' की अवधारणा का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। प्रत्येक समाज की अपनी संस्कृति होती है। संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमें वे सभी ढंग सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं व कार्य करते हैं और वह सब-कुछ जो समाज के सदस्य होने के नाते हम अपने पास रखते हैं। इसके दो पक्ष होते हैं—अभौतिक एवं भौतिक। भौतिक पक्ष को सभ्यता भी कहा जाता है।

7.2 संस्कृति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मजूमदार (Majumdar) ने तो संस्कृति को ही मनुष्य का जीवन माना है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति संस्कृति के माध्यम से करते हैं। संस्कृति में धर्म, कला, विज्ञान, विश्वास, रीति-रिवाज, रहन-सहन तथा मानव द्वारा निर्मित सभी वस्तुएँ सम्मिलित की जाती हैं। यही वस्तुएँ उसका सांस्कृतिक पर्यावरण कहलाती हैं। भौगोलिक पर्यावरण के विपरीत सांस्कृतिक पर्यावरण मानव निर्मित होता है। प्रत्येक समाज की अपनी सामूहिक जीवन प्रणाली होती है। उसकी कला, विश्वास, ज्ञान आदि विशेष ढंग के होते हैं जिसे हम सामान्य अर्थों में संस्कृति के अन्तर्गत रख सकते हैं। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक साधनों का निर्माण किया है। इन साधनों को दो प्रमुख रूपों में बाँटा जा सकता है—भौतिक तथा अभौतिक। दोनों का सम्बन्ध संस्कृति से ही है। संस्कृति में परम्पराओं, जनरीतियों एवं लोकाचारों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन्हीं सभी से किसी देश की सांस्कृतिक विरासत का पता चलता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा संस्कृति, परम्पराओं, जनरीतियों एवं लोकाचारों का हस्तान्तरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहता है। प्रस्तुत अध्याय में संस्कृति, परम्परा, जनरीति एवं लोकाचार की अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

7.3 संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

'संस्कृति' समाजशास्त्र की शब्दावली में प्रयुक्त की जाने वाली एक विशिष्ट अवधारणा है। इस नाते इसका एक सुस्पष्ट अर्थ है, जो इस संकल्पना के दैनिक प्रयोग में लगाए गए अर्थ से भिन्न होता है। रोजमर्रा की बातों अथवा दैनिक प्रयोग में 'संस्कृति' शब्द को कला तक सीमित कर दिया जाता है अथवा इसका अर्थ कुछ वर्गों या देशों की जीवन-शैली से लगाया जाता है। कला के रूप में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग शास्त्रीय संगीत, नृत्य अथवा चित्रकला में परिष्कृत रुचि का ज्ञान प्राप्त करने के सन्दर्भ में किया जाता है। यह परिष्कृत रुचि लोगों को असांस्कृतिक अर्थात् आम लोगों से भिन्न करती है। समाजशास्त्र में संस्कृति को व्यक्तियों में विभेद करने वाला साधन नहीं माना जाता, अपितु इसे जीवन जीने का एक तरीका माना जाता है जिसमें समाज के सभी सदस्य भाग लेते हैं।

'संस्कृति' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—'सम' तथा 'कृति'। 'सम' उपसर्ग का अर्थ है 'अच्छा' तथा 'कृति' शब्द का अर्थ है 'करना'। इस अर्थ में यह 'संस्कार' का समानार्थक है। हिन्दू जीवन में जन्म से मृत्यु तक अनेक संस्कार होते हैं जिससे जीवन परिशुद्ध होता है। व्यक्ति की आन्तरिक व बाह्य क्रियाएँ संस्कारों के अनुसार ही होती हैं। अंग्रेजी का 'कल्चर' (Culture) शब्द लैटिन भाषा के 'Colere' शब्द से बना है जिसका अर्थ 'जोतना' अथवा 'भूमि पर हल चलाना' (To cultivate or to till the soil) है। मध्यकाल में इस शब्द का प्रयोग फसलों के उत्तरोत्तर परिमार्जन (Progressive refinement) के लिए किया जाता था। इसी से खेती करने की कला के लिए 'कृषि' (Agriculture) शब्द बना है। परन्तु अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में इस शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के परिमार्जन के लिए भी किया जाने लगा। जो व्यक्ति परिष्कृत अथवा पढ़ा-लिखा था, उसे सुसंस्कृत कहा जाता था। इस युग में यह शब्द अभिजात वर्गों (Aristocratic classes) के लिए प्रयोग होता था जिन्हें असंस्कृत (Uncultured) जनसाधारण से अलग किया जाता था। जर्मन के 'कल्चर' (Kultur) शब्द का प्रयोग आज भी सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए किया जाता है। परन्तु सामाजिक विज्ञानों में यह शब्द इस अर्थ में प्रयोग नहीं किया जाता है।

वस्तुत: संस्कृति एक जटिल अवधारणा है। इसे एक ऐसी व्यवस्था माना जा सकता है जिसमें व्यवहार के ढंग, भौतिक तथा अभौतिक प्रतीक, परम्पराएँ, ज्ञान, विश्वास, अविश्वास आदि सन्निहित होते हैं। संस्कृति सदैव एक ऐसी वस्तु है जिसे अपनाया जा सके, जिसका उपयोग किया जा सके, जिस पर विश्वास हो, जिस पर अनेक व्यक्तियों का अधिकार हो तथा जो अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए सम्पूर्ण समूह के जीवन पर निर्भर करती हो। टॉयलर (Tylor) के अनुसार, ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही दूसरी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिसे मानव समाज के सदस्य होने के रूप में प्राप्त करता है।'' बीरस्टीड (Bierstedt) के अनुसार, ''संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमें वे सभी ढंग सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं व कार्य करते हैं और वह सब-कुछ जो समाज के सदस्य होने के नाते हम अपने पास रखते हैं।'' मैलिनोव्स्की (Malinowski) के अनुसार, ''संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था और उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं की संगठित व्यवस्था है।'' इसी भाँति, मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार, ''संस्कृति हमारे नित्य प्रतिदिन के रहन-सहन, साहित्य, धर्म, कला, मनोरंजन तथा आनन्द में पाए जाने वाले विचारों के ढंग में हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।''

क्रोबर एवं क्लूखोन (Kroeber and Kluckhohn) नामक अमेरिकी मानवशास्त्रियों ने संस्कृति की परिभाषा जिन शब्दों द्वारा देने का प्रयास किया उन्हें निम्न प्रकार से सूचीबद्ध किया गया है—

1. संस्कृति सोचने, अनुभव करने तथा विश्वास करने का एक तरीका है।
2. संस्कृति लोगों के जीने का एक सम्पूर्ण तरीका है।
3. संस्कृति व्यवहार का सारांश है।
4. संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है।
5. संस्कृति सीखी हुई चीजों का एक भण्डार है।
6. संस्कृति सामाजिक धरोहर है जो कि व्यक्ति अपने समूह से प्राप्त करता है।
7. संस्कृति बार-बार घट रही समस्याओं के लिए मानकीकृत दिशाओं का एक समुच्चय है।
8. संस्कृति व्यवहार के मानकीय नियमितीकरण हेतु एक साधन है।

उपर्युक्त अर्थों में संस्कृति को उस सामाजिक धरोहर के रूप में स्वीकार करना उचित है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। यह सीखा हुआ व्यवहार है। जब हम अठारहवीं शताब्दी में लखनऊ की संस्कृति, अतिथि सत्कार की संस्कृति या सामान्यतया प्रयुक्त शब्द 'पाश्चात्य संस्कृति' का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य व्यवहार के मानकीकृत ढंग से ही होता है। व्यवहार के भिन्न ढंग के कारण ही आज भी हम लखनऊ की संस्कृति को अन्य शहरों की संस्कृतियों से भिन्न मानते हैं।

संस्कृति की विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें दैनिक जीवन में पाई जाने वाली समस्त वस्तुएँ आ जाती हैं। यह अर्जित व्यवहारों की वह व्यवस्था है जिसका प्रयोग विशिष्ट समाज के द्वारा होता है। मनुष्य भौतिक, मानसिक तथा प्राणिशास्त्रीय रूप में जो कुछ पर्यावरण से सीखता है उसी को संस्कृति कहा जाता है। संस्कृति में समस्त रीति-रिवाज, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ आदि आ जाती हैं, चाहे वे कल्याणकारी हों अथवा न हों।

7.4 संस्कृति के प्रमुख लक्षण

संस्कृति की विभिन्न परिभाषाओं से इसके अनेक लक्षणों अथवा विशेषताओं का भी आभास होता है, जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1. सीखा हुआ व्यवहार—सांस्कृतिक वंशानुक्रमण के आधार पर एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित नहीं होती, अपितु व्यक्ति समाज में रहकर इसे सीखता है। संस्कृति की अवधारणा सामूहिक अवधारणा है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक सीखता रहता है। इस समाजीकरण की प्रक्रिया के मध्य व्यक्ति समाज के धर्म, आचार, कला, परम्पराओं आदि को सीखता है। इसलिए समाजशास्त्रियों ने संस्कृति को सीखा हुआ गुण, व्यवहार या सामाजिक विरासत माना है।

2. हस्तान्तरणशील—संस्कृति की प्रकृति चाहे भौतिक हो या अभौतिक, दोनों ही प्रकार की संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है। परिवार, विद्यालय इत्यादि संस्कृति को हस्तान्तरित करने के साधन ही हैं।

3. सामाजिक गुण—संस्कृति सामाजिक गुणों का ही नाम है। संस्कृति में धर्म, प्रथा, कला व साहित्य आदि सामाजिक गुणों का समावेश होता है। अत: संस्कृति को एक सामाजिक घटना कहा जा सकता है। वस्तुत: मनुष्य की उसी उपलब्धि को संस्कृति कहा जाता है जिसमें सम्पूर्ण समाज की भागीदारी होती है। इसीलिए संस्कृति अपने समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित करती है तथा उसमें एकरूपता लाती है।

4. आदर्शात्मक —संस्कृति का निर्माण सामूहिक आदतों एवं व्यवहार करने के तरीकों से होता है। इसमें समूह के आदर्श-नियम मिश्रित रहते हैं। इसी कारण, संस्कृति की प्रकृति आदर्शात्मक हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के अनुसार व्यवहार करता है।

5. आवश्यकताओं की पूर्ति—मानव की अनेक जैविक एवं सामाजिक आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताएँ की पूर्ति संस्कृति के माध्यम से ही होती है। इसीलिए मरडॉक (Murdock) ने संस्कृति को प्रसन्नतादायक (Gratifying) कहा है। जब कोई संस्कृति आवश्यकता पूरी करने में असमर्थ हो जाती है तो वह नष्ट हो जाती है।

6. अनुकूलन की क्षमता—प्रत्येक संस्कृति समय के साथ परिवर्तित होती रहती है। यह पर्यावरण के साथ अनुकूलन करती है, चाहे पर्यावरण भौगोलिक हो या सामाजिक-सांस्कृतिक। पहले लोग पैदल, फिर बैलगाड़ी पर यात्रा करते थे और उसके स्थान पर आज मोटरकार तथा वायुयान का उपयोग होता है। अन्य शब्दों में, समय के साथ-साथ भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होता है और उसके साथ व्यक्ति अनुकूलन कर लेते हैं।

7. संस्कृतियों में भिन्नता—प्रत्येक समाज की अपनी प्रथाएँ, परम्पराएँ, धर्म, विश्वास, कला व ज्ञान आदि होते हैं। चूँकि प्रत्येक समाज की आवश्यकताएँ अलग-अलग होती हैं तथा इन आवश्यकताओं को पूरा करने के ढंग भी अलग-अलग होते हैं, अत: संस्कृतियों में भिन्नता पाई जाती है।

8. प्रतीकात्मक मनोवैज्ञानिक वास्तविकता—संस्कृति एक मनोवैज्ञानिक तथा प्रतीकात्मक वास्तविकता है। यह केवल अवधारणा-मात्र ही नहीं है। संस्कृति मानव समाज की उपज है और समाज एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य प्रतीकात्मक प्राणी है। उसने विचारों के आदान-प्रदान हेतु विभिन्न प्रतीकों को विकसित किया है।

9. निरन्तरता एवं ऐतिहासिकता—संस्कृति एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। संस्कृति का आधार आविष्कार एवं मानव-सीख हैं। मनुष्य मृत्यु-पर्यन्त कुछ-न-कुछ सीखता ही रहता है और कोई-न-कोई नया आविष्कार करता रहता है। अत: सांस्कृतिक वृद्धि निरन्तर होती रहती है। इस प्रकार संस्कृति इतिहास की एक वस्तु बन जाती है।

10. समाजोपरि एवं आधिभौतिक—संस्कृति व्यक्ति से ऊपर है। संस्कृति व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक होती है। यद्यपि स्वयं मानव संस्कृति का निर्माणकर्ता है तथापि निर्मित हो जाने के पश्चात् यह समाज एवं मानव से ऊपर एक आधिभौतिक रूप का विकास कर लेती है। क्रोबर (Kroeber) ने इसे व्यक्ति एवं सावयवों से ऊपर माना है। व्यक्ति संस्कृति के अनुसार व्यवहार करने लगता है। यह कुछ ऐसी विशेषताएँ विकसित कर लेती है कि व्यक्ति मरते रहते हैं, किन्तु इसका नैरन्तर्य बना रहता है।

11. सार्वभौमिकता एवं मूल्यविहीनता—संस्कृति सार्वभौमिक है। कोई भी मानव-समूह ऐसा नहीं है जिसके पास संस्कृति न हो। साथ ही, संस्कृति में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं किया जाता। जैसी भी किसी मानव समूह की संस्कृति है वह उस समूह की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। वहाँ रहने वाले व्यक्ति इसे उचित मानते हैं।

7.5 संस्कृति के प्रमुख आयाम

संस्कृति के प्रमुख आयाम निम्नलिखित हैं—

1. संज्ञानात्मक—संज्ञानात्मक आयाम का सन्दर्भ हमारे द्वारा देखे या सुने गए को व्यवहार में लाकर उसे अर्थ प्रदान करने की प्रक्रिया से है। किसी नेता के कार्टून की पहचान करना अथवा अपने मोबाइल फोन की घण्टी को पहचानना इसके उदाहरण हैं। यह आयाम आदर्शात्मक एवं भौतिक आयाम की पहचान करने की तुलना में कठिन होता है। संज्ञान का अर्थ समझ से है। साक्षर समाजों में विचार किताबों तथा दस्तावेजों में दिए होते हैं जो पुस्तकालयों, संस्थाओं या संग्रहालयों में सुरक्षित रखे जाते हैं। निरक्षर समाजों में दन्तकथाएँ या जनश्रुतियाँ याद्दाश्त में रहती हैं तथा मौखिक रूप में हस्तान्तरित की जाती हैं। समकालीन विश्व हमें अत्यधिक रूप से लिखित, श्रव्य एवं दृश्य रिकॉर्ड पर विश्वास करने की छूट देता है।

2. आदर्शात्मक या मानकीय—आदर्शात्मक आयाम का सम्बन्ध आचरण के नियमों से है। इसमें लोकरीतियाँ, लोकाचार, प्रथाएँ, परिपाटियाँ तथा कानून आदि को सम्मिलित किया जाता है। ये वे मूल्य या नियम हैं जो विभिन्न सन्दर्भों में सामाजिक व्यवहार को दिशा-निर्देश देते हैं। समाजीकरण के परिणामस्वरूप हम प्राय: सामाजिक मानकों का अनुसरण करते हैं क्योंकि हम वैसा करने के आदी होते हैं। सभी सामाजिक मानकों के साथ स्वीकृतियाँ होती हैं जोकि अनुरूपता को बढ़ावा देती हैं। अन्य व्यक्तियों के पत्रों को न खोलना, निधन पर अनुष्ठानों का निष्पादन करना ऐसे ही आचरण के नियम हैं।

3. भौतिक—भौतिक आयाम में भौतिक साधनों के प्रयोग सम्बन्धी क्रियाकलाप सम्मिलित होते हैं। इसमें औजारों, तकनीकों, यन्त्रों, भवनों तथा यातायात के साधनों के साथ-साथ उत्पादन तथा सम्प्रेक्षण के उपकरण सम्मिलित होते हैं। नगरीय क्षेत्रों में चालित फोन, वादक यन्त्रों, कारों तथा बसों, ए०टी०एम० (स्वत: गणक मशीनों),

रेफ्रिजरेटरों तथा संगणकों का दैनिक जीवन में व्यापक प्रयोग तकनीक पर निर्भरता को दर्शाता है। यहाँ तक कि ग्रामीण क्षेत्रों में ट्रांजिस्टर रेडियो का प्रयोग या उत्पादन बढ़ाने के लिए सिंचाई के लिए जमीन के नीचे से पानी ऊपर उठाने के लिए इलैक्ट्रिक मोटर पम्पों का प्रयोग तकनीकी उपकरणों को अपनाए जाने को दर्शाता है। इण्टरनेट पर चैटिंग करना भी इसका उदाहरण है।

संस्कृति के उपर्युक्त तीनों आयामों के समग्र से ही संस्कृति का निर्माण होता है। व्यक्ति अपनी पहचान अपनी संस्कृति से ही करता है तथा संस्कृति के आधार पर ही अपने को अन्य संस्कृतियों के लोगों से अलग समझता है।

7.6 संस्कृति के स्वरूप : भौतिक एवं अभौतिक

डब्ल्यू० एफ० ऑगबर्न (W. F. Ogburn) ने संस्कृति को दो प्रमुख भागों में बाँटा है—भौतिक संस्कृति तथा अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति में मानव निर्मित उन सभी मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें हम छू सकते हैं, देख सकते हैं और अपनी इन्द्रियों द्वारा महसूस कर सकते हैं। कुर्सी, मेज, भवन, पंखा, मोटरगाड़ी, औजार, वस्त्र, विभिन्न उपकरण आदि सब भौतिक संस्कृति के उदाहरण हैं। इन्हें मानव ने स्वयं निर्मित किया है। भौतिक संस्कृति मूर्त तथा संचयी होने के साथ-साथ उपयोगी भी होती है। इसमें शीघ्रता से परिवर्तन हो जाता है। भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के बाह्य जीवन से है।

अभौतिक संस्कृति में संस्कृति के अभौतिक पक्षों को सम्मिलित किया जाता है। ये अमूर्त होते हैं तथा इस नाते इनकी कोई निश्चित माप-तौल या रंग-रूप नहीं होता। इन्हें केवल महसूस किया जा सकता है, इनका स्पर्श नहीं किया जा सकता। हमारे विश्वास, विचार, व्यवहार करने के ढंग, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून, मूल्य, मनोवृत्तियाँ, साहित्य, ज्ञान, कला आदि अभौतिक संस्कृति के ही तत्त्व हैं। अभौतिक संस्कृति अपेक्षाकृत जटिल होती है। उसमें परिवर्तन बहुत कम अथवा धीमी गति से होता है। अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक जीवन से है। ऑगबर्न ने भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में पाई जाने वाली विलम्बना को सांस्कृतिक विलम्बना कहा है तथा इसी के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या दी है।

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर पाए जाते हैं—

1. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।

2. भौतिक संस्कृति में अभौतिक संस्कृति की अपेक्षा तीव्रता से परिवर्तन होते हैं। अभौतिक संस्कृति अपेक्षाकृत स्थिर होती है और अत्यन्त धीमी गति से परिवर्तित होती है।

3. भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के बाह्य जीवन से है, जबकि अभौतिक संस्कृति मानव के आन्तरिक जीवन से सम्बन्धित है।

4. भौतिक संस्कृति का माप सम्भव है, जबकि अभौतिक संस्कृति की माप-तौल सम्भव नहीं है।

5. भौतिक संस्कृति का मूल्यांकन इसकी उपयोगिता द्वारा किया जाता है, जबकि अभौतिक संस्कृति का मूल्यांकन उपयोगिता द्वारा नहीं किया जा सकता है।

7.6.1 संस्कृति का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

संस्कृति द्वारा जिस पर्यावरण का निर्माण होता है, उसे सांस्कृतिक पर्यावरण कहा जाता है। यह पर्यावरण मानव-निर्मित होता है। इसमें उन वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिन्हें मानव ने स्वयं बनाया है। ऐसा नहीं है कि

प्राकृतिक पर्यावरण का सामाजिक पर्यावरण से सम्बन्ध ही नहीं है। प्रत्येक समाज में संस्कृति के दोनों अंग (भौतिक एवं अभौतिक) विद्यमान होते हैं। भौतिक और अभौतिक संस्कृति व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से नियन्त्रित करती है।

संस्कृति अथवा सांस्कृतिक पर्यावरण के सामाजिक जीवन पर पड़ने वाले प्रमुख प्रभाव निम्न प्रकार हैं—

1. प्रौद्योगिकीय विकास पर प्रभाव—सांस्कृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिक विकास की दिशा तथा गति निर्धारित करता है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने व्यक्ति के जीवन को पूर्ण रूप से घेर लिया है। विकसित समाजों में तो इन आविष्कारों की सहायता से सम्पूर्ण मानव जीवन नियन्त्रित होता है। अनुकूल सांस्कृतिक पर्यावरण प्रौद्योगिक विकास में सहायक होता है।

2. आर्थिक जीवन पर प्रभाव—सांस्कृतिक पर्यावरण व्यक्तियों के आर्थिक विकास में सहायक है। दूसरी ओर, आधुनिक युग में आर्थिक संस्थाएँ भी मानव जीवन को एक सीमा तक प्रभावित करती हैं। मार्क्स, वेब्लन आदि विचारकों का मत है कि आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को ही नहीं, सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करती हैं।

3. राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव—सांस्कृतिक पर्यावरण राजनीतिक संगठन तथा संस्थाओं को भी प्रभावित करता है। किसी देश में किस प्रकार का शासनतन्त्र पाया जाएगा, यह सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करता है। दूसरी ओर, राजनीतिक संस्थाएँ भी व्यक्ति के जीवन पर गहरा प्रभाव डालती हैं।

4. सामाजिक संगठन तथा संस्थाओं पर प्रभाव—सांस्कृतिक पर्यावरण सामाजिक संरचना, संगठन तथा संस्थाओं को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए—परिवार तथा विवाह का क्या रूप होगा, यह सांस्कृतिक मूल्यों और आदर्शों पर आधारित है। इसी कारण परिवार तथा विवाह का स्वरूप प्रत्येक समाज में एक जैसा नहीं है। किस देश में किस तरह की सामाजिक संस्थाएँ पाई जाएँगी, यह सब सांस्कृतिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। व्यक्तियों के पदों और कार्यों पर भी सांस्कृतिक पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।

5. व्यक्तित्व पर प्रभाव—व्यक्तित्व तथा संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्ति का व्यक्तित्व किसी समाज की संस्कृति द्वारा पूर्ण रूप से प्रभावित होता है। व्यक्ति की समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति का ही समावेश होता है। व्यक्ति उन्हीं बातों का अनुकरण करता है जो उसके समाज में प्रचलित होती हैं। प्रथाओं, लोकाचारों, परम्पराओं एवं त्योहारों आदि का भी व्यक्ति के जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

6. धार्मिक जीवन पर प्रभाव—सांस्कृतिक पर्यावरण व्यक्तियों के धार्मिक जीवन को भी प्रभावित करता है। धार्मिक संस्थाओं का व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। धर्म द्वारा व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन एवं व्यवहार निर्दिष्ट होता है। मैक्स वेबर जैसे विचारकों का कथन है कि धर्म सम्पूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक ढाँचे को बनाता है। धर्म स्वयं सांस्कृतिक पर्यावरण पर आधारित है तथा निरन्तर इससे प्रभावित होता रहता है।

7. समाजीकरण पर प्रभाव—सांस्कृतिक पर्यावरण का व्यक्ति के समाजीकरण पर प्रभाव पड़ता है। जब बच्चा जन्म लेता है तब वह पशु समान होता है। धीरे-धीरे परिवार, पड़ोस, स्कूल आदि से वह सामाजिक गुणों को सीखता है। व्यक्ति का समाजीकरण कैसे होगा यह सांस्कृतिक पर्यावरण की मान्यताओं पर निर्भर करता है। बच्चा निरन्तर समाजीकरण की प्रक्रिया में संस्कृति से प्रभावित होता रहता है। यही कारण है कि एक भारतीय, फ्रांसीसी तथा अमेरिकी बच्चे में अलग-अलग गुण विकसित हुए मिलते हैं। इन तीनों के सामाजिक जीवन में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है जिसका कारण केवल सांस्कृतिक पर्यावरण ही है।

7.7 सभ्यता

सभ्यता का सम्बन्ध संस्कृति के भौतिक पक्ष से होता है। इसके अन्तर्गत वे चीजें आती है जिनका उपयोग करके व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सभ्यता का सम्बन्ध उन भौतिक साधनों से है जिनमें उपयोगिता का तत्त्व पाया जाता है जैसे कि उद्योग, आवागमन के साधन, मुद्रा इत्यादि। मानव की विविध प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों या माध्यमों को हम सभ्यता कह सकते हैं। मैथ्यू आरनोल्ड, अल्फ्रेड वेबर तथा मैकाइवर आदि विद्वानों ने संस्कृति के भौतिक पक्ष को ही सभ्यता कहा है।

7.7.1 सभ्यता का अर्थ एवं परिभाषाएँ

सभ्यता शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Civitas' तथा 'Civis' शब्दों से हुई है जिनका अर्थ क्रमशः 'नगर' तथा 'नगर निवासी' हैं। इस दृष्टि से सभ्यता का अर्थ उन नगरों या नगर निवासियों से है जो एक स्थान पर स्थायी रूप से निवास करते हैं, शिक्षित हैं तथा जिनका व्यवहार जटिल है। अन्य शब्दों में उच्च एवं विकसित संस्कृति को ही सभ्यता कहा जाता है। मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार, ''सभ्यता से हमारा अर्थ उस सम्पूर्ण प्रविधि तथा संगठन से है जिसे कि मनुष्य ने
अपने जीवन की दशाओं को नियन्त्रित करने के प्रयत्न से बनाया है।'' इसी भाँति, ग्रीन (Green) के अनुसार, ''एक संस्कृति तभी सभ्यता बनती है जब उसके पास एक लिखित भाषा, विज्ञान, दर्शन, अत्यधिक विशेषीकरण वाला श्रम-विभाजन, एक जटिल तकनीकी तथा राजनीतिक पद्धति हो।''

इस प्रकार, कहा जा सकता है कि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के माध्यम या साधन सभ्यता के परिचायक होते हैं। सभ्यता के अन्तर्गत उन समस्त साधनों को सम्मिलित किया जाता है, जो मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित होते हैं तथा मानवीय जीवन के लिए आवश्यक होते हैं।

7.7.2 सभ्यता के लक्षण

सभ्यता के प्रमुख लक्षण या विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन**—आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मानव द्वारा सभ्यता के विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि सभ्यता मानव की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करती है।

2. **परिवर्तनशील**—मानव की आवश्यकताओं में वृद्धि के साथ-साथ परिवर्तन होता रहता है। इसके परिणामस्वरूप आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधनों में भी परिवर्तन होता जाता है। जैसे पहले ठण्डे पानी के लिए मिट्टी के घड़े का इस्तेमाल होता था परन्तु आजकल कूलर या फ्रिज का इस्तेमाल किया जाता है।

3. संचरणशील—सभ्यता में उपयोगिता का तत्त्व अधिक मात्रा में होता है। इसी कारण सभ्यता एक स्थान से दूसरे स्थान तक तीव्रता से फैल जाती है। चाहे कोई दवाई हो या उन्नत ढंग का कपड़ा, जैसे ही किसी देश में इसका आविष्कार होता है बहुत कम समय में सम्पूर्ण विश्व में इसका प्रसार हो जाता है।

4. **अग्रसर होना**—सभ्यता निरंतर आगे बढ़ती रहती है। अगर यातायात के साधनों को देखें तो पता चलता है कि प्रत्येक आविष्कार से गति की मात्रा बढ़ी है। पहले बैलगाड़ी, फिर मोटर व रेलगाड़ी और आजकल ध्वनि के वेग की गति से भी तेज उड़ने वाले विमानों का आविष्कार हो चुका है।

5. बाह्य आचरणों से सम्बन्धित—सभ्यता मानव के बाहरी आचरणों से सम्बन्धित होती है। समाज में जो बाहरी आचरण किया जाता है वह सभ्यता का परिचायक माना जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे कपड़े हमारी सभ्यता के परिचायक हैं।

6. प्रविधियों से सम्बन्धित—सभ्यता के अन्तर्गत मानव-जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उपकरणों का समावेश होता है।

7. भौतिक स्वरूप—सभ्यता का स्वरूप भौतिक होता है। इसको देखा व स्पर्श किया जा सकता है। इस संसार में जितने भी भौतिक उपकरण एवं साधन है, जोकि हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित हैं, उन्हें हम सभ्यता के अन्तर्गत ही रखते हैं।

8. **साधन है, साध्य नहीं**—सभ्यता हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है।

7.8 संस्कृति एवं सभ्यता में अन्तर

भौतिक संस्कृति को ही क्योंकि सभ्यता कहा जाता है इसलिए सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को समझना भी अनिवार्य है।

सभ्यता एवं संस्कृति में पाए जाने वाले अन्तर को निम्नलिखित ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. गिलिन एवं गिलिन के मत में, ''सभ्यता संस्कृति का अधिक जटिल तथा विकसित रूप है।''
2. ए० डब्ल्यू० ग्रीन सभ्यता और संस्कृति के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि ''एक संस्कृति तभी सभ्यता बनती है, जब उसके पास लिखित भाषा, विज्ञान, दर्शन, अत्यधिक विशेषीकरण वाला श्रम-विभाजन, एक जटिल प्रविधि और राजनीतिक पद्धति हो।''
3. सभ्यता को कुशलता के आधार पर मापना चाहें तो मापा जा सकता है, परन्तु संस्कृति को नहीं।
4. सभ्यता को सरलता से समझा जा सकता है, लेकिन संस्कृति को हृदयंगम करना कठिन है।
5. सभ्यता में फल प्राप्त करने का उद्देश्य होता है, परन्तु संस्कृति में क्रिया ही साध्य है।
6. संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से है, और सभ्यता का सम्बन्ध शरीर से है।
7. सभ्यता का पूर्ण रूप से हस्तान्तरण हो सकता है, परन्तु संस्कृति का हस्तान्तरण पूर्ण रूप से नहीं हो सकता।
8. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''संस्कृति केवल समान प्रवृत्ति वालों में ही संचारित रहती है। कलाकार की योग्यता के बिना कोई भी कला के गुण की परख नहीं कर सकता, न ही संगीतकार के गुण के बिना ही कोई संगीत का आनन्द ले सकता। सभ्यता सामान्य तौर पर ऐसी माँग नहीं करती। हम उसको उत्पन्न करने वाली सामर्थ्य में हिस्सा लिए बिना ही उसके उत्पादों का आनन्द ले सकते हैं।''
9. सभ्यता का रूप बाह्य होता है, जबकि संस्कृति का आन्तरिक।
10. सभ्यता सदा प्रगति करती है, जबकि संस्कृति नहीं करती।
11. सभ्यता बिना प्रयास के प्रसारित होती है, जबकि संस्कृति नहीं।

7.9 शब्दावली

समाज — सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने को समाज कहते हैं। यह एक अमूर्त धारणा है, जोकि एक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराती है।

श्रम-विभाजन — श्रम-विभाजन से अभिप्राय कार्यों (भूमिकाओं) का वितरण है। भूमिकाओं में विभिन्नीकरण तथा विशेषीकरण नहीं है अपितु इन भूमिकाओं में समन्वय भी है।

संस्कृति — संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही दूसरी क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है, जिसे मानव समाज के सदस्य होने के रूप में प्राप्त करता है।

सभ्यता — संस्कृति के भौतिक पक्ष को सभ्यता कहते हैं। इसके अन्तर्गत वे चीजें आती है जिनका उपयोग करके व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

7.10 अभ्यास प्रश्न

1. संस्कृति को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. सभ्यता किसे कहते हैं? संस्कृति एवं सभ्यता में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) समाज में सहयोग एवं संघर्ष

(ब) संस्कृति के प्रमुख आयाम

(स) भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Bierstedt, Robert, The Social Order, New York : McGraw Hill, 1957.
- Bottomore, T. B., Sociology : A Guide to Problems and Literature, London : Allen and Unwin, 1969.
- Davis, Kingsley, Human Society, New York : MacMillan Company, 1949.
- Giddings, F. H., Principles of Sociology : An Analysis of the Phenomena of Association and of Social Organization, New York : Macmillan, 1896.
- Ginsberg, Morris, Sociology, London : Thornton Butter- worth. 1934.
- Green, A. W., Sociology : An Analysis of Life in Modern Society, New York : McGraw-Hill, 1968.
- Inkeles, Alex, What is Sociology ?, Englewood Cliffs, N.J. : Prentice-Hall, 1964.
- LaPiere, R. T., Sociology, New York : McGraw-Hill, 1979.
- MacIver, R. M. and Page, C. H., Society : An Introductory Analysis, London : Macmillan, 1949.
- Malinowski, B., A Scientific Theory of Culture, North Carolina : Chapel Hill, 1944.
- Reuter, E. B., A Handbook of Sociology, New York : Dryden Press, 1941.
- Tylor, E. B., Primitive Culture, New York : J.P. Putnam’s Sons, 1920.
- Wright, F. J., Elements of Sociology, London : University of London Press, 1943.

इकाइ - 8

सामाजिक परिवर्तन– अवधारणा, विशेषता तथा विस्तृत प्रतिमान

Social Change

इकाई की रूपरेखा

8.0 उददेश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 सामाजिक परिर्वतन की अवधारणा

8.3 सामाजिक परिवर्तन की अर्थ एवं परिभाषा

8.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषतायें

8.5 सामाजिक परिवर्तन विस्तृत प्रतिमान

8.6 सामाजिक परिवर्तन के कारक

8.7 सामाजिक बनाम सांस्कृतिक परिवर्तन

8.8 शब्दावली

8.9 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.0 उद्देश्य

परिवर्तन अवश्यम्भावी है क्योंकि यह प्रकृति का नियम है। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्थिर रहता हो। उसमें कुछ–न–कुछ परिवर्तन सदैव होता रहता है। प्रकृति में जड़ एवं चेतन अर्थात् प्रत्येक जीव एवं सभी प्रकार की वस्तुओं में निरन्तरता और गतिशीलता इसी के द्वारा सम्भव हो पाती है। अतएव, स्थिर समाज की कल्पना करना भी आज के युग में सम्भव नहीं है। इस इकाई में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया गया है।

8.1 प्रस्तावना

अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के समाजों में हो रहे तीव्र परिवर्तनों के अध्ययन में प्रारम्भ से ही समाजशास्त्र में रुचि स्पष्टत: देखी जा सकती है। कॉम्ट (Comte), मार्क्स (Marx) तथा स्पेन्सर (Spencer) इत्यादि प्रारम्भिक विद्वानों की कृतियों में परिवर्तन के प्रति रुचि स्पष्ट दिखाई देती है। इतना ही नहीं, उन्नीसवीं शताब्दी में उद्विकासवादी (Evolutionary) तथा ऐतिहासिक (Historical) दृष्टिकोणों का विकास परिवर्तन के अध्ययनों के परिणामस्वरूप ही विकसित हुआ है। परन्तु प्रारम्भिक विद्वानों के लेखों में सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का प्रयोग भिन्न शब्दों द्वारा किया गया है। बीसवीं शताब्दी में 'उद्विकास', 'विकास' तथा 'प्रगति' की

अवधारणाओं के प्रयोग के साथ जुड़ी हुई कठिनाइयों के परिणामस्वरूप 'सामाजिक परिवर्तन' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है जो किमानव समाजों में सभी ऐतिहासिक परिवर्तनों को व्यक्त करता है। 1922 ई० में डब्ल्यू० एफ० ऑगबर्न (W. F. Ogburn) की पुस्तक सोशल चेंज (Social Change) के प्रकाशन से इस अधिक तटस्थ शब्द का प्रयोग ही सामान्य रूप में किया जाने लगा है। आज उद्विकास, विकास व प्रगति सामाजिक परिवर्तन के भिन्न स्वरूप माने जाते हैं।

8.2 सामाजिक परिवर्तन की आवधारणा

परिवर्तन के अभाव में हमारी सामाजिक उपलब्धि, समाजीकरण, सामाजिक सीख तथा सामाजिक नियन्त्रण कुछ भी सम्भव नहीं है। निश्चित और निरन्तर परिवर्तन मानव समाज की विशेषता है। सामाजिक परिवर्तन का विरोध होता है क्योंकि समाज में रूढ़िवादी तत्त्व प्राचीनता से ही चिपटे रहना पसन्द करते हैं। स्त्री स्वतन्त्रता और समान अधिकार की भावना, स्त्रियों की शिक्षा, परदा प्रथा की समाप्ति, स्त्रियों का आत्म-निर्भर होना, दलितों, अन्त्यजों और निम्न जातियों की प्रगति आदि अनेक परिवर्तनों को आज भी समाज के कुछ तत्त्व स्वीकार नहीं कर पाते हैं तथापि इनमें परिवर्तन होता जा रहा है। वास्तव में, प्रत्येक समाज में दो प्रकार की शक्तियाँ पाई जाती हैं—पहली, वे जोकि समाज में यथास्थिति बनाए रखना चाहती हैं तथा दूसरी, वे जोकि समाज को परिवर्तित करना चाहती हैं। दोनों में सामंजस्य होना समाज में निरन्तरता के लिए अनिवार्य है। लूमले (Lumley) का कथन है कि कई कारणों से सामाजिक परिवर्तन अवश्यम्भावी रहा है, और है। यदि हम इतिहास पर दृष्टिपात करें तो लूमले के विचारों की पुष्टि होती दीख पड़ती है और यही कारण है कि आज समाज परिवर्तन का सम्मान करता है। ग्रीन (Green) के शब्दों में, ''परिवर्तन से सामंजस्य स्थापित करना ही हमारे जीवन का ढंग बन चुका है।'' इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक और अवश्यम्भावी है। परिवर्तनविहीन समाज अथवा सृष्टि के किसी भी उपादान की कल्पना ही हास्यास्पद है। आदिम, सरल अथवा परम्परागत समाजों में भी आज अत्यधिक परिवर्तन हो रहे हैं।

8.3 सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषाएँ

'परिवर्तन' को अंग्रेजी के 'चेन्ज' (Change), 'आल्टरेशन' (Alteration) तथा 'मोडिफिकेशन' (Modification) आदि शब्दों से सम्बोधित किया जाता है। परिवर्तन किसी भी वस्तु, विषय अथवा विचार में समय के अन्तराल से उत्पन्न हुई भिन्नता को कहते हैं। परिवर्तन तब और अब की स्थितियों के बीच पैदा हुए अन्तर को प्रकट करता है। 'परिवर्तन' एक बहुत विस्तृत अवधारणा है और यह जैविक (Biological), भौतिक (Physical) तथा सामाजिक (Social) तीनों जगत में पाई जाती है। किन्तु जब परिवर्तन शब्द के पूर्व 'सामाजिक' शब्द जोड़कर उसे 'सामाजिक परिवर्तन' बना दिया जाता है तो निश्चित ही उसका अर्थ सीमित हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन को हम सम्पूर्ण परिवर्तन का एक भाग कह सकते हैं क्योंकि भौतिक एवं जैविक जगत में होने वाले परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता है। अत: प्रश्न उठता है कि सामाजिक परिवर्तन क्या है? सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संगठन, समाज की विभिन्न इकाइयों, सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं इत्यादि में होने वाला परिवर्तन है। सगंठन का निर्माण संरचना तथा कार्य

दोनों से मिलकर होता है। सामाजिक प्रक्रियाओं तथा सामाजिक अन्तर्क्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों को भी सामाजिक परिवर्तन ही कहा जाता है।

मैरिल एवं एल्ड्रिज (Merrill and Eldredge) के अनुसार, ''अपने सर्वाधिक सही अर्थों में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ है कि अधिक संख्या में व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में व्यस्त हों जोकि उनके पूर्वजों के अथवा उनके अपने कार्यों से भिन्न हों जिन्हें वे कुछ समय पूर्व तक करते थे। समाज का निर्माण प्रतिमानित मानवीय सम्बन्धों के एक विस्तृत एवं जटिल जाल से होता है जिसमें सब लोग भाग लेते हैं। जब मानव व्यवहार संशोधन की प्रक्रिया में होता है तो यह कहने का ही दूसरा तरीका है कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।'' इन्होंने अपनी उपर्युक्त परिभाषा में सामाजिक परिवर्तन को मानव क्रियाओं के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। ये सम्बन्ध समाज से मान्यता प्राप्त भी होते हैं और संस्थागत (Institutionalized) भी होते हैं। जब मनुष्यों के व्यवहार के प्रतिमानों अथवा सामाजिक सम्बन्धों में कोई परिवर्तन हो, तो हम उसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत रीतियों में घटित परिवर्तन को कहते हैं, चाहे परिवर्तन भौगोलिक दशाओं, सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधाराओं में परिवर्तन से उत्पन्न हुआ हो, और चाहे प्रसार के द्वारा अथवा समूह के अन्तर्गत हुए आविष्कारों के परिणामस्वरूप सम्भव हुआ है।'' इनके अनुसार जीवन के स्वीकृत तरीकों में परिवर्तनों को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। समाज में जीवन के स्वीकृत ढंग संस्थागत हो जाते हैं और इन्हीं संस्थागत प्रतिमानों में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। यह परिवर्तन किसी भी कारण से पैदा हो सकता है। इन्होंने इस परिवर्तन को लाने में भौगोलिक दशाओं, संस्कृति, व्यक्तियों की मनोधारणाओं एवं जनसंख्या की संरचना, नवीन आविष्कारों तथा सामाजिक सांस्कृतिक तत्त्वों के प्रसार (Diffusion) जैसे कारणों को महत्त्वपूर्ण माना है।

जोन्स (Jones) के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जोकि सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानों, सामाजिक अन्तर्क्रियाओं या सामाजिक संगठन के किसी भाग में घटित होने वाले हेर-फेर या संशोधन के लिए प्रयोग किया जाता है।'' इन्होंने सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक प्रक्रिया में परिवर्तन माना है। समाज में अनेक क्रियाएँ कार्यरत रहती हैं; जैसे—संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, विरोध, सहयोग इत्यादि। विविध सामाजिक क्रियाएँ एवं अन्तर्क्रियाएँ सामाजिक सम्बन्धों के ही विविध रूपों को हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। अत: सामाजिक क्रियाओं एवं अन्तर्क्रियाओं में परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धों के ही विविध स्वरूपों में होने वाला परिवर्तन है। सामाजिक व्यवहार के प्रतिमान सामाजिक अन्तर्क्रिया का परिणाम होते हैं। सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संगठन में होने वाला परिवर्तन है अर्थात् व्यक्तियों की प्रस्थिति एवं कार्यों में होने वाला परिवर्तन भी है।

डेविस (Davis) के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य केवल उन परिवर्तनों से है जोकि सामाजिक संरचना (ढाँचे) एवं प्रकार्यों में होते हैं।'' किंग्स्ले डेविस की इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि वे केवल उन्हीं परिवर्तनों को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं जोकि सामाजिक व्यवस्था में होते हैं। व्यक्तियों की प्रस्थिति एवं कार्यों से सामाजिक संस्थाओं और बहुत-सी सामाजिक समितियों का निर्माण होता है। वे सामाजिक समितियाँ और संस्थाएँ कुछ-न-कुछ कार्य करती हैं। इन्हीं संस्थाओं अथवा समितियों की संरचना एवं उनकी भूमिका में होने

वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। डेविस के अनुसार, चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिए सामाजिक परिवर्तन का अर्थ मानवीय परिवर्तन है। समाज में होने वाला परिवर्तन व्यक्ति को परिवर्तित कर देता है।

मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) समाज को सामाजिक सम्बन्धों का जाल कहते हैं और इन्हीं सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''समाजशास्त्री होने के नाते हमारा सीधा सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है। अत: जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं वह केवल इन्हीं (सामाजिक सम्बन्धों) में परिवर्तन है।''

सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन नहीं है अपितु सामाजिक परिवर्तन सामाजिक प्रस्थिति एवं कार्यों में होना वाला परिवर्तन है। सामाजिक संगठन; संरचना तथा कार्य दोनों से मिलकर बनता है, इसलिए इनमें होने वाले परिवर्तन सामाजिक संगठन में परिवर्तन लाते हैं। ऐसे परिवर्तन भी सामाजिक परिवर्तन ही कहे जाएँगे। इसी प्रकार, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों तथा सामाजिक अन्तर्क्रियाओं में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। उदाहरणार्थ—हिन्दुओं में नारी की परम्परागत सामाजिक प्रस्थिति में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं—एक, उसे अपने भाइयों के समान ही पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार मिला है और दूसरे, हिन्दुओं में तलाक का भी कानूनी प्रावधान किया गया है। ये दोनों ही बातें पहले हिन्दुओं में नहीं थीं। यह परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं।

सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न परिभाषाओं के विश्लेषण से हमें यह पता चलता है कि समाजशास्त्रियों ने इसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों द्वारा परिभाषित करने का प्रयास किया है। इन परिभाषाओं में भिन्नता का कारण, वास्तव में, सामाजिक परिवर्तन के बारे में विद्वानों में असहमति एवं अस्पष्टता का होना नहीं है अपितु भिन्नता का प्रमुख कारण विद्वानों द्वारा 'समाज' शब्द का बहुअर्थी प्रयोग है। उदाहरण के लिए, मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) ने समाज को सामाजिक सम्बन्धों के ताने-बाने अथवा जाल के रूप में परिभाषित किया है। इसी अर्थ के अनुरूप उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा दी है। उनका कहना है कि समाजशास्त्री होने के नाते हमारा सीधा सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है, अत: जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं वह केवल इन्हीं (सामाजिक सम्बन्धों) में परिवर्तन है।

इसी प्रकार, गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने समाज की परिभाषा एक वृहद् स्थायी समूह के रूप में दी है जो सामान्य हितों, सामान्य भू-भाग, सामान्य रहन-सहन तथा पारस्परिक सहयोग अथवा अपनत्व की भावना से युक्त है तथा जिसके आधार पर वह अपने को बाहर के अन्य समूहों से पृथक् करता है। इसमें उन्होंने, वास्तव में, समाज की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है तथा इन्हीं में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है। सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन्होंने स्वीकृत रीतियों, भौगोलिक दशाओं, सांस्कृतिक साधनों तथा जनसंख्या की रचना या विचारधाराओं सभी में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित किया है। ये सब वही पहलू हैं जिनको इन्होंने समाज की परिभाषा में प्रधानता दी है।

अत: स्पष्ट है कि प्रत्येक विद्वान् द्वारा सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा उसके समाज के बारे में दृष्टिकोण द्वारा प्रभावित है तथा इस अर्थ में वह ठीक भी है और नहीं भी। वास्तव में, जब तक समाज के अर्थ के बारे में सर्वसम्मति नहीं होगी तब तक सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाओं में भिन्नताएँ रहेंगी ही।

8.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

1. सामाजिक परिवर्तन समाज से सम्बन्धित है—सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष अथवा समूह-विशेष से न होकर पूर्ण समाज के जीवन से होता है। यह व्यक्तिवादी नहीं वरन् समष्टिवादी होता है, इसीलिए परिवर्तन का प्रभाव सामान्यत: सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है।

2. सामाजिक परिवर्तन सार्वभौमिक है—संसार में कोई भी ऐसा समाज नहीं है जहाँ परिवर्तन न होता रहता हो और जो पूर्णत: स्थिर हो। परिवर्तन प्रति क्षण होता रहता है। यह सम्भव है कि किसी समाज में परिवर्तन की गति तीव्र हो तो और कहीं धीमी, किन्तु परिवर्तन होता सब जगह है, चाहे उसके स्वरूप में कितनी भी भिन्नता क्यों न हो। विश्व में कोई भी दो समाज पूर्णत: एक से नहीं हैं, अत: परिवर्तन कभी भी पूर्णत: एक जैसे नहीं हो सकते। रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) ने कहा है कि ''किन्हीं भी दो समाजों का इतिहास एक समान नहीं होता, किन्हीं भी दो समाजों की संस्कृति एक-जैसी नहीं होती, कोई भी एक-दूसरे का प्रतिरूप नहीं है।''

3. सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक और अवश्यम्भावी है—सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक है तथा समयानुकूल होता रहता है। मानव स्वभाव प्रत्येक क्षण नवीनता चाहता है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है तथा अवश्यम्भावी है। यह किसी की इच्छा अथवा अनिच्छा पर निर्भर नहीं होता यद्यपि आधुनिक युग में इसे नियोजित किया जा सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन स्वाभाविक और अवश्यम्भावी है।

4. प्रत्येक समाज में सामाजिक परिवर्तन की गति एक-समान नहीं है—सामाजिक परिवर्तन में एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि इसकी गति हर समाज में एक-सी नहीं होती। साथ ही, ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में परिवर्तन की गति समान नहीं पाई जाती। अमेरिकी और जापानी समाजों में जिस तीव्र गति से परिवर्तन होते हैं, भारत एवं चीन के समाजों में वह गति देखने को नहीं मिलती। परिवर्तन न केवल एक समाज से दूसरे समाज में ही भिन्न पाया जाता है, बल्कि एक ही समाज के विभिन्न समूहों में भी इसकी गति असमान होती है। यदि दो समाजों में एक-समान परिवर्तन के कारक पाए भी जाएँ तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों समाजों में समान गति से एक-जैसा ही परिवर्तन होगा क्योंकि कारकों पर देश, काल एवं परिस्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। अत: परिवर्तन के कारक किस समाज में अधिक प्रभावशाली होंगे और किसमें कम, यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता। उदाहरणार्थ—यूरोप में औद्योगीकरण, नगरीकरण, व्यक्तिवाद, स्त्रियों की स्वतन्त्रता तथा आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों से अनेक परिवर्तन बड़ी तीव्रता से आए हैं। भारत में इन परिवर्तनों की गति अपेक्षाकृत मन्द है। भारतीय नगरों में गाँवों की अपेक्षा तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं।

5. सामाजिक परिवर्तन में समय का तत्त्व—विलबर्ट ई० मूर ने लिखा है कि ''मानव अनुभूति में समय का भाव और परिवर्तन का अभ्यास अपृथकनीय रूप से जुड़े हुए हैं। सीधे-सादे शब्दों में हम प्राय: यह कहते हैं कि पुराने जमाने में ऐसा होता था अथवा हमारे पूर्वजों के जमाने में ऐसा होता था। इन वाक्यांशों से यह सिद्ध होता है कि हम दो समयों की तुलना कर रहे हैं—एक वह जो पहले था और एक वह जो आज है। इन दोनों समयों के बीच

उत्पन्न हुई भिन्नता ही परिवर्तन है। यदि सूत्र रूप में कहा जाए तो हम कह सकते हैं कि तब (T1) और अब (T2) के बीच अन्तर (T2–T1) ही परिवर्तन का द्योतक है। इस प्रकार—

$$\text{Change} = T2 - T1$$

$$\text{परिवर्तन} = \text{समय } 2 - \text{समय } 1$$

मूर के शब्दों को ही हम पुन: उद्धृत करना चाहेंगे जो स्पष्ट घोषणा करते हैं कि समय के तत्त्व के अभाव में परिवर्तन की बात करना निरर्थक है, ''समय बिना कोई परिवर्तन नहीं है। परिवर्तन के अभाव में, इसी प्रकार, समय का कोई अर्थ नहीं है।''

6. सामाजिक परिवर्तन के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती—सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती क्योंकि कभी-कभी आकस्मिक कारक भी परिवर्तन ला देते हैं। सामाजिक परिवर्तन समाज या सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन है। हमारे व्यवहार भी परिवर्तनशील हैं। यही कारण है कि सामाजिक व्यवहार के बारे में भविष्यवाणी करते समय हम, मात्र अनुमान ही लगा सकते हैं किन्तु दृढ़तापूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। जैसे—अस्पृश्यता के विरुद्ध सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन के द्वारा छुआछूत व ऊँच-नीच की भावना कम होगी यह तो कहा जा सकता है, किन्तु समाज में ये सब कब पूर्णत: समाप्त होगा यह नहीं कहा जा सकता। सामाजिक परिवर्तन की दिशा के बारे में तो अनुमान लगाया जा सकता है परन्तु भविष्यवाणी करना कठिन कार्य है।

7. सामाजिक परिवर्तन अमूर्त है—सामाजिक परिवर्तन एक अवधारणा है और अवधारणा अमूर्त होती है। अत: सामाजिक परिवर्तन भी अमूर्त है। सामाजिक परिवर्तन क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन है और सामाजिक सम्बन्धों को न तो देखा जा सकता है और न छुआ जा सकता है। इनका केवल अनुभव किया जा सकता है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं अत: उनमें होने वाला परिवर्तन भी अमूर्त हुआ।

8. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान होते हैं—परिवर्तन का कोई एक प्रतिमान नहीं है। समाज में होने वाले सभी परिवर्तनों को देखने के बाद हम इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि समाज में सैकड़ों प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। कभी परिवर्तन उतार-चढ़ाव के रूप में होता है तो कभी समरेखीय और कभी चक्रवत् तो कभी लहरदार। जनसंख्या, आर्थिक जगत एवं फैशन में परिवर्तन का जो प्रतिमान देखने में आता है वह मूल्यों एवं मनोधारणाओं के परिवर्तन में नहीं दिखाई देता।

9. सामाजिक परिवर्तन तुलनात्मक एवं सापेक्ष होता है–समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं क्योंकि सामाजिक परिवर्तन का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन को जानने का यही एकमात्र उपाय रह जाता है कि या तो एक ही समय में दो विभिन्न समाजों की तुलना की जाए या एक ही समाज की दो विभिन्न कालों में तुलना की जाए। इस तुलना के आधार पर ही यह अनुमान लग सकता है कि किसी समाज में क्या परिवर्तन हो रहे हैं और वे परिवर्तन किस दिशा अथवा गति से हो रहे हैं। अत: हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन सदैव तुलनात्मक एवं सापेक्ष होते हैं।

10. सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ अवधारणा है—सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ अवधारणा है क्योंकि यह तो दो समयावधियों के अन्तराल में किसी समाज में उत्पन्न भिन्नता-मात्र है। इसलिए इससे तो केवल इतना पता

चलेगा कि कोई चीज जिस रूप में पहले थी उस रूप में अब नहीं है। वह अन्तर समाज के लिए अच्छा रहा या बुरा, यह एक अलग बात होगी जिसे मापने के लिए निश्चित कसौटियों की जरूरत होगी।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताओं का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन समाज व्यवस्था में अन्तर्निहित सत्य है। समय के साथ-साथ, जीवन-यापन की दशाओं में ऐसा परिवर्तन हो जाता है कि कुछ विशिष्ट समूहों अथवा वर्गों की अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं होतीं। वे महसूस करते हैं कि उन्हें उनके न्यायोचित देय से वंचित रखा जा रहा है। यह असन्तोष और निराशा विद्यमान सामाजिक संस्थाओं में तनाव पैदा कर देती है और उनका पुनर्गठन करना आवश्यक हो जाता है। यहाँ यह भी स्मरण रखने योग्य है कि सामाजिक परिवर्तन बहुकारकीय घटना है। किसी एक कारक को ही समाज का निर्धारक कारक नहीं माना जा सकता। अन्त में, हम यह भी कहना चाहेंगे कि समाज व्यवस्था एक 'जीवन्त सम्पूर्ण' घटना है। इसकी सभी उपव्यवस्थाएँ; जैसे परिवार एवं नातेदारी, अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, शैक्षिक व्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, नैतिक व्यवस्था, सौन्दर्य-बोधात्मक व्यवस्था तथा मनोरंजन व्यवस्था एक-दूसरे से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। इनमें से किसी एक उपव्यवस्था में भी घटित हुआ परिवर्तन अन्य सभी उपव्यवस्थाओं पर प्रभाव अवश्य डालेगा और इस तरह सम्पूर्ण समाज के सन्तुलन को नए बिन्दु पर पुनर्गठित करना होगा।

8.5 सामाजिक परिवर्तन के विस्तृत प्रतिमान

सामाजिक परिवर्तन एक विस्तृत अवधारणा है जिसका कोई एक निश्चित प्रतिमान नहीं है। मुख्य प्रश्न हमारे सामने यह है कि सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने के लिए किस कारक को आधार माना जाए और व्याख्या करने में कौन-सी पद्धति को अपनाया जाए? विद्वानों ने इस समस्या को निम्नलिखित दो प्रकार से समझाने का प्रयास किया है—

1. कारकों की विविधता एवं अन्योन्याश्रितता–जब हम समाज में होने वाले किसी भी परिवर्तन को देखते हैं तो यह ज्ञात होता है कि उसके एक नहीं बल्कि अनेक कारक हैं जो किपरस्पर भिन्न न होकर अन्योन्याश्रित हैं अर्थात् ये एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी सामाजिक परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए मनोधारणाओं या मनोवृत्तियों में परिवर्तन तथा मानव मनोवृत्तियों पर उसके सम्पूर्ण पर्यावरण एवं दशाओं का प्रभाव पड़ता है। इस परिवर्तन को समझने के लिए आर्थिक दशाओं तथा प्रौद्योगिकीय एवं राजनीतिक पक्षों से भी परिचित होना पड़ता है। कुछ परिवर्तन इसलिए होते रहते हैं कि हम भौतिक पर्यावरण से सामंजस्य स्थापित कर सकें। उदाहरणार्थ—यदि हम गिरती हुई जन्म-दर का अध्ययन करें तो हमें धार्मिकता, स्त्रियों की बढ़ती हुई आर्थिक स्वतन्त्रता, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, देर से विवाह, व्यक्तिवाद आदि का अध्ययन करना ही होगा। इस संयुक्त योगदान को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। अत: बाध्य होकर सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में हमें विविध कारकों का उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ता है। ऐसा किए बिना हम सामाजिक परिवर्तन को नहीं समझ सकते। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में हम किसी एक कारक को निर्णायक कारक मानकर नहीं चल सकते।

समाज में परिवर्तन लाने वाले विभिन्न कारक आपस में अन्तर्सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि वे स्वयं पूर्ण न होकर एक-दूसरे पर निर्भर हैं। किसी सामाजिक घटना का वर्णन करते समय न केवल कारकों की बहुलता या विविधता (Multiplicity of factors) ही ध्यान में रखनी है वरन् उनकी अन्तर्निर्भरता को भी उतनी ही

महत्ता देनी होगी। विविध कारण एक-दूसरे से मिले और गुँथे रहते हैं। अपराधों में वृद्धि का कारण हम व्यक्तिवाद को मानते हैं जिसने व्यक्ति को संयुक्त परिवार से अलग किया और संयुक्त परिवार का ह्रास करके एकाकी परिवार बसाने को प्रोत्साहित किया। अपराधों में वृद्धि का दूसरा कारक नगरीकरण माना जाता है क्योंकि जीविकोपार्जन हेतु गाँवों के लोग नगरों की ओर आकर्षित होते हैं और वहाँ की गन्दी बस्तियों के वातावरण में अपराध करने के अधिक अवसर मिलने पर अपराधों में भाग लेने लगते हैं। यहाँ उन्हें जनसंख्या में विविधता (Heterogeneity of population) मिलती है जिससे अपराध करके भीड़-भाड़ पूर्ण वातावरण में छिपने की सुविधा तथा औद्योगिक केन्द्रों में अपराधी व्यक्ति को खोज पाने की कठिनाई तथा साथ ही तीव्रगामी आवागमन के साधनों में वृद्धि के कारण एक स्थान पर अपराध करके दूसरे स्थान पर आसानी से भाग जाने की सुविधा आदि सम्भव होने के कारण व्यक्ति अपराधी बन जाता है। अपराध का तीसरा कारक शारीरिक एवं मानसिक रूप से कमजोरी है। ऐसे व्यक्ति अधिक अपराध करते हैं क्योंकि उनमें इतनी बुद्धि नहीं होती है कि वे अपराध एवं उससे समाज को होने वाली हानि तथा अपने पर इसके होने वाले प्रभावों के विषय के बारे में सोच सकें। यह भी हो सकता है कि व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता का शिकार हो या निराश हो और इसी कारण अपराध करता हो। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या ये सब कारक एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं? क्या व्यक्तिवाद नगरीकरण का ही परिणाम नहीं है? क्या नगरीकरण औद्योगीकरण का ही शिशु नहीं है? क्या आवागमन के साधनों में वृद्धि, नगरीकरण, व्यक्तिवाद, द्वितीयक समूहों का विकास तथा अपराध वृद्धि आदि सभी कारक पारस्परिक निर्भरता की कड़ी में नहीं बँधे हैं? समाजशास्त्रीय अध्ययनों के आधार पर आज हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ये कारक स्वतन्त्र कारक नहीं बल्कि एक-दूसरे के साथ सहयोगी व्यवस्था में बँधकर किसी सामाजिक व्यवहार को जन्म देते हैं। सामाजिक कारक आपस में तार्किक रूप से कार्य-कारण सम्बन्धों से भी जुड़े हुए होते हैं।

इस प्रकार, यह सिद्ध हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने में कारकों की विविधता तथा उनकी अन्योन्याश्रितता को भी ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

2. परिमाणात्मक पद्धति की असमर्थता—कुछ विद्वान् यह विश्वास करते हैं कि हर सामाजिक घटना का अध्ययन हम परिमाणात्मक सांख्यिकीय पद्धति के द्वारा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ—अपराधों का अध्ययन करने के लिए हम संयुक्त परिवार के विघटन पर भी दृष्टिपात करते हैं। कितने संयुक्त परिवार विघटित हुए यह जानने के लिए हमें उनकी संख्या गिननी होगी जिसमें इस पद्धति का सहारा लेना होगा। परन्तु सामाजिक सम्बन्धों का एक परिमाणात्मक पहलू भी है जो अति न्यून है। भौतिक विज्ञानों के समान परिमाणात्मक पद्धति को यदि हम समाजशास्त्र में भी लागू करते हैं तो बड़ा भय उपस्थित हो जाता है। सामाजिक घटनाओं में प्राकृतिक घटनाओं के समान किसी परिस्थिति में से अलग किए जा सकने वाला कोई भाग नहीं है। विभिन्न भाग अपने सन्दर्भ में अलग होते ही अर्थहीन हो जाते हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं क्योंकि न तो उनका कोई भौतिक स्वरूप ही होता है और न ही आकार। अत: उन्हें रेखागणितीय या परिमाणात्मक पैमाने से नहीं मापा जा सकता। साथ ही, यदि एक घटना को पैदा करने में कई कारकों का योगदान रहता है तो इनमें से प्रत्येक कारक का कितना अलग-अलग व्यक्तिगत योगदान है, यह ज्ञात करना अति कठिन है।

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों के कारण सामाजिक परिवर्तन के विस्तृत प्रतिमान के निर्धारण की समस्या और अधिक उलझ जाती है। इन समस्याओं के बावजूद समाजशास्त्री सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख विस्तृत प्रतिमानों को समझने में काफी सीमा तक सफल रहे हैं। यह सही है कि सामाजिक परिवर्तन समस्त समाजों में एक-सा नहीं हो सकता, अत: हमें परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान (Patterns) दृष्टिगोचर होते हैं। यदि किन्हीं दो समाजों में परिवर्तन के समान कारक भी कार्य कर रहे हों तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि उन दोनों समाजों में परिवर्तन के प्रतिमान भी समान ही विकसित होंगे, क्योंकि परिवर्तन के कारकों का क्रमागत एकीकरण (Orderly integration) भी समान होगा यह आवश्यक नहीं है। इसी से दो भिन्न समाजों में परिवर्तन के एक से ही कारकों के कार्यरत रहने पर भी प्रतिमान भिन्न हो जाते हैं। यद्यपि सामाजिक परिवर्तन के अनेक प्रतिमान देखे जा सकते हैं तथापि मैकाइवर एवं पेज ने निम्नलिखित तीन प्रतिमान हमारे सम्मुख प्रस्तुत किए हैं—

1. पहला प्रतिमान : रेखीय परिवर्तन—सामाजिक परिवर्तन के प्रथम प्रतिमान के अनुसार परिवर्तन यकायक (Suddenly) होता है और फिर क्रमश: मन्दगति से अनिश्चितकाल तक सदैव ऊपर की ओर होता रहता है। अत: यह परिवर्तन उत्तरोत्तर वृद्धि करता जाता है। परिवर्तन की यह रेखा सदैव ऊपर की ओर चलती रहती है। उदाहरणार्थ—हम आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों को ले सकते हैं। एक बार जब कोई आविष्कार हो जाता है तो वह उत्तरोत्तर ऊपर चला जाता है तथा अन्य अनेक नवीन आविष्कारों का मार्ग भी प्रशस्त कर देता है। प्रौद्योगिकी (Technology) में होने वाले परिवर्तन भी इसी प्रकार के होते हैं। इसी प्रकार विज्ञान में होने वाले परिवर्तन भी इससे बहुत-कुछ साम्य रखते हैं। अत: निरन्तर उन्नत होते प्रतिमान रेखीय प्रतिमान कहलाते हैं। इनकी उन्नति की गति तीव्र भी हो सकती है और मन्द भी। मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''वास्तव में, इस प्रकार के परिवर्तन की विशेषता उसकी यकायकता नहीं बल्कि एक उपयोगी व्यवस्था के निरन्तर संचयी विकास के रूप में है जब तक इस व्यवस्था को उसी भाँति उत्पन्न कोई दूसरी नई व्यवस्था अचानक आकर जड़ से ही न उखाड़ फेंके।''

2. दूसरा प्रतिमान : उन्नति-अवनतिशील परिवर्तन–परिवर्तन के इस प्रतिमान के अनुसार परिवर्तन एवं विकास क्रमश: नहीं होता है वरन् एक ही स्थिति के बिलकुल विपरीत स्थिति भी तुरन्त ही परिवर्तित हो जाती है। कुछ समय तक परिवर्तन का प्रवाह लगातार ऊपर की दिशा में जाता है, बाद में यह एकदम विपरीत दिशा में प्रवाहित हो जाता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विकास और अवनति के ये सोपान परिलक्षित होते रहते हैं। आर्थिक जगत तथा जनसंख्या में होने वाले परिवर्तन इसी प्रतिमान की अभिव्यक्ति करते हैं। आर्थिक जगत में सामान्यत: अनेक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। जनसंख्या भी बढ़ती जाती है और फिर एकदम से घटनी शुरू हो जाती है। प्रथम प्रतिमान (रेखीय परिवर्तन) में यह निश्चित है कि परिवर्तन निश्चित दिशा में सदैव ऊर्ध्वगामी होता है किन्तु इस द्वितीय प्रतिमान में कुछ पता नहीं रहता कि परिवर्तन कब अपनी विपरीत दिशा में प्रवाहित हो जाएगा। यह चरमोन्नति सेनिम्न स्तर और निम्नतम से चरमोन्नत की ओर कुछ भी हो सकता है।

3. तीसरा प्रतिमान : चक्रीय परिवर्तन—परिवर्तन का यह प्रतिमान दूसरे से काफी मिलता-जुलता है। यह परिवर्तन पूरे जीवन अथवा उसके कई भागों में उसी प्रकार से देखने में आता है जैसे कि प्राकृतिक जगत में। इसकी तुलना साइकिल के पहिये की भाँति चलने वाले चक्र से की जा सकती है। प्राकृतिक जगत में इस प्रकार के परिवर्तन देखने में आते हैं। मौसमों का क्रमश: चक्रीय परिवर्तन इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जैसे समुद्र अथवा

नदी में एक के पीछे दूसरी लहरें उठती रहती हैं और उस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं होता, ठीक उसी प्रकार परिवर्तन आदि-अन्त विहीन निरन्तर होता रहता है। यह चक्र मानव जीवन में भी देखा जा सकता है। मनुष्य का जन्म होता है, वह युवा होता है, वृद्ध होता है तथा मर जाता है। ये अवस्थाएँ अवश्यम्भावी हैं। फैशन में होने वाले परिवर्तन तथा रूढ़ियों में होने वाले परिवर्तन इसी प्रतिमान के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि हम उपर्युक्त प्रतिमानों में परिवर्तन को व्यक्त करते हैं तथापि सभी परिवर्तनों को इन तीन प्रतिमानों के अन्तर्गत ही नहीं रखा जा सकता। कुछ परिवर्तन ऐसे भी होते हैं जो इन तीनों में से किसी में भी नहीं आते हैं अथवा तीनों में ही आते हैं। वस्तुत: मानव सम्बन्धों का अधिकतर भाग गुणात्मक (Qualitative) है। अत: जब किसी परिवर्तन में सांस्कृतिक-मूल्यों का समावेश होता है तो हमारे लिए उस परिवर्तन को किसी एक प्रतिमान के अन्तर्गत रखना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई के बावजूद अधिकांश समाजशास्त्री सैद्धान्तिक रूप में सामाजिक परिवर्तन के उपर्युक्त तीनों प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं।

8.6 सामाजिक परिवर्तन के कारक

सामाजिक परिवर्तन एक जटिल प्रक्रिया है, जिसके अनेक कारक हो सकते हैं। सामाजिक परिवर्तन का बिना किसी कारक के क्रियाशील होना असम्भव है परन्तु यह भी सत्य है कि किसी एक कारक से समाज में परिवर्तन होना मुश्किल है। अत: हम यहाँ सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों का अध्ययन करेंगे। इसके प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं—

1. भौतिक कारक—समाजशास्त्र में हम भौतिक, भौगोलिक या प्राकृतिक पर्यावरण में अन्तर नहीं करते। जब कोई भी परिवर्तन हमारे भौतिक या भौगोलिक पर्यावरण में होता है तो उसका प्रभाव हमारे समाज पर भी पड़ता है। भौतिक पर्यावरण; यथा पृथ्वी की बनावट, उसका धरातल, समुद्र तल से ऊँचाई, पर्वत, चट्टानें, नदियाँ, झरने तथा पठार, वन, झील, जलवायु, मौसम तथा रेगिस्तान इत्यादि मानव जीवन को प्रभावित करते हैं। आचार-विचार से लेकर रहन-सहन तक तथा समाज की अवनति और उन्नति पर इसका प्रभाव परिलक्षित होता है। अकाल, तूफान, पहाड़ गिरना, बाढ़ आना इत्यादि भौगोलिक कारक समाज में निराश्रयता, भुखमरी, चरित्र भ्रष्टता, अपराध, भिक्षावृत्ति आदि के जन्मदाता होते हैं।

बकल एवं हटिंगटन (Buckle and Huntington) ने भी स्पष्ट किया है कि प्राकृतिक अवस्था के अनुसार ही मनुष्य की कल्पना या भौतिक विकास सम्भव होता है। समाजशास्त्र में भौगोलिक सम्प्रदाय भी पाया जाता है। यह उन लोगों का सम्प्रदाय है जो मानव जीवन के हर पहलू की व्याख्या करने में भौगोलिक कारक को प्रमुख और निर्णायक मानते हैं। इस समूह के नेता हटिंगटन का कथन है कि जलवायु में होने वाले परिवर्तन हमारे स्वास्थ्य, हमारी मानसिक एवं शारीरिक क्षमता एवं कुशलता तथा उससे पैदा होने वाली हमारी संस्कृति एवं सभ्यता को प्रभावित एवं परिवर्तित करते हैं।

2. जैविक कारक—जैविक कारक में हम वंशानुक्रमणीय पद्धति में होने वाले परिवर्तनों को रखते हैं। वंशानुक्रमण ही यह निर्धारित करता है कि आगे आने वाली पीढ़ी का स्वास्थ्य कैसा होगा? जनसंख्या का जैसा स्वास्थ्य होगा वैसी ही शारीरिक एवं मानसिक कुशलता एवं क्षमता उनमें होगी। जैविक कारक ही विवाह की आयु एवं उत्पादन

दर को भी प्रभावित करते हैं। यदि हमारे वंशानुक्रमण में कोई परिवर्तन होता है तो हमारे समाज में अनेक परिवर्तन होते हैं। जैविक जगत में होने वाले परिवर्तन सामाजिक जगत में होने वाले परिवर्तनों को जन्म देते हैं। डार्विन की प्रसिद्ध पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पेसीज' (Origin of Species) में प्राकृतिक प्रवरण (Natural selection) के सिद्धान्त के अन्तर्गत योग्यतम प्राणी के जीवित रहने तथा निर्बलों की समाप्ति अथवा लोप अथवा जीवित रहने के लिए जिस संघर्ष (Struggle for existence) की बात कही गई है वह जैविक परिवर्तन तथा उसके फलस्वरूप होने वाले सामाजिक परिवर्तनों पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

3. जनसंख्यात्मक कारक—जनसंख्या में होने वाला परिवर्तन समाज में अनेक परिवर्तनों को जन्म देता है। यदि किसी देश की जनसंख्या के स्वास्थ्य में गिरावट आती है तो उसका प्रभाव वहाँ के समाज पर अवश्य पड़ता है। जनसंख्या के आकार में परिवर्तन भी समाज में अनेक परिवर्तनों को जन्म देता है। यदि किसी देश की जनसंख्या का आकार बड़ा होगा तो उस देश में ऐसे रीति-रिवाज विकसित हो जाएँगे जिनके द्वारा बढ़ती हुई जनसंख्या को कम किया जा सके। भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम इसी दृष्टिकोण से विकसित कार्यक्रम है। इसके विपरीत, यदि किसी देश की जनसंख्या का आकार यकायक गिर जाता है तो उस देश के रीति-रिवाजों में भी परिवर्तन होता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस एवं जर्मनी में जनसंख्या अधिक मात्रा में समाप्त होने के कारण वहाँ ऐसी संस्थाओं एवं परम्पराओं का विकास हुआ जोकि अधिक बच्चे पैदा करने पर बल देती थीं। रूस उस माँ को राष्ट्रीय पुरस्कार देता रहा है जिसके नौ या अधिक बच्चे हों। ये सभी बातें जनसंख्या से सम्बन्धित हैं तथा सामाजिक परिवर्तन का आधार हैं। जनसंख्या में स्त्री-पुरुष अनुपात भी सामाजिक परिवर्तन का कारक हो सकता है। यदि स्त्रियों की जनसंख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक हो जाती है अथवा इसके विपरीत हो जाती है तो विवाह इत्यादि की संस्था पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

4. प्रौद्योगिकीय कारक—एक समय था जब मनुष्य भोजन को एकत्र किया करता था। उत्पादन से उसका परिचय ही नहीं था। कृषि युग में आते-आते वह उत्पादन तो करने लगा, किन्तु वह उत्पादन केवल उपभोग के लिए ही होता था। आज प्रौद्योगिकी के विकास का युग है। हर क्षेत्र में नई प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है। इसने हमारे जीवन को तीव्र गति से बदला है। हमारे मूल्यों को इसने प्रभावित किया है। आज खेतों में काम करने के लिए ट्रैक्टर, यातायात एवं आवागमन के लिए बस एवं मोटर, रेलगाड़ी तथा हवाई-जहाज, अपनी बात दूसरों तक पहुँचाने के लिए टेलीफोन, तार, रेडियो, समाचारपत्र तथा पत्रिकाएँ आदि, दुश्मन से रक्षा करने एवं दुश्मन की सेनाओं का संहार करने के लिए टैंक इत्यादि, औषधि एवं उपचार के रूप में पैन्सिलीन तथा क्लोरोफॉर्म की खोज, हृदय परिवर्तन तथा फेफड़ों का बदलना एवं उनका सफल ऑपरेशन करना आदि से मानव समाज में होने वाले परिवर्तन की गति गम्भीर रूप से प्रभावित होने लगी है। आज हम कानपुर के आलू मुम्बई के बाजार में बेच सकते हैं। मेरठ, मुजफ्फरनगर और बिजनौर का गुड़ पूरे भारत में निर्यात किया जाता है। शीतालयों (Cold storages) के बनने से अब हम फल एवं सब्जी काफी समय तक उनमें रख सकते हैं और अन्य देशों से बिना मौसम के भी फलों (जैसे—ऑस्ट्रेलिया के सन्तरे एवं सेब, चीन की नाशपाती आदि) को प्राप्त किया जा सकता है। नसबन्दी ऑपरेशन ने समाज के विचारों को प्रभावित किया है। ट्रैक्टर ने हमारे कृषि उत्पादन को दुगना कर दिया है। नवीन प्रौद्योगिकी से हमारे जीवन में नित्य परिवर्तन होते रहते हैं। वेब्लन ने सामाजिक परिवर्तन लाने में प्रौद्योगिकीय कारकों को निर्णायक माना है।

5. आर्थिक कारक —जैसे-जैसे आर्थिक जगत में विकास होता है और नई आर्थिक व्यवस्था का प्रादुर्भाव होता है वैसे-वैसे समाज में अनेक परिवर्तन हुआ करते हैं। मार्क्स तो आर्थिक कारक को समाज में परिवर्तन का केन्द्रीय कारक मानते हैं। इनके अनुसार आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन से पूरे समाज में परिवर्तन होते हैं। आज समाज में आर्थिक क्रियाएँ इतना महत्त्वपूर्ण स्थान पाती जा रही हैं कि हमारी सामाजिक क्रियाएँ उनके चारों ओर घूमती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। हमारी हर क्रिया के पीछे आर्थिक स्वार्थ निहित रहता है। आज यदि किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन होता है तो अन्य स्थितियाँ स्वयं बदल जाती हैं। इस विवेचन से हम कह सकते हैं कि समाज की आर्थिक क्रियाओं में होने वाला परिवर्तन पूरे समाज में ही परिवर्तन ले आता है।

6. सांस्कृतिक कारक—सामाजिक परिवर्तन लाने में संस्कृति का भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। संस्कृति समाज की ही उपज है और समाज से घुली-मिली धारणा है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों में इतना अधिक सम्बन्ध है कि कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों में अन्तर ही नहीं किया है। ऑगबर्न ने सांस्कृतिक परिवर्तन और उनसे होने वाले सामाजिक परिवर्तन को समझाने के लिए 'सांस्कृतिक विलम्बना' के सिद्धान्त को हमारे सम्मुख रखा है। वास्तव में, बिना सांस्कृतिक मूल्यों के हम सामाजिक परिवर्तन का मूल्यांकन नहीं कर सकते। हमारी भौतिक संस्कृति के तत्त्व रेडियो, हथौड़ा, चश्मा इत्यादि तथा अभौतिक संस्कृति के तत्त्व विचार, मनोधारणाएँ, नैतिक आदर्श तथा सदाचार इत्यादि में परिवर्तन होते ही हमारे सामाजिक सम्बन्धों में तीव्र गति से परिवर्तन होने लगता है। भारतीय संस्कृति परम्परा प्रधान है। यही कारण है कि इसमें तुलनात्मक रूप से कम परिवर्तन होते हैं तथा खुली वर्ग व्यवस्था पर आधारित यूरोप की संस्कृति अधिक परिवर्तनशील है। अत: संस्कृति के विभिन्न भागों में परिवर्तन एवं सामाजिक परिवर्तन में एक सीधा सम्बन्ध पाया जाता है। वेबर एवं सोरोकिन ने भी सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों को महत्त्वपूर्ण माना है।

7. राजनीतिक कारक—सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध राजनीतिक जगत की क्रियाओं से भी है। उत्तर प्रदेश राज्य को दो या चार भागों में बाँटने की माँग करना, भाषा के आधार पर सूबे की माँग करना, अनशन करना एवं धरना देना, विभिन्न प्रकार की अनुचित माँगों (जैसे 'सिक्ख राज्य', 'गोरखा राज्य' या 'तेलंगाना राज्य' की स्थापना) को लेकर आन्दोलन करना इत्यादि राजनीतिक क्रियाएँ हैं। इनके कारण समाज में अत्यधिक परिवर्तन होता है। राज्य एक राजनीतिक उद्देश्य से संगठित समुदाय है। उसके पास शक्तिशाली सरकार है जोकि सामाजिक नीतियों के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाती है। वह बहुत-से परिवर्तन बलपूर्वक कर सकता है। उस का निर्णय सभी को मान्य होता है। अत: सामाजिक परिवर्तन के पीछे राजनीतिक हलचलों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। किसी देश की राजनीतिक व्यवस्था अथवा इसमें यकायक परिवर्तन उस देश के निवासियों के परस्पर सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं।

8. मनोवैज्ञानिक कारक—मनोवैज्ञानिक कारक प्रत्येक कार्य में उपस्थित रहते हैं। वस्तुत: सामाजिक सम्बन्ध, मानसिक सम्बन्ध ही होते हैं। हमारी समस्त क्रियाओं का उत्पत्ति-स्थल मस्तिष्क ही है। अत: क्रियाओं में परिवर्तन होने का तात्पर्य है, मस्तिष्क में परिवर्तन अर्थात् हमारे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण में परिवर्तन। हमारे सोचने-विचारने के ढंग पहले बदलते हैं, उनके बाद ही हमारे व्यवहार में परिवर्तन होता है। भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त हमारी कुछ मानसिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। आवश्यक नहीं कि यदि हम भौतिक एवं सामाजिक रूप से सन्तुष्ट हों तो मानसिक रूप से भी सन्तुष्ट होंगे। अमेरिका एवं अनेक जन समाजों में आज नवयुवक सारी भौतिक

सुख-सुविधाओं के होते हुए भी मानसिक नैराश्य (Mental frustration) का शिकार होता है। वास्तव में कोई भी भौतिक तत्त्व तब तक सफल या उपयोगी नहीं होता जब तक कि हम उसे मन एवं मस्तिष्क से स्वीकार न कर लें। यह स्वीकार करने की प्रक्रिया एक मानसिक प्रक्रिया है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के लिए हमारे मस्तिष्क में परिवर्तन काफी हद तक जिम्मेदार है।

9. संघर्ष–सामाजिक परिवर्तन में संघर्ष की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। प्रत्येक समाज में सहयोग तथा संघर्ष दोनों पाए जाते हैं। जहाँ सहयोग जीवन या व्यवस्था में एकरूपता, मतैक्य, एकीकरण एवं संगठन का विकास करता है, वहीं दूसरी ओर संघर्ष, दमन, विरोध व हिंसा की उत्पत्ति करता है। आज सामाजिक जीवन में सामान्य सहमति न होकर असहमति, प्रतिस्पर्धा तथा स्वार्थों में संघर्ष की प्रधानता होती जा रही है। कोजर (Coser) के शब्दों में, ''स्थिति, शक्ति और सीमित साधनों के मूल्यों और अधिकारों के लिए होने वाले द्वन्द्व को संघर्ष कहा जाता है जिसमें संघर्षरत समूहों का उद्देश्य न केवल मूल्यों को प्राप्त करना है बल्कि अपने प्रतिद्वन्द्वियों को प्रभावहीन करना, हानि पहुँचाना अथवा समाप्त करना भी है।'' सामाजिक परिवर्तन में संघर्ष की भूमिका को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले विद्वान् मार्क्स (Marx) हैं। इसके अतिरिक्त कोजर (Coser), सिमेल (Simmel) तथा डेहरेन्डोर्फ (Dahrendorf) इत्यादि विद्वानों ने इस सन्दर्भ में अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। मार्क्स ने परिवर्तन को प्रत्येक समाज में पाए जाने वाले परस्पर विरोधी हित समूहों के संघर्ष के आधार पर समझाने का प्रयास किया है। इन्होंने वर्ग संघर्ष का आधार उत्पादन के साधन बताया है तथा सभी समाजों के इतिहास को वर्ग संघर्ष का इतिहास कहा है। संघर्ष में दमन, विरोध या हिंसा की ही उत्पत्ति नहीं होती अपितु कोजर का कहना है कि संघर्ष कुछ मात्रा में आवश्यक रूप से अकार्यात्मक (Dysfunctional) होने की अपेक्षा समूह के निर्माण तथा सामूहिक जीवन की निरन्तरता के लिए एक आवश्यक तत्त्व भी है। उदाहरण के लिए—किसी बाह्य समूह या समाज में संघर्ष अपने समूह की आन्तरिक एकता को अधिक दृढ़ करता है तथा नवीन मित्रों तथा सहयोगियों की खोज के लिए अवसर प्रदान करता है। अत: कहा जा सकता है कि संघर्ष सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

8.7 सामाजिक बनाम सांस्कृतिक परिवर्तन

सांस्कृतिक परिवर्तन समाज के आदर्शों और मूल्यों की व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन है। रूथ बेनेडिक्ट (Ruth Benedict) ने संस्कृति के प्रतिमानों की चर्चा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उनमें परिवर्तन सदैव होते रहते हैं। उन्हीं के शब्दों में, ''हमें याद रखना चाहिए कि परिवर्तन से, चाहे उसमें कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न हों, बचा नहीं जा सकता।'' परन्तु सामाजिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तन के अर्थ एवं अन्तर के विषय में विद्वानों के बीच तीव्र मतभेद दिखाई देता है। अत: यह उचित होगा कि सांस्कृतिक परिवर्तन के अर्थ एवं उसकी विशेषताओं को स्पष्ट कर दिया जाये ताकि इसमें तथा सामाजिक परिवर्तन में अन्तर स्पष्ट हो सके।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को कुछ लोग एक समान अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इससे कभी-कभी यह भ्रम पैदा हो जाता है कि क्या सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन एक ही अवधारणा के दो नाम हैं। इस भ्रम का प्रमुख कारण समाज एवं संस्कृति की अवधारणा को स्पष्ट रूप से एक-दूसरे से अलग न कर पाना है। कुछ

विद्वान् इसी त्रुटि के शिकार हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के विषय में जो भ्रान्ति पैदा होती है उसका कारण विद्वानों में दोनों के अर्थ के बारे में पाया जाने वाला मतभेद है।

मैरिल एवं एल्ड्रिज की परिभाषा (Definition of Merrill and Eldredge)—सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा करते हुए मैरिल एवं एल्ड्रिज ने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन मनुष्यों के कार्यों अथवा उनके व्यवहारों में परिवर्तन है। दूसरी ओर, मानव के कार्यों को हर्षकोविट्स (Herskovits) ने अपनी पुस्तक मैन एण्ड हिज वर्क्स (Man and His Works) में 'संस्कृति' कहा है। अत: मानव क्रियाओं में परिवर्तन का अर्थ हुआ सांस्कृतिक परिवर्तन। दोनों परिभाषाएँ यदि एक साथ सामने रखी जाएँ तो निश्चित भ्रम उत्पन्न होगा।

गिलिन एवं गिलिन की परिभाषा (Definition of Gillin and Gillin)—गिलिन एवं गिलिन ने परिवर्तन की परिभाषा करते हुए कहा है कि सामाजिक परिवर्तन जीवन की स्वीकृत पद्धतियों में परिवर्तन है। यहाँ कठिनाई यह है कि सम्पूर्ण जीवन पद्धति को मैलिनोव्स्की (Malinowski) इत्यादि सामाजिक मानवशास्त्री 'संस्कृति' कहकर पुकारते हैं। अत: गिलिन तथा गिलिन स्वीकृत जीवन पद्धति में कालान्तर में उत्पन्न भिन्नता को सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा देते हैं। उसे निश्चित रूप से सांस्कृतिक परिवर्तन भी कहा जा सकता है।

डासन एवं गेटिस की परिभाषा (Definition of Dawson and Gettys)—सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में भ्रम का एक और आधार है प्रसिद्ध विद्वान् डासन एवं गेटिस की परिभाषा। उनके अनुसार, ''सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है, क्योंकि संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ एवं प्रयोग में सामाजिक ही होती है।'' इस परिभाषा के दो अर्थ हो सकते हैं—प्रथम, यह कि सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत ही आ जाता है और उसका कोई अलग अस्तित्व नहीं है और द्वितीय, यह कि सांस्कृतिक परिवर्तन एवं सामाजिक परिवर्तन दोनों एक-दूसरे के समानार्थक अर्थात् पर्यायवाची (Synonyms) हैं और एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग भली प्रकार से किया जा सकता है। दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है।

अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है कि उपर्युक्त भ्रम को कैसे दूर किया जा सकता है? यह भ्रम तभी दूर हो सकता है जब सांस्कृतिक परिवर्तन को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाए और फिर सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर स्पष्ट किया जाए। आज क्योंकि 'समाज' एवं 'संस्कृति' दोनों शब्दों का प्रयोग विशिष्ट एवं भिन्न अर्थों में किया जाता है। इसलिए इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को अलग-अलग परिभाषित किया जाता है। डेविस (Davis) के अनुसार, ''सामाजिक परिवर्तन वास्तव में सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं है अपितु इसका एक अंग है। सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत संस्कृति की किसी भी शाखा, जैसे कला, विज्ञान, दर्शन तथा तकनीकी में परिवर्तन को सम्मिलित किया जा सकता है।'' सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा अधिक व्यापक है। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन यद्यपि सामाजिक परिवर्तन ला सकता है परन्तु वह स्वयं सामाजिक परिवर्तन नहीं है।

फेयरचाइल्ड (Fairchild) सांस्कृतिक परिवर्तन की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि सांस्कृतिक परिर्वतन, ''एक समाज की सभ्यता में संशोधन है अर्थात् समाज के उस पर्यावरण में संशोधन है जो मनुष्य द्वारा निर्मित है, चाहे वह संशोधन अपने आप हुआ हो और चाहे योजनाबद्ध तरीके से किया गया हो।'' परन्तु यदि हम ध्यान से देखें तो यह परिभाषा संस्कृति और सभ्यता के बीच विभाजन रेखा को मिटा देती है और दोनों को समान अर्थों में प्रयोग करती है जो आज के समाजशास्त्रियों को मान्य नहीं है।

एल्फ्रेड एम० ली (Alfred M. Lee) ने सांस्कृतिक परिवर्तन को बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। इनके अनुसार, ''संस्कृति उन वस्तुओं और व्यवहारों की एक वह समन्वित व्यवस्था है जो मनुष्य के स्थायी भावों, मनोवृत्तियों एवं दर्शनों को अभिव्यक्त करती है। परिणामत: कोई भी आविष्कार या किसी नए पद का उसमें प्रवेश देर-सवेर सारी व्यवस्था में किसी न किसी संशोधन या पुनर्गठन के रूप में असर डालता है। ऐसे परिवर्तन प्राय: न तो नियोजित होते हैं और न ही पूर्व अनुमानित।'' इन परिवर्तनों को ही सांस्कृतिक परिवर्तन कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से सांस्कृतिक परिवर्तन की निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

1. संस्कृति से सम्बन्धित—सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध केवल मात्र समाज की संरचना एवं प्रकार्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु संस्कृति के किसी अंग (यथा कला, भाषा, विज्ञान, विश्वास, आचार, रूढ़ियाँ, प्रौद्योगिकी, प्रतीक, दर्शन इत्यादि) में होने वाले परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन कहा जाता है। अत: यह संस्कृति से सम्बन्धित है।

2 जटिल प्रकृति—संस्कृति एक अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल सम्पूर्ण है जिसमें असंख्य तत्त्व होते हैं। इसे भौतिक एवं अभौतिक दो भागों में बाँटा जा सकता है। अत: सांस्कृतिक परिवर्तन की प्रकृति अपेक्षाकृत जटिल है।

3.**विस्तृत क्षेत्र**—सांस्कृतिक परिवर्तन एक विस्तृत अवधारणा है अर्थात् इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसका अनुमान हम इसी बात से लगा सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन स्वयं सांस्कृतिक परिवर्तन का एक अंग है।

4. सार्वभौमिकता—सांस्कृतिक परिवर्तन सार्वभौमिक है अर्थात् यह प्रत्येक समाज में न्यूनाधिक गति में पाया जाता है। कुछ समाजों में अभौतिक संस्कृति का पक्ष बहुत ही कम परिवर्तित हुआ है, जबकि भौतिक पक्ष में परिवर्तन से अप्रत्यक्ष रूप से अभौतिक पक्ष भी प्रभावित हो रहा है।

5. असमान गति—सांस्कृतिक परिवर्तन की गति सभी समाजों में एक समान नहीं है। पश्चिमी समाजों में भौतिक संस्कृति में अत्यधिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप वहाँ की अभौतिक संस्कृति अर्थात् व्यक्तियों का रहन-सहन, परम्पराएँ, मूल्य व विश्वास आदि में तीव्रता से परिवर्तन हुए हैं। भारतीय समाज में यद्यपि भौतिक संस्कृति में तीव्रता से परिवर्तन हुए हैं तथापि अभौतिक संस्कृति में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर करना एक कठिन कार्य है। फिर भी, दोनों प्रकार के परिवर्तन एक ही नहीं हैं। इन दोनों में पाए जाने वाले अन्तरों को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है—

1. सामाजिक एवं सांस्कृतिक जगत में होने वाले परिवर्तनों की गति के आधार पर—सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर करने का एक दृष्टिकोण इन दोनों की गति में अन्तर देखना है। सामाजिक परिवर्तन अधिक गतिशील है अर्थात् इसमें अधिक तीव्रता से परिवर्तन होता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन कम गतिशील है अर्थात् इसमें बहुत कम अथवा धीमी गति से परिवर्तन होता है। इसीलिए सामाजिक सम्बन्धों में जिस तीव्रता से परिवर्तन होता है वैसा परिवर्तन प्राय: हमारी संस्कृति के अंगों जैसे कला, धर्म, दर्शन तथा रूढ़ियों में दिखाई नहीं देता।

2. समाज एवं संस्कृति की अवधारणाओं की विस्तृतता के आधार पर—यदि हम यह जान लें कि समाज एवं संस्कृति दोनों में से कौन सी अवधारणा अधिक विस्तृत है तो हम सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में स्पष्ट अन्तर कर सकेंगे। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने इन दोनों अवधारणाओं में इसी आधार पर अन्तर

स्थापित किया है। डेविस के अनुसार सामाजिक परिवर्तन से हमारा तात्पर्य केवल उन्हीं परिवर्तनों से है जो किसामाजिक संगठन अर्थात् सामाजिक संरचना एवं प्रकार्यों में होते हैं, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन न केवल समाज की संरचना एवं प्रकार्यों तक ही सीमित हैं बल्कि संस्कृति के किसी भी अंग जैसे कला, विज्ञान, ज्ञान, विश्वास, आचार, रूढ़ियों, प्रौद्योगिकी, दर्शन विचार के माध्यमों तथा इसी प्रकार के अन्य असंख्य सांस्कृतिक तत्त्वों में होने वाले परिवर्तनों को कहा जाता है।

दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि संस्कृति एक बहुत ही विस्तृत एवं जटिल सम्पूर्ण (Complex whole) है जिसमें असंख्य तत्त्व आते हैं। इस प्रकार, सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन भी सांस्कृतिक परिवर्तनों के अन्तर्गत आ जाते हैं। अत: हम यह कह सकते हैं कि सांस्कृतिक परिवर्तन की अवधारणा सामाजिक परिवर्तन से अधिक विस्तृत है। सामाजिक परिवर्तन तो सांस्कृतिक परिवर्तन का एक अंग मात्र है। डेविस के शब्दों में, ''सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का, जो निश्चित रूप से एक बड़ी अवधारणा है, एक भाग मात्र है। बाद वाली अवधारणा अर्थात् सांस्कृतिक परिवर्तन, संस्कृति के किसी भी भाग जिसमें हम कला, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, दर्शन इत्यादि को सम्मिलित करते हैं में होने वाले सभी परिवर्तनों का आलिंगन करती है तथा साथ-ही-साथ सामाजिक संगठन के नियमों एवं स्वरूपों के परिवर्तन भी इसमें सम्मिलित हैं।''

डेविस यद्यपि यह स्वीकार करता है कि, ''संस्कृति का कोई भी भाग सामाजिक संरचना से पूर्णत: सम्बन्धित नहीं है फिर भी यह एक वास्तविकता है कि सामाजिक व्यवस्था को बिना उल्लेखनीय रूप से प्रभावित किए हुए ही संस्कृति में अनेक परिवर्तन हो सकते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से, सांस्कृतिक परिवर्तन में हमारी रुचि केवल वहीं तक है जहाँ तक यह सामाजिक संगठन में पैदा होता है तथा उसे प्रभावित करता है। सामाजिक परिवर्तन से बिलकुल अलग रूप में हमारी इसमें कोई रुचि नहीं है।''

इस प्रकार, यह सत्य होते हुए भी कि समाज एवं संस्कृति दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं और एक दूसरे पर निर्भर हैं, यह मानना ही पड़ेगा कि अध्ययन के लिए दोनों अवधारणाओं को स्पष्ट रूप से अलग किया जा सकता है और दोनों अवधारणाओं में संस्कृति की अवधारणा अधिक व्यापक एवं बड़ी है। अत: सांस्कृतिक परिवर्तन बड़ा है और सामाजिक परिवर्तन छोटा। वास्तव में, सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का ही एक भाग है।

3. समाज एवं संस्कृति की प्रकृति के आधार पर—समाज एवं संस्कृति दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। मैकाइवर एवं पेज ने भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को भिन्न-भिन्न बताया है। उनके अनुसार, ''समाज वर्तमान सम्बन्धों का बदलता हुआ सन्तुलन है।'' यह एक प्रक्रिया है, उत्पत्ति नहीं है, तथा कालक्रम है। समाज में जैसे ही कोई परिर्वतन आता है वैसे ही सामाजिक सम्बन्ध बदल जाते हैं और उनके स्थान पर नए आ जाते हैं। किन्तु संस्कृति के बारे में यह बात लागू नहीं होती। संस्कृति एक उत्पत्ति है, जो किउस या उन शक्तियों के समाप्त हो जाने के बाद भी बनी रहती है जिन्होंने उसे जन्म दिया था किन्तु अब मौजूद नहीं हैं। सामाजिक सम्बन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक वस्तुओं को हम किसी संग्रहालय में रख सकते हैं किन्तु सामाजिक सम्बन्धों को हम संग्रहालय में नहीं रख सकते। समाज की एक प्रमुख विशेषता अमूर्तता है किन्तु सांस्कृतिक तत्त्वों को हम भौतिक व मूर्त रूप दे सकते हैं। एक सामाजिक संस्था तब तक ही बनी रह सकती है जब तक कि उसके मानने वाले जीवित रहें, किन्तु यदि लोग किसी प्रथा या परम्परा को मानना ही छोड़ दें तो उसका अस्तित्व ही क्या हो सकता है। इस प्रकार, सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक अथवा सभ्यता सम्बन्धी परिवर्तन से स्पष्ट रूप

से भिन्न है। एक वह परिर्वतन है जोकि कालक्रम अर्थात् प्रक्रिया में होता है तथा दूसरा वह है जो कि उत्पत्ति (Product) में होता है।

अत: सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में प्रमुख अन्तर निम्नांकित हैं—

1. सामाजिक परिवर्तन संरचना में होने वाले या सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन को कहते हैं, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन संस्कृति के विभिन्न अंगों में होने वाला परिवर्तन है।
2. सामाजिक परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत तीव्र है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन (विशेषत: अभौतिक संस्कृति) की गति अपेक्षाकृत धीमी है।
3. सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से सामाजिक परिवर्तन आता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन प्रसार तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा आता है।
4. सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का एक हिस्सा है। यह सांस्कृतिक परिवर्तन की अपेक्षा संकुचित है तथा इसलिए इसका नियोजन सरल है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन क्योंकि अधिक व्यापक है इसलिए इसका नियोजन सम्भव नहीं है।
5. सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध व्यक्तियों से है, वस्तुओं से नहीं, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव द्वारा उत्पादित भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं से है।
6. सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति के सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों तथा वस्तुओं के उत्पादकों के सम्बन्धों में परिवर्तन को बताता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन व्यक्ति-पदार्थ के सम्बन्धों तथा मानव द्वारा उत्पादित वस्तुओं में होने वाले परिवर्तनों को बताता है।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं क्योंकि सामाजिक परिवर्तन संस्कृति को प्रभावित करता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का प्रभाव समाज पर पड़ता है। साथ ही, दोनों प्रकार के परिवर्तनों के बीच अन्तर के अध्ययन से कुछ निष्कर्ष उभरते हैं—प्रथम, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर से तात्पर्य यह नहीं है कि दोनों एक दूसरे के विलोम या विरोधी हैं। मैकाइवर तथा पेज ने उचित ही कहा है कि सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन साथ-साथ घटित होते हैं अर्थात् एक में परिवर्तन दूसरे में परिवर्तन को जन्म देता है। द्वितीय, दोनों ही परिवर्तन एक दूसरे के पूरक भी हैं। सांस्कृतिक परिवर्तन निर्देशक की भूमिका निभाता है और सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तनों में उपयुक्त संशोधन की आवश्यकता की ओर इशारा करता है। मैकाइवर एवं पेज के इस कथन से पूर्णत: सहमति व्यक्त की जा सकी है कि, ''यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि समस्त सांस्कृतिक परिवर्तन में सामाजिक परिवर्तन होता है क्योंकि......सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्वों का घनिष्ठ अन्तर्सम्बन्ध है।''

8.8 शब्दावली

सामाजिक परिवर्तन — सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक संरचना (ढाँचे), प्रकार्यों एवं सामाजिक सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन है।

सांस्कृतिक परिवर्तन — सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत संस्कृति की किसी भी शाखा, जैसे कला, विज्ञान, दर्शन तथा तकनीकी में होने वाले परिवर्तन को सम्मिलित किया जा सकता है।

8.9 अभ्यास प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन किसे कहते हैं? सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित कीजिए तथा इसके प्रमुख कारक बताइए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Alfred M. Lee (ed.), **New Outline of the Principles of Sociology**, New York : Barnes and Noble, 1951.
- Benedict, Ruth, **Patterns of Culture**, New York : Houghton Mifflin, 1934.
- Bierstedt, Robert, **The Social Order**, New York : McGraw Hill, 1957.
- Cameron, W. B., **Modern Social Movements : A Sociological Outline**, New York : Random House, 1966.
- Davis, Kingsley, **Human Society**, New York : MacMillan Company, 1949.
- Dawson, C. A. and Gettys, W. E., **An Introduction to Sociology**, New York : Ronald Press, 1994.
- Fairchild, H. P. (ed.), **Dictionary of Sociology**, London : Vision, 1958.
- Federico, Ronald C. **Sociology**, Mishawaka : Addison-Wesley, 1983.
- Francis E. Merrill and H. W. Eldredge, **Culture and Society : An Introduction to. Sociology**, New Jersey : Englewood Cliffs, 1960.

इकाई –9

लौकिकीकरण

Secularization

इकाई की रूपरेखा

9.0 उददेष्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 लौकिकीकरण का अर्थ

9.3 लौकिकीकरण की प्रमुख **विशेषताएँ**

9.4 भारत में लौकिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन

9.5 लौकिकीकरण को प्रोत्साहन देने वाले कारक

9.6 भारतीय समाज में लौकिक राज्य की विषेषतायें

9.7 भारत एक लौकिक राज्य के रूप में

9.8 शब्दावली

9.9 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.0 उददेश्य

भारत एक लौकिक राज्य है तथा भारतीय संविधान में स्पष्ट शब्दों में यह लिखा हुआ है कि सभी धर्मों के लोग एक–समान हैं तथा उन्हें समान अधिकार दिए जाएँगे। धर्म, जाति, लिंग, प्रजाति इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा। धर्म का अन्य पक्षों, विशेष रूप से राजनीति, से अलग होना लौकिकीकरण कहलाता है। यह परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसमें धर्म का महत्त्व कम हो जाता है तथा तार्किक विचारों को प्रमुखता दी जाने लगती है। इस इकाई का उद्देश्य भारत में साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद की समस्याओं के विवेचन के साथ–साथ लौकिकीकरण की प्रक्रिया को समझाना भी है।

9.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज में आज परिवर्तन की जो प्रक्रियाएँ क्रियाषील है, उनमें लौकिकीकरण अथवा धर्मनिरपेक्षीकरण का प्रमुख स्थान है। वास्तविकता यह है कि हमारे समाज में पष्चिमीकरण तथा संस्कृतिकरण के फलस्वरूप जो नवीन दषायें उत्पन्न हुई, उन्हीं के संयुक्त इस प्रक्रिया को जन्म दिया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद यह प्रक्रिया बहुत तेजी से प्रभाव पूर्ण बनने लगी। तथा यहां न केवल सभी धर्मो को मानने वाले लोगों को सम्मान अधिकार दिये गये बल्कि अनेक नये कानूनों के द्वारा समाज का नये सिरे से पुर्नगठन करना भी प्रारम्भ किया गया। सरकार द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य

घोषित कर दिये जाने से भी लौकिकीकरण की इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार यह आवष्यक हो जाता है कि भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं तथा भारतीय समाज के नये आधारों को समझने के लिए लौकिक के लौकिकीकरण की प्रक्रिया के अभिप्राय एवं भारतीय समाज पर उसके प्रभाव का मूल्यांकन किया जाये।

9.2 लौकिकीकरण

लौकिकीकरण अथवा धर्मनिरपेक्षीकरण भी सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। भारत परम्परागत रूप से धर्म की प्रधानता वाला देश है। अंग्रेजी शासनकाल में पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के कारण सामाजिक कुरीतियों (जोकि धार्मिक विचारों से सम्बन्धित थीं) जैसे बाल विवाह, सती प्रथा, मानव बलि, कन्या वध, विधवा पुनर्विवाह का निषेध आदि को समाप्त करने के लिए धार्मिक मान्यताओं की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप एक विरोधी आन्दोलन शुरू हुआ। साथ ही राजनीतिक जागरूकता तथा विज्ञान के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण भारत में लौकिकीकरण की शुरुआत हुई। यह प्रक्रिया तभी से समाज में निरन्तर होती चली आ रही है। लौकिकीकरण के परिणामस्वरूप तार्किकता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोणों का विकास होता है।

9.2.1 लौकिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषाएँ

लौकिकीकरण परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप सभी बातों की व्याख्या धर्म के स्थान पर तार्किकता के आधार पर दी जाने लगती है अर्थात् जिसे लोग पहले धार्मिक मानते थे उसे अब वैसा नहीं समझा जाता। वेब्स्टर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश (Webster International Dictionary) में लौकिकवाद की प्रक्रिया का अर्थ इन शब्दों में स्पष्ट किया गया है—''यह सामाजिक आचारों की एक ऐसी व्यवस्था है जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि आचार सम्बन्धी मापदण्ड तथा व्यवहार विशेष रूप से धर्म से हटकर वर्तमान जीवन तथा सामाजिक कल्याण पर आधारित होने चाहिए।''

श्रीनिवास (Srinivas) के अनुसार, ''लौकिकीकरण शब्द में वह बात निहित है कि जिसे पहले धार्मिक माना जाता था वह अब वैसा नहीं माना जाता और इसमें विभेदीकरण की एक प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न पक्ष—आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक तथा नैतिक—एक-दूसरे के मामले में अधिकाधिक सचेत हो जाते हैं। चर्च एवं राज्य में अन्तर तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य की भारतीय अवधारणा दोनों में ही ऐसे विभेदीकरण के अस्तित्व की स्वीकृति निहित है।'' वाटरहाउस (Waterhouse) के अनुसार, ''लौकिकवाद एक विचारधारा है जो जीवन तथा आचार-व्यवहार का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, जो धर्म द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसका सार भौतिकवाद है तथा मान्यता यह है कि मानवीय कल्याण को केवल राष्ट्रीय प्रयासों के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लौकिकीकरण धर्म के स्थान पर तर्क के आधार पर किसी घटना की व्याख्या करना है तथा इसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न पक्ष एक-दूसरे से अलग हो जाते हैं। तार्किकता के कारण इसमें बुद्धिवाद भी सम्मिलित है। बुद्धिवाद परम्परागत विश्वासों के स्थान पर आधुनिक ज्ञान की स्थापना को प्रोत्साहन देता है।

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, लौकिकीकरण 'धार्मिक निरपेक्षता' है अर्थात् सहअस्तित्ववाद है। एम० एन० राय ने इसे धर्म की दासता से बच निकलने का अवसर बताया है। विलबर्ट ई० मूर ने इसे परम्परागत धर्म का सक्रिय बहिष्कार तथा जीवन में धार्मिक नियन्त्रण का कम होना बताया है।

9.3 लौकिकीकरण की प्रमुख विशेषताएँ

लौकिकीकरण के बारे में विभिन्न विद्वानों के विचारों से इस प्रक्रिया की अनेक विशेषताएँ भी स्पष्ट होती हैं जिनमें से प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **परिवर्तन की प्रक्रिया**—लौकिकीकरण सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया है। एम० एन० श्रीनिवास ने लोगों की परम्परागत अभिवृत्तियों, मूल्यों तथा कर्मकाण्डीय व्यवहारों में परिवर्तन आने को ही लौकिकीकरण बताया है।

2. **धार्मिकता का ह्रास**—श्रीनिवास द्वारा दी गई लौकिकीकरण की परिभाषा से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस प्रक्रिया में धार्मिक विचारों का ह्रास हो जाता है क्योंकि जिन वस्तुओं की व्याख्या पहले धार्मिक आधार पर की जाती थी अब उन्हें वैसा नहीं माना जाता।

3. **विभेदीकरण की प्रक्रिया**—लौकिकीकरण में विभेदीकरण की प्रक्रिया भी निहित है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न पक्ष (जैसे आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक एवं नैतिक) एक-दूसरे के मामले में अधिकाधिक सावधान हो जाते हैं। श्रीनिवास के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य की भारतीय अवधारणा तथा राज्य एवं चर्च में अन्तर में ऐसे विभेदीकरण के अस्तित्व की स्वीकृति निहित है।

4. **बुद्धिवाद**–लौकिकीकरण में बुद्धिवाद अथवा विवेकशीलता को अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक घटना की व्याख्या तर्क एवं कार्य-कारण सम्बन्धों के आधार पर की जाती है। रूढ़ियों और अन्धविश्वासों का स्थान तार्किकता ले लेती है। बुद्धिवाद का लक्ष्य सामाजिक व्यवहारों को तर्क व बुद्धि के सिद्धान्त के अनुसार नियमित करना एवं तर्कहीन बातों को समाप्त करना है।

5. **वैज्ञानिक अवधारणा**—लौकिकीकरण एक वैज्ञानिक अवधारणा है क्योंकि इससे केवल धार्मिक विचारों की महत्ता ही कम नहीं होती अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी बढ़ावा मिलता है। प्रत्येक वस्तु की व्याख्या धर्म के स्थान पर कार्य-कारण सम्बन्धों के आधार पर की जाती है।

6. **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल**—लौकिकीकरण में यह मान्यता भी निहित है कि व्यक्ति को आत्मिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए अर्थात् उसे किसी भी धर्म को अपनाने की एवं किसी भी धार्मिक संस्था का सदस्य होने की स्वतन्त्रता है तथा राज्य इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

9.4 भारत में लौकिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन

भारत में लौकिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ पश्चिमीकरण के साथ ही अंग्रेजी शासनकाल में हुआ तथा तभी से यह प्रक्रिया भारतीय समाज एवं संस्कृति को प्रभावित करती आई है। यद्यपि इसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ा है फिर भी हिन्दू इससे सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं ० ल्योंकि उनमें धर्म की कोई केन्द्रीय सत्ता नहीं है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया उन सम्प्रदायों को सबसे अधिक प्रभावित करती है जो असंगठित हैं तथा जिनमें केन्द्रीय सत्ता का अभाव पाया जाता है। श्रीनिवास के अनुसार इससे सर्वाधिक हिन्दू प्रभावित इसलिए हुए हैं कि उनमें जो पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणाएँ थीं वे बहुत क्षीण हो गईं क्योंकि हिन्दू धर्म का कोई केन्द्रीय एवं देशव्यापी संगठन नहीं है।

लौकिकीकरण द्वारा भारतीय समाज में होने वाले प्रमुख परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

1. पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा में परिवर्तन–हिन्दू धर्म में पवित्रता-अपवित्रता की धारणाओं का विशेष महत्त्व है। उच्च जातियाँ कुछ निम्न जातियों को अपवित्र मानती रही हैं तथा उन्हें दूर रखने के लिए उन पर

प्रतिबन्ध लगाती रही हैं। लौकिकीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणाएँ प्रभावित हुई हैं। अपवित्रता की भावना की व्यापकता घटी है। श्रीनिवास ने यात्रा और जलपान की दुकानों के उदाहरण देकर पवित्रता के घटते हुए सन्दर्भ का विवरण दिया है। भीड़-भाड़ में, बस या रेल में यात्रा करते समय लोग एक-दूसरे को प्राय: स्पर्श करते हैं (और दूरी बनाए रखना कठिन है) और जलपान करते हुए चाय का कॉफीघरों में परोसने वाले कर्मचारी की जाति पर ध्यान नहीं देते। साथ ही, शाकाहारी और मांसाहारी लोग भी बहुत निकट बैठकर खाना खाते हैं। अत: लौकिकीकरण के परिणामस्वरूप निश्चित रूप से हिन्दुओं में पाई जाने वाली पवित्रता-अपवित्रता की धारणाओं की व्यापकता कम हुई है।

2. जीवन-चक्र और संस्कारों में परिवर्तन—हिन्दुओं को अपने जीवनकाल में अनेक धार्मिक कर्मकाण्ड एवं संस्कार सम्पन्न करने होते हैं। लौकिकीकरण के परिणामस्वरूप कर्मकाण्डों का महत्त्व कम हो गया है और जो संस्कार रह गए हैं उनमें भी संक्षिप्तीकरण एवं साधारणीकरण की प्रवृत्ति शुरू हो गई है। कुछ संस्कार जैसे कि नामकरण, चौल एवं उपकर्म तो अब पूर्णत: समाप्त होते जा रहे हैं। विवाह संस्कार का संक्षिप्तीकरण हो गया है। दैनिक जीवन में संध्या, स्नान, पूजा, वेदपाठ का समय भी कम होता जा रहा है। कर्मकाण्ड, प्रार्थना, उपवास आदि की भी प्रवृत्तियाँ घटती जा रही हैं। पुरोहितों एवं ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा का ह्रास हुआ है और नगरों में धार्मिक समारोहों, त्योहारों, उत्सवों एवं संस्कारों के समय पुरोहितों एवं धार्मिक पुरुषों के स्थान पर नेताओं को आमन्त्रित किया जाने लगा है। एम० एन० श्रीनिवास तथा हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव का कहना है कि तीज-त्योहार और तीर्थ यात्राएँ अनुष्ठानबद्ध कम और मनोरंजनात्मक अधिक होते जा रहे हैं। तीर्थ यात्रा अब केवल धार्मिक भावनाओं के कारण ही नहीं की जाती अपितु देश भ्रमण एवं दर्शनीय स्थानों के दर्शन करने के उद्देश्य से भी की जाती है। दशहरा-दीपावली जैसे त्योहार सामूहिक रूप से मनाये जाने लगे हैं। मन्दिर और मठों की सम्पत्ति का प्रयोग जन-कल्याण के लिए किया जाने लगा है। इन धार्मिक संस्थानों की ओर से विद्यालय, अनाथालय एवं अस्पताल आदि खोले जा रहे हैं। अनेक ब्राह्मणों ने अपना परम्परागत व्यवसाय (पुरोहिताई) त्याग कर, नवीन व्यवसायों (यथा प्राध्यापक, डॉक्टर, इन्जीनियर, प्रशासक एवं अन्य प्रतिष्ठाजनक पदों को ग्रहण कर लिया है। कोई सर्वव्यापी संगठन न होने के कारण हिन्दू इससे सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं और समय के अनुसार हिन्दू धर्म की नई व्याख्या दी जाने लगी है।

3. सामाजिक संरचना में परिवर्तन—लौकिकीकरण के कारण भारतीय सामाजिक संरचना में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। श्रीनिवास के अनुसार इससे सामाजिक संरचना के तीनों स्तम्भ—जाति, ग्रामीण समदाय और संयुक्त परिवार—प्रभावित हुए हैं। इन तीनों पर पड़ने वाले प्रमुख प्रभाव इस प्रकार हैं—

(i) जाति व्यवस्था पर प्रभाव—जाति व्यवस्था भारतीय समाज की प्रमुख विशेषता रही है। लौकिकीकरण के कारण पवित्रता-अपवित्रता की भावनाओं के ह्रास के कारण जातियों में दूरी कम हुई है। निम्न जातियों पर लगी हुई निर्योग्यताएँ समाप्त हो गई हैं तथा इन विशेष सुविधाओं की उपलब्धि से इन जातियों में आत्म-सम्मान की भावनाएँ विकसित हुई हैं। सभी जातियों को समान अधिकार मिल जाने के कारण ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति प्रभावित हुई है। लौकिकीकरण के कारण अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिला है तथा जाति एवं व्यवसाय में परम्परागत सम्बन्ध समाप्त हो गया है। अस्पृश्यता समाप्त हो गई है।

(ii) ग्रामीण समाज पर प्रभाव—लौकिकीकरण ने भारतीय ग्रामीण संरचना को भी काफी सीमा तक प्रभावित किया है। आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्यापक परिवर्तनों के कारण (जोकि काफी सीमा तक लौकिकवाद से जुड़े हुए हैं) ग्रामीण समाज का अधिक प्रभावशाली एकीकरण हुआ है। आवागमन व संचार के साधनों में विकास, सर्वव्यापी वयस्क मताधिकार एवं स्वशासन का प्रारम्भ, अस्पृश्यता का उन्मूलन, शिक्षा की बढ़ती लोकप्रियता तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों से गाँव वालों की आकांक्षाएँ एवं धारणाएँ बदली हैं। अब ग्रामवासी अच्छा जीवन व्यतीत करने की कामना करने लगे हैं। विभिन्न जातियों के परस्पर सम्बन्धों में परिवर्तन आया है तथा ग्रामवासियों में राजनीतिक जागरूकता बढ़ी है। आज गाँव का वातावरण पहले से कहीं अधिक उन्मुक्त है।

(iii) संयुक्त परिवार पर प्रभाव—लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने संयुक्त परिवार प्रणाली को भी प्रभावित किया है। परिवार के धार्मिक नियन्त्रण में कमी हुई है तथा इससे कर्त्ता की सत्ता में तथा परिवार की संरचना में परिवर्तन आए हैं। आज संयुक्त परिवारों की अपेक्षा एकाकी परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है तथा इसका एक कारण लौकिकीकरण है जिससे सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा मिला है। ग्रामीण परिवारों की अपेक्षा नगरीय परिवारों का अधिक लौकिकीकरण हुआ है। हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव का कहना है कि देहात से अलग होकर शहर में बसने वाले एकाकी परिवार, परम्परागत संयुक्त परिवार के दबाव से मुक्त हो गए हैं।

4. परम्परागत धर्म में परिवर्तन—लौकिकीकरण परम्परागत धर्म में परिवर्तन का भी एक स्रोत है। इससे मठों और मन्दिरों का उपयोग आज जनकल्याण कार्यों के लिए किया जाने लगा है। धर्म की व्याख्या लौकिक तथा तार्किक आधार पर की जाने लगी है जिससे मठाधिपतियों एवं पुरोहितों की स्थिति में परिवर्तन आया है तथा अनेक धार्मिक कुरीतियाँ एवं अन्धविश्वास समाप्त होते जा रहे हैं।

इस प्रकार, लौकिकीकरण ने भारतीय समाज के तीन स्तम्भ—जाति, गाँव तथा संयुक्त परिवार—को ही प्रभावित नहीं किया है अपितु, धार्मिक, .आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक एवं मनोरंजनात्मक पक्षों को भी प्रभावित किया है।

9.5 भारत में लौकिकीकरण को प्रोत्साहन देने वाले कारक

भारत में लौकिकीकरण की प्रक्रिया को अनेक कारकों ने प्रोत्साहन दिया है जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1. पश्चिमीकरण—भारत में लौकिकीकरण को प्रोत्साहन देने वाला प्रमुख कारक पश्चिमीकरण है। वास्तव में लौकिकीकरण की शुरूआत ही अंग्रेजी शासनकाल में हुई। इस सन्दर्भ में श्रीनिवास का कहना है कि अंग्रेजी शासन अपने साथ भारतीय जीवन और संस्कृति के लौकिकीकरण को प्रोत्साहित करने वाले कारक के रूप में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को भी साथ लाया। अंग्रेजी शासनकाल में तकनीकी के विकास, आवागमन एवं संचार के साधनों में विकास तथा शिक्षा सुविधाओं में वृद्धि से लौकिकीकरण को प्रोत्साहन मिला।

2. नगरीकरण एवं औद्योगीकरण—भारत में लौकिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देने में नगरीकरण एवं औद्योगीकरण का भी विशेष स्थान है। नगरों में लौकिकीकरण इसलिए शीघ्रता से हुआ क्योंकि इन केन्द्रों पर धार्मिक विचारों की महत्ता कम थी तथा विजातीयता के कारण समायोजन क्षमता पहले से ही अधिक थी। अधिकांश उद्योग भी नगरों में ही विकसित हुए जिससे कि विभिन्न जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के लोगों को एक साथ काम करने का अवसर मिला। औद्योगिक केन्द्रों में ऊँच-नीच की भावनाओं को बनाए रखना सम्भव ही नहीं है साथ ही, औद्योगीकरण से वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टिकोण में भी वृद्धि होती है।

3. संचार व्यवस्था एवं आवागमन के साधनों का विकास—संचार साधनों के विकास तथा आवागमन के साधनों के विकास से भी लौकिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला है। इनसे विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोगों में परस्पर सम्पर्क बढ़ता है तथा गतिशीलता में वृद्धि होती है। विजातीय लोगों के साथ रहने से तथा इनके साथ अन्तर्कियाओं से दृष्टिकोण व्यापक हो जाता है और धार्मिक संकीर्णता समाप्त हो जाती है।

4. आधुनिक शिक्षा—परम्परागत रूप से धर्म की प्रधानता के कारण भारतीय समाज में शिक्षा केवल द्विज जातियों तक ही सीमित थी तथा निम्न जातियों को शिक्षा सुविधाओं से वंचित रखा जाता था। परन्तु आधुनिक शिक्षा के प्रचलन से भारत में लौकिकीकरण को प्रोत्साहन मिला है। अंग्रेजी शासनकाल में आधुनिक (पश्चिमी) शिक्षा प्रणाली की शुरूआत हुई तथा अंग्रेजी भाषा द्वारा भारतीय लोगों को पश्चिमी देशों की प्रमुख विशेषताओं (जैसे समानता, बुद्धिवाद, विवेकशीलता, मानवतावाद, स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व आदि) के बारे में पता चला तथा इनका हमारे रूढ़िवादी विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा। साथ ही भिन्न जातियों पर लगे शिक्षा प्रतिबन्ध समाप्त हो गए और शिक्षा संस्थाएँ उच्च एवं निम्न जातियों के बच्चों के लिए एक-साथ बैठने और एक-दूसरे से अन्तर्क्रिया करने के स्थल बन गईं। इसमें पवित्रता-अपवित्रता की धारणाओं में परिवर्तन आया तथा लौकिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला।

5. धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन—भारतीय समाज में प्रचलित धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने के लिए अनेक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ जिनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसाइटी आदि प्रमुख हैं। इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप अस्पृश्यता, जाति-पाँति के भेदभाव एवं कट्टरता तथा धार्मिक अन्धविश्वासों की समाप्ति हुई तथा स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के विचारों को प्रोत्साहन मिला। इससे लौकिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला।

6. स्वतन्त्रता आन्दोलन—स्वतन्त्रता आन्दोलन ने भी भारतीय जनता में सामाजिक एवं राजनीतिक जागरूकता में वृद्धि करके लौकिकीकरण को प्रोत्साहन दिया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन में सभी धर्मों के लोगों ने मिलकर कार्य किया तथा इसी के परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया तथा समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित कर लौकिकीकरण को आगे बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है।

7. सामाजिक विधान—अंग्रेजी शासनकाल में तथा स्वतन्त्र भारत में धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए जो प्रयास किए गए, उनसे भी लौकिकीकरण को प्रोत्साहन मिला है। इन विधानों से बाल विवाह, सती प्रथा, मानव बलि, विधवा पुनर्विवाह निषेध, अस्पृश्यता आदि ही समाप्त नहीं हुए अपितु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सभी धर्मों के व्यक्तियों को समान अधिकार दिए गए। अल्पसंख्यक वर्गों को कुछ विशेषाधिकार भी दिए गए। संविधान की दृष्टि से भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य का दर्जा मिलना लौकिकीकरण को बढ़ाने का एक प्रभावशाली प्रयास है। आज भारत में जाति, धर्म, सम्प्रदाय, लिंग, प्रजाति इत्यादि के आधार पर किसी भी नागरिक से भेदभाव नहीं किया जाता जोकि धर्मनिरपेक्ष नीति का ही सूचक है।

8. हिन्दू धर्म में संगठन तथा केन्द्रीय सत्ता का अभाव–हिन्दू धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा संगठित नहीं है तथा कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता भी नहीं है जोकि सभी हिन्दुओं को संगठित रख सके। वास्तव में, हिन्दू धर्म स्वयं अनेक समूहों, सम्प्रदायों, मठों और उपसंस्कृतियों में विभाजित है। प्रो० श्रीनिवास का कहना है कि लौकिकीकरण की

प्रक्रिया हिन्दुओं में केन्द्रीय सत्ता के अभाव के कारण शीघ्रता से विकसित हो गई। पवित्रता-अपवित्रता सम्बन्धी विचारों की महत्ता में कमी तथा धार्मिक सहिष्णुता के कारण लौकिकीकरण को हिन्दुओं को अधिक प्रभावित करने का अवसर मिला है।

9. राजनीतिक दल–हमारे देश में प्रजातान्त्रिक प्रणाली है तथा बहुदलीय व्यवस्था के कारण विभिन्न राजनीतिक दलों ने लौकिकीकरण लाने में सहायता दी है। कोई भी दल जोकि धार्मिक विचारधारा पर गठित हुआ, अधिक देर तक टिका नहीं रह सका। इसलिए अधिकांश दलों ने धर्मनिरपेक्षता को अपना लक्ष्य स्वीकार किया जिससे अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के लोग भी इन दलों का समर्थन कर सकें।

अत: भारत में विविध प्रकार के कारकों ने लौकिकीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देने में सहायता दी है। यह प्रक्रिया आज भी हमारे समाज में चल रही है।

9.6 भारतीय समाज में लौकिक राज्य की विशेषताएँ

भारत एक लौकिक राज्य है अथवा नहीं? इस प्रश्न का उत्तर देना एक कठिन कार्य है। जिस प्रकार लौकिकीकरण पश्चिमी समाजों में पाया जाता है ठीक उसी प्रकार का लौकिकीकरण भारतवर्ष में नहीं पाया जाता है, क्योंकि भौतिकवाद तथा धर्म में लौकिकवाद की पृथकता भारतीय परम्परा से मेल नहीं खाती। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कहना है कि हमारे वर्तमान संकट का सबसे प्रमुख कारण लौकिकवाद ही है। इस आशापूर्ण विश्व को जिस तत्त्व ने छिन्न-भिन्न किया है वह है भ्रम में डालने वाली मान्यताओं, विश्वासों तथा मूल्यों पर आधारित एक मिथ्या दर्शन का पनपते रहना। कुछ भी हो भारतीय समाज में एक लौकिक राज्य की अनेक विशेषताएँ पाई जाती हैं जिनमें से प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

1. भारतीय संविधान सभी धर्मों को एक-समान मानता है—भारत एक लौकिक राज्य है क्योंकि हमारे संविधान में स्पष्ट शब्दों में यह लिखा हुआ है कि सभी धर्मों के लोग एक-समान हैं तथा उन्हें समान अधिकार दिए जाएँगे। धर्म, जाति, लिंग, प्रजाति इत्यादि के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

2. विभेदीकरण—भारत एक लौकिक राज्य इस दृष्टि से भी है कि इसमें आर्थिक, राजनीतिक, कानूनी तथा नैतिक पक्ष एक-दूसरे से पृथक् हैं। चर्च और राज्य में अन्तर तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य की भारतीय अवधारणा दोनों ही में ऐसे विभेदीकरण के अस्तित्व की स्वीकृति निहित है।

3. वैज्ञानिक दृष्टिकोण—आज भारत में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण तथा आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप अधिकतर लोगों का दृष्टिकोण तार्किक अथवा वैज्ञानिक होता जा रहा है अर्थात् अब सभी बातों की व्याख्या धर्म के आधार पर न देकर तर्क के आधार पर दी जाने लगी है।

4. समान वयस्क मताधिकार पर आधारित प्रजातान्त्रिक प्रणाली—भारत में सभी नागरिकों को समान अधिकार मिले हुए हैं। हर वयस्क व्यक्ति को वोट देने का तथा अपने शासक चुनने का समान अधिकार है। सरकार का संचालन देश के चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं जोकि किसी भी धर्म, जाति, प्रजाति या लिंग के हो सकते हैं।

5. धार्मिक संस्कारों तथा कर्मकाण्डों के महत्त्व में कमी—भारत एक लौकिक राज्य इस दृष्टि से भी है कि आज परम्परागत अभिवृत्तियों, मूल्यों और कर्मकाण्डीय व्यवहार को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए, हिन्दुओं में अड़तालीस संस्कारों का उल्लेख मिलता है जिनका प्रारम्भ गर्भावस्था से ही शुरू हो जाता था

परन्तु आज नामकरण, विवाह तथा दाह संस्कार ही प्रमुख संस्कार रह गए हैं। जितने संस्कार बचे भी हैं उनका भी संक्षिप्तीकरण होता जा रहा है।

6. बुद्धिवाद अथवा विवेकशीलता—लौकिकीकरण का एक मुख्य लक्षण बुद्धिवाद और विवेकशीलता है। भारत में भी आज अन्धविश्वास कम होते जा रहे हैं तथा व्यवहार में विवेकशीलता आती जा रही है। तर्कहीन बातों जैसे कि सती प्रथा इत्यादि की समाप्ति हो गई है।

9.7 भारत एक लौकिक राज्य के रूप में

क्या भारत एक लौकिक राज्य है? इस प्रश्न का उत्तर दो विभिन्न स्तरों पर दिया जा सकता है—सैद्धान्तिक स्तर तथा व्यावहारिक स्तर। अगर हम सैद्धान्तिक स्तर की दृष्टि से देखें तो भारतवर्ष निश्चित रूप से एक लौकिक राज्य है क्योंकि भारतीय संविधान भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य मानता है जिसमें सभी नागरिकों को समान अधिकार मिले हुए हैं तथा धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग एवं जन्म के आधार पर (कम से कम सैद्धान्तिक स्तर पर) भेदभाव न करने की बात कही गई है। परन्तु क्या यह सब हमारे देश में व्यावहारिक रूप से सम्भव है? अगर हम भूतकाल के अनुभव को सामने रखें, तो लगता है नहीं, क्योंकि आज भी हमारे देश में लौकिकीकरण के मार्ग में आने वाली अनेक बाधाएँ पाई जाती हैं जो भारत को पूर्णत: लौकिक राज्य नहीं बनने दे रही हैं।

भारतवर्ष में जब तक ये बाधाएँ दूर नहीं हो जातीं, तब तक व्यावहारिक रूप से लौकिक राज्य नहीं हो सकता क्योंकि निम्नलिखित बाधाएँ आज भी इस लक्ष्य प्राप्ति को कठिन बनाए हुए हैं—

1. राज्य तथा धर्म में पूर्ण पृथक्करण असम्भव–आज भी हमारे देश में सरकार अनेक धार्मिक मामलों तथा झगड़ों से अपने आप को दूर नहीं रख सकती है। लौकिक राज्य वह है जिसमें सरकार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करे। परन्तु आए दिन हमारे देश में इसके विपरीत उदाहरण देखने को मिलते हैं; जैसे मेरठ में गुरुद्वारा और मन्दिर को लेकर सिक्खों और वाल्मीकियों में हुए झगड़े में सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। इतना ही नहीं राजनीति भी धर्म से पूर्ण रूप में स्वतन्त्र नहीं है। पंजाब में अकाली दल के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री प्रकाशसिंह बादल तथा इसके अध्यक्ष जगदेवसिंह तलवन्डी में पारस्परिक मतभेदों का निबटारा सिक्खों के धार्मिक गुरुओं को करना पड़ा। इस प्रकार आज भी भारत में राज्य तथा धर्म अपने आप को एक-दूसरे से पूर्ण रूप से पृथक् नहीं कर पाए हैं।

2. साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़े—भारत में अनेक सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं तथा उनमें तनाव तथा आपस में लड़ाई-झगड़ों के उदाहरण अतीत काल से ही मिलते हैं। आज भी साम्प्रदायिक झगड़ों तथा तनाव में कोई विशेष कमी नहीं हुई है जिसके कारण आज भी लौकिकवाद की बात करना कठिन है।

3. **जातिवाद तथा जातीय संगठन**—भारत में लौकिकीकरण के मार्ग में आने वाली तीसरी प्रमुख बाधा जातिवाद तथा विभिन्न जातियों में अपने हितों की पूर्ति के लिए बनाए गए संगठन हैं। आज भी हमारी वफादारी देश के प्रति कम है अपने परिवार, नातेदारों तथा जाति-बिरादरी के प्रति अधिक है जिसके कारण लौकिक राज्य का निर्माण नहीं हो पाया है।

4. राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन तथा भाषाई तनाव—हमारे देश में राज्यों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर किया गया है तथा विभिन्न राज्यों के लोगों में अपने प्रदेश की भाषा के प्रति ही प्रेम भाव देखा गया है। यद्यपि देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है फिर भी दक्षिणी राज्यों में इसका प्रचलन बहुत कम है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश की एक भाषा न होना भी लौकिक राज्य के निर्माण में एक बाधा है।

5. सरकार की संरक्षण नीति—अगर भारत एक लौकिक राज्य है और सभी सम्प्रदाय एवं जातियों के लोगों को समान अधिकार प्राप्त हैं तो फिर सरकार ने कुछ जातियों अथवा सम्प्रदायों के प्रति आरक्षण की नीति को क्यों अपनाया हुआ है? क्या इससे भेदभाव अथवा लौकिक नीति के विरोध का आभास नहीं होता? वास्तव में चुनाव या नौकरी के समय कुछ जातियों को विशेष आरक्षण देना लौकिक राज्य के सिद्धान्तों के विपरीत है।

6. क्षेत्रीयता–क्षेत्रीयता अथवा क्षेत्रवाद भी लौकिक राज्य के निर्माण में एक प्रमुख बाधा है। विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में अपने क्षेत्र के प्रति तनाव तथा वफादारी पाई जाती है तथा आज भी अनेक राज्यों के विभाजन की बात की जा रही है। आज असम में अन्य राज्यों के नागरिकों के नामों को असम की मतदाता सूचियों से निकालने को लेकर जो आन्दोलन चल रहा है उससे हमें यह पता चलता है कि आज भी भारत एक लौकिक राज्य नहीं है।

7. सैद्धान्तिक समानता, व्यावहारिक असमानता—वैसे तो सभी नागरिकों को कानून के समक्ष समान अधिकार प्राप्त हैं परन्तु आज भी सभी पहलुओं में असमानता देखी जा सकती है। कहने को सभी को वयस्क मताधिकार मिले हुए हैं परन्तु देखने में यह आया है कि निम्न जातियों को अपने मताधिकार का प्रयोग करने से रोका जाता है। बूथ (मतदान केन्द्र) पर कब्जा करने के उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि आज भी भारत में लौकिक राज्य की बात करना वास्तविकता की उपेक्षा करना है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संविधान में यद्यपि भारत को एक धर्मनिरपेक्ष अथवा लौकिक राज्य की संज्ञा दी गई है परन्तु व्यावहारिक रूप में अगर हम देखें तो आज भी भारत एक लौकिक राज्य नहीं है। परन्तु इतना जरूर है कि हम निरन्तर लौकिकता की ओर अग्रसर हैं।

9.8 शब्दावली

अल्पसंख्यक—भारत में अल्पसंख्यक की परिभाषा धार्मिक दृष्टि से कम जनसंख्या वाले सम्प्रदायों के रूप में दी जाती है।

लौकिकीकरण—लौकिकीकरण विभेदीकरण की वह प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न पक्ष–आर्थिक, राजनीतिक, वैधानिक तथा नैतिक–एक-दूसरे के मामले में अधिकाधिक सचेत हो जाते हैं। यह धर्म के स्थान पर बुद्धिवाद अथवा विवेकशीलता को अधिक महत्त्व देने से सम्बन्धित प्रक्रिया है।

9.9 अभ्यास प्रश्न

1. लौकिकीकरण किसे कहते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
2. भारत में लौकिकीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन पर एक लेख लिखिए।
3. लौकिकीकरण को प्रोत्साहन देने वाले कारक बताएं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Waterhouse, Eric S., **Encyclopaedia of Religion and Ethics**, Vol. XI, London, 1949.
- **Webster's International Dictionary**, Springfield, Massachusetts : G. & C. Merriam Company, 1964.

इकाई –10

स्त्रियाँ और समाज

Women & Society

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 स्त्रियों की प्रस्थिति में परिवर्तन का जनांकिकीय पार्श्वचित्र

10.3 स्त्रियों की विशिष्ट समस्याएँ

10.4 दहेज

10.5 अत्याचार

10.6 भेदभाव

10.7 स्त्रियों एवं बच्चों के लिए कल्याण कार्यक्रम

10.8 शब्दावली

10.9 अभ्यास प्रश्न

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.0 उद्देश्य

पुलिंग तथा स्त्रीलिंग एक जैविक तथ्य है। यदि इस तथ्य के साथ किसी प्रकार की असमानता जोड़ दी जाती है तो यह एक सामाजिक तथ्य बन जाता है जिसे लैंगिक असमता कहा जाता है। 'लिंग' (Gender) शब्द का प्रयोग पुरुषों तथा स्त्रियों के गुणों के कुलक तथा उनके समाज द्वारा उनसे अपेक्षित व्यवहारों के लिए किया जाता है। किसी भी व्यक्ति की सामाजिक पहचान इन्हीं अपेक्षाओं से होती है। ये अपेक्षाएँ इस विचार पर आधारित हैं कि कुछ गुण, व्यवहार, लक्षण, आवश्यकताएँ तथा भूमिकाएँ पुरुषों के लिए 'प्राकृतिक' हैं, जबकि कुछ अन्य गुण एवं भूमिकाएँ स्त्रियों के लिए प्राकृतिक हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि लिंग केवल जैविक नहीं है क्योंकि लड़का या लड़की जन्म के समय यह नहीं जानते हैं कि उन्हें क्या बोलना है, किस प्रकार का व्यवहार करना है, क्या सोचना है अथवा किस प्रकार से प्रतिक्रिया करनी है। प्रत्येक समाज में पुलिंग तथा स्त्रीलिंग के रूप में उनकी लैंगिक पहचान तथा सामाजिक भूमिकाएँ समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से निश्चित की जाती हैं। इसी प्रक्रिया द्वारा उन्हें उन सांस्कृतिक अपेक्षाओं का ज्ञान दिया जाता है जिनके अनुसार उन्हें व्यवहार करना है। ये सामाजिक भूमिकाएँ एवं अपेक्षाएँ एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में अथवा एक ही समाज के भिन्न युगों में

भिन्न-भिन्न होती हैं। इस इकाई का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज में स्त्रियों की परिवर्तनशील प्रस्थिति तथा उनकी समस्याओं की विवेचना करना है।

10.1 प्रस्तावना

स्त्री का मानव की सृष्टि में ही नहीं, वरन् समाज निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्त्री और पुरुष मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं। अनेक परिवारों से समुदाय और अनेक समुदायों से मिलकर एक समाज निर्मित होता है। यदि हम विश्व इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें यह पता चलता है कि संस्कृति की नींव डालने का श्रेय सर्वप्रथम स्त्री को ही दिया जाता है। परन्तु स्त्री की प्रस्थिति सभी समाजों में एक-समान नहीं है। जिस तरह परिवार में स्त्री व पुरुष के कार्य व स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, उसी तरह समाज में भी स्त्री और पुरुष के कार्यों व स्थान में भिन्नता पाई जाती है। किसी समाज में यदि स्त्रियों को पुरुषों के बराबर का दर्जा दिया जाता है तो किसी समाज में उन्हें पुरुषों की तुलना में बहुत कम अधिकार प्राप्त होते हैं।

भारतीय स्त्री की सामाजिक प्रस्थिति और समस्याओं का अध्ययन अपने में एक बड़ा जटिल विषय है। एम० एन० श्रीनिवास (M. N. Srinivas) ने उचित ही लिखा है कि इसके अनेक स्वरूप हैं और सामान्यीकरण करना प्राय: असम्भव है क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में, नगरों और ग्रामीण क्षेत्रों में, विभिन्न वर्गों में, विभिन्न धर्मों और जाति समूहों में स्त्री की सामाजिक प्रस्थिति और उससे जनित समस्याएँ बहुत भिन्नताएँ रखती हैं। इतना ही नहीं, वरन् आदर्श और व्यवहार में भी बहुत अन्तर है। एक ओर यदि स्त्री को 'गृहस्वामिनी', 'अर्द्धांगिनी' या 'देवी' कहा जाता है तो दूसरी ओर वह सदैव ही पर-निर्भरता की स्थिति में बताई जाती है। विभिन्न शास्त्र भी परस्पर विरोधी आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इसलिए उनकी समस्याओं पर विचार करना कठिन हो जाता है। फिर भी, कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिनसे हमारे समाज की स्त्री पीड़ित है। लैंगिक समता हेतु स्त्रियों की स्थिति तथा स्त्रियों की प्रमुख समस्याओं को समझना अनिवार्य है।

10.2 स्त्रियों की प्रस्थिति में परिवर्तन का जनांकिकीय पार्श्वचित्र

भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति समय के साथ-साथ उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण रही है। सभी युगों में स्त्री की प्रस्थिति एक-जैसी नहीं रही है। हमारी प्राचीन व्यवस्था में स्त्रियों को उच्च प्रस्थिति प्राप्त थी। उन्हें सुख, वैभव, शान्ति, शक्ति व ज्ञान का प्रतीक माना जाता था। कहीं स्त्री की पूजा रणचण्डी दुर्गा के रूप में हुई है तो कहीं माँ सरस्वती के रूप में। महर्षि मनु के अनुसार, "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया :।।" मनुस्मृति : 3/56।। अर्थात् जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करते हैं; और जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ सभी कार्य निष्फल होते हैं। परन्तु धीरे-धीरे स्त्रियों के स्थान में परिवर्तन होता गया। पुरुषों ने स्त्रियों को दुर्बल समझकर उनके अधिकार व कार्य सीमा पर हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप एक समय ऐसा भी आया जबकि स्त्रियों की सीमा घर की चहारदीवारी तक सीमित होकर रह गई। परिवार में कन्या का जन्म अशुभ माना जाने लगा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति में काफी सुधार हुआ है। हमारे देश की स्त्रियाँ आज हर क्षेत्र में पुरुषों की बराबरी करने का प्रयास कर रही हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति या स्थान का संक्षिप्त अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

1. वैदिक काल—हिन्दू समाज में वैदिक काल में स्त्रियों की प्रस्थिति अत्यन्त उन्नत अवस्था में थी। उन्हें समाज तथा परिवार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उन्हें शिक्षा, विवाह, धर्म आदि क्षेत्रों में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे। पत्नी परिवार में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। इसीलिए उसे अर्द्धांगिनी का दर्जा प्राप्त था। दोनों पति एवं पत्नी साथ-साथ यज्ञ करते थे। बिना स्त्री के धार्मिक कार्य अधूरा समझा जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण' आदि ग्रन्थों में भी स्त्री को अर्द्धांगिनी तथा पुरुष का अर्द्ध-शरीर माना गया है। पुरुष स्त्री के बिना पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर सकता। 'महाभारत' में उल्लेख मिलता है कि केवल वे ही धार्मिक संस्कार सम्पन्न कर सकते थे, जिनकी पत्नियाँ थीं। यहीं तक नहीं, कहीं-कहीं पर तो धार्मिक संस्कारों के अवसरों पर पत्नी को पिता के बराबर भी माना गया है। स्त्री को बीमारी के समय माता के रूप में देखा गया है। इसी हेतु 'महाभारत' में कहा गया है कि यदि किसी घर में स्त्री नहीं है तो वह घर, घर नहीं कहा जा सकता। अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ सम्पादन का अधिकार नहीं था। 'ऋग्वेद' में दम्पति (दम्पति अर्थात् पत्नी पति) शब्द उस काल में स्त्री की उच्च प्रस्थिति (पति के पूर्व पत्नी को सम्बोधित करना) का बोध कराता है। उस समय स्त्री को काफी अधिकार प्राप्त थे। पत्नी गृहस्वामी के हर धार्मिक तथा अन्य कार्यों में हाथ बँटाती थी। अत: वैदिक काल में स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अपने घर के स्वामी होते थे। महाभारत-युग में स्त्री-शिक्षा का भी उचित प्रबन्ध था। लड़कियाँ अपने घरों से बाहर शिक्षा प्राप्त करने जा सकती थीं। गृहस्वामिनी घर में सूर्य निकलने से पूर्व उठ जाती थी। तत्पश्चात् वह अन्य सोने वालों को उठाती थी, घर की सफाई करती थी और स्नान आदि के बाद पति के साथ पूजा में बैठती थी। वैदिक काल में लड़कियाँ अपनी इच्छा से भी विवाह कर सकती थीं। पी० एच० प्रभु के अनुसार, जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था, स्त्री व पुरुष में कोई विशेष भेद नहीं था। इस युग में दोनों की सामाजिक प्रस्थिति समान थी। विधवाएँ पुनर्विवाह कर सकती थीं। स्त्रियों में परदा प्रथा नहीं थी और वे घर से बाहर आ-जा सकती थीं। इस काल में स्त्रियों की रक्षा करना वीरतापूर्ण कार्य माना जाता था। किन्तु उस समय भी लड़के की प्राप्ति शुभ समझी जाती थी। इसीलिए पुरुष लड़के की ही कामना करते थे।

2. उत्तर वैदिक काल—उत्तर वैदिक काल 600 ई० पूर्व से 300 ई० तक माना जाता है। इस काल में स्त्रियों की प्रस्थिति में कुछ ह्रास हुआ। यद्यपि 'महाभारत' में उल्लेख मिलता है कि इस युग में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों के समान थी परन्तु मनु-परम्परा इसी काल में प्रचलित हुई। इसके अनुसार स्त्रियों को वेदपाठ की मनाही की गई तथा उनके यज्ञ करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। पति के परमेश्वर होने की भावना का बीजारोपण हुआ, विधवा पुनर्विवाह का पूर्ण निषेध हुआ और बाल विवाह का आरम्भ हुआ। 'गौतमीय धर्मसूत्र' (जो सम्भवत: इसी युग में लिखा गया) में इस बात का उल्लेख मिलता है कि

रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह कर देना चाहिए। बाल विवाह के प्रचलन के कारण स्त्री गृहस्वामिनी एवं पति की सखा होने की आशा नहीं करती थी। शिक्षा के अभाव के कारण वह वेदपाठ भी नहीं कर सकती थी। धीरे-धीरे स्त्रियों पर अनेक निषेध लगा दिए गए। इनसे उनकी प्रस्थिति काफी निम्न हो गई। लड़की पैदा होना परिवार के लिए अभिशाप माना जाने लगा। परन्तु इन सबके बावजूद स्त्री की प्रस्थिति अधिक शोचनीय नहीं थी।

3. धर्मशास्त्र युग—इस युग (तीसरी शताब्दी से 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक) को 'स्मृति युग' (Smriti Yug) भी कहा जाता है। इस काल में स्त्रियों की प्रस्थिति में गिरावट स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। स्मृतिकारों एवं सूत्रकारों ने इस प्रकार के नियम बनाए कि स्त्रियों की प्रस्थिति रानी से सेविका और शक्ति के स्रोत के स्थान

पर दुर्बलताओं की खान की-सी हो गई। इस युग में पति को देवता माना जाने लगा। पत्नी का पति की सेवा करना ही धर्म बताया गया। स्त्रियाँ अब अपनी इच्छा से पति का चयन नहीं कर सकती थीं। पति उनके लिए एक साथी न रहकर उनसे उच्च प्रस्थिति वाला हो गया। स्मृतिकारों ने निर्देश दिया कि स्त्रियों को, किसी भी स्थिति में स्वतन्त्र नहीं रहने देना चाहिए। स्त्रियों को बाल्यपन पिता के संरक्षण में, युवावस्था पति के तथा वृद्धावस्था अपने बेटे के संरक्षण में बितानी चाहिए। उनकी शिक्षा पर प्रतिबन्ध-सा लग गया। बाल विवाह के जोर, विवाह में कन्या की रुचि का अन्त, पुरुष का स्त्री पर पूर्ण नियन्त्रण, विधवा पुनर्विवाह के निषेध, सती प्रथा आदि से स्त्री की ह्रासोन्मुख प्रस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। स्त्रियों को स्वभाव से कामुक, नासमझ व चरित्रहीन बताया गया, अत: उन्हें विश्वास के अयोग्य समझा जाने लगा।

4. मध्यकालीन युग—मध्यकाल में स्त्रियों की प्रस्थिति में और अधिक गिरावट आ गई। इस काल में स्त्री की शिक्षा का प्राय: लोप हो गया। कन्या की उम्र 8–9 वर्ष की होते ही विवाह किए जाने लगे। विधवा पुनर्विवाह प्रतिबन्धित हो गया। परदा प्रथा शुरू हो गई। सती प्रथा ने और अधिक जोर पकड़ लिया। एक पत्नी के होते दूसरी पत्नी रखना प्रतिष्ठा समझा जाने लगा। इतना ही नहीं, विधवा से अपने पुत्र की संरक्षिका होने का अधिकार भी छिन गया। इस काल में स्त्रियों की प्रस्थिति इस सीमा तक गिर गई कि वह एक वस्तु (द्रव्य) के समान होकर रह गई जिसे पुरुष अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार के उपयोग में ला सकता था। इस युग में मुख्य रूप से स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता, कुलीन विवाह प्रथा, अन्तर्विवाह, बाल विवाह, अशिक्षा और संयुक्त परिवार प्रणाली को ऐसे कारण माना गया है जिनसे स्त्रियों की प्रस्थिति में अत्यधिक गिरावट आ गई। स्त्रियों की प्रस्थिति की दृष्टि से यह काल सदा के लिए भारतीय संस्कृति पर काला धब्बा बनकर रह गया है।

5. आधुनिक युग—आधुनिक युग में भारतीय समाज में स्त्रियों की प्रस्थिति का अध्ययन दो उपशीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(अ) स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व स्त्रियों की प्रस्थिति, तथा (ब) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियों की प्रस्थिति। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व अंग्रेजी शासनकाल में स्त्रियों की प्रस्थिति में सुधार के लिए कई प्रयास किए गए। 1829 ई० में सती प्रथा निषेध अधिनियम, 1856 ई० में हिन्दू विवाह पुनर्विवाह अधिनियम, 1937 ई० में हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम आदि विधान इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास रहे। परन्तु इस काल में स्त्रियाँ अनेक सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक व राजनीतिक निर्योग्यताओं का शिकार रहीं। इस काल में स्त्रियों की निम्न प्रस्थिति बनाए रखने में अशिक्षा, आर्थिक पराधीनता, बाल विवाह, संयुक्त परिवार प्रणाली, वैवाहिक प्रथाएँ (कुलीन विवाह, बहुपत्नी प्रथा, विधवा पुनर्विवाह निषेध, दहेज आदि) तथा मुसलमानों के आक्रमण आदि कारकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अंग्रेजी शासनकाल में स्त्री की स्थिति में सुधार होना प्रारम्भ हुआ। यही वह काल है जिसमें स्त्री शिक्षा एवं रोजगार को मान्यता मिलनी प्रारम्भ हुई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् स्त्रियों की प्रस्थिति में और भी अधिक सुधार हुआ है। सरकार, गैर-सरकारी संगठनों (महिला संगठनों सहित) तथा समाज सुधारकों के प्रयासों के परिणामस्वरूप आज भारतीय स्त्री की प्रस्थिति मध्यकाल की स्त्री से कहीं ऊँची है। आज भारतीय स्त्री को अपना जीवनसाथी चुनने का पूरा अधिकार प्राप्त है। आर्थिक क्षेत्र में वे पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर कार्य कर रही हैं। उन्हें तलाक का अधिकार प्राप्त है। पारिवारिक सम्पत्ति में उन्हें उत्तराधिकार प्राप्त है। राजनीतिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं।

स्थानीय स्तर पर (पंचायतों में) उन्हें आरक्षण की सुविधाएँ भी प्राप्त हो गई हैं। राज्य विधानसभाओं एवं लोकसभा में भी इनके आरक्षण हेतु सभी राजनीतिक दल प्रयासरत हैं। आज भारतीय स्त्री पूर्णत: पुरुष पर ही आश्रित नहीं है, वह पुरुष की जीवनसाथी बनती जा रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा के प्रसार, औद्योगीकरण व नगरीकरण, एकाकी परिवारों की संख्या में वृद्धि, स्त्रियों में सामाजिक चेतना, अन्तर्जातीय व प्रेम विवाहों के प्रचलन, राजनीतिक चेतना तथा वैधानिक सुविधाओं जैसे कारकों ने स्त्रियों की प्रस्थिति को पुरुषों के बराबर लाने में सहायता दी है। राजनीति में प्रवेश के कारण स्त्रियाँ शक्ति-सम्पन्न पदों पर भी पहुँचने में सफल रही हैं। उनका राजनीति में प्रवेश पूरी तरह से वांछनीय है।

वास्तव में, आधुनिक काल में प्रजातन्त्र के कारण भारतीय स्त्रियों की शिक्षा की ओर, रोजगार की ओर तथा उनकी समस्याओं के समाधान की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। शिक्षा के प्रसार से उनके व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास में सहायता मिली है। बाल विवाह की समाप्ति, आर्थिक स्वतन्त्रता तथा अन्तर्जातीय एवं प्रेम विवाहों को प्रोत्साहन देने में भी स्त्रियों की शिक्षा ने उल्लेखनीय योगदान दिया है। प्रजातन्त्र ने, वास्तव में, स्त्रियों और पुरुषों में समानता लाने का प्रयास किया है तथा सभी स्त्रियों को पुरुषों के समान मतदान अधिकार प्राप्त हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र भारत में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों के लगभग समान ही है। परन्तु कुछ विद्वान् इसे स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि आज भी स्त्रियों के प्रति हिंसा बढ़ती जा रही है। उन्हें गैर-परम्परागत क्षेत्रों में आगे आने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। कुछ भी हो, यह सत्य है कि आधुनिक युग में स्त्रियाँ समानता व स्वतन्त्रता की दृष्टि से निरन्तर आगे बढ़ रही हैं।

आज के बदलते समाज के साथ भारतीय स्त्री की दशा में भी काफी परिवर्तन आ रहे हैं। इसी कारण उसके भविष्य की कल्पना उसकी वर्तमान प्रस्थिति से की जा सकती है। आज भारतीय स्त्री की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक प्रस्थिति में काफी परिवर्तन आ रहा है। इसके बदलते हुए स्वरूप को देखकर के० एम० पाणिक्कर ने कहा था कि, ''आज हिन्दू जीवन के बदलते युग में स्त्रियों का हस्तक्षेप हिन्दू समाज के लिए एक ललकार है।'' स्त्रियों के आज के जीवन की यदि प्राचीन स्त्री के जीवन से तुलना की जाए तो प्राचीन स्त्री-जीवन एक कहानी-सा जान पड़ता है। भारतीय स्त्री पर अत्यन्त कठोर प्रतिबन्ध लगे थे। उसकी छोटी आयु में ही शादी हो जाती थी। वह घर के अन्दर ही अपना जीवन व्यतीत करती थी। स्त्रियाँ पशु की भाँति अपना जीवन व्यतीत करती थीं। उनकी दिनचर्या घर का काम था और उनका सामाजिक क्षेत्र घर की अन्य स्त्रियाँ तथा चहारदीवारी होती थी। उनको आर्थिक एवं राजनीतिक किसी प्रकार के भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। किन्तु धीरे-धीरे समाज में तेजी से परिवर्तन आए। इनका परिणाम यह निकला कि स्त्रियाँ दासता के चंगुल से बाहर हो गईं।

आज भारतीय स्त्री अन्य देशों की स्त्रियों से किसी भी क्षेत्र में पीछे नहीं है। वे देश के सभी सेवा-क्षेत्रों में संलग्न हैं। राजनीतिक क्षेत्र में भी वे पुरुष से कम नहीं रह पाई हैं। यह सब विवेचन भविष्य के लिए स्वर्णिम संकेत है कि भारतीय स्त्री के भावी जीवन से धीरे-धीरे सभी दूषित एवं सामाजिक बुराइयाँ दूर हो जाएँगी। वे अपना मानसिक विकास कर सकेंगी तथा पुरुषों से किसी क्षेत्र में पीछे नहीं रहेंगी। आर्थिक दृष्टि से भी वे किसी पर आश्रित नहीं रहेंगी। अब भारतीय स्त्री अबला न रहकर सबला बन गई है। हमारे देश में शिक्षा का काफी प्रसार हो रहा है। किन्तु यह शिक्षा दोषरहित नहीं है। इस शिक्षा पर पश्चिमी शिक्षा एवं सभ्यता की छाप है। इस कारण

आज स्त्री के जीवन पर भी पश्चिमी जीवन की छाप पड़ने लगी है। इसका दूषित प्रभाव भारतीय परिवार प्रणाली पर अधिक पड़ रहा है।

10.3 स्त्रियों की विशिष्ट समस्याएँ

स्त्रियों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उनकी विशिष्ट समस्याएँ निम्न प्रकार हैं—

1. लिंग-भेदभाव : सामाजिक फन्दे का अत्याचार—स्त्रियों के साथ जन्म से ही भेदभाव प्रारम्भ हो जाता है। परिवार में समाजीकरण की प्रक्रिया में इस भेदभाव को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लड़कों और लड़कियों में असमानता से सम्बन्धित मूल्य समाजीकरण के माध्यम से ही हस्तान्तरित हो जाते हैं। इस भाँति, सामाजिक फन्दे का यह अत्याचार पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है।

2. शिक्षा में असमानता—प्रारम्भिक वैदिक साहित्य से हमें यह पता चलता है कि वैदिक युग में लड़की का भी उपनयन संस्कार होता था और वह भी लड़कों की भाँति आश्रमों में शिक्षा के लिए जाती थी। धीरे-धीरे उसे शिक्षा से दूर किया जाता रहा और उसके लिए एकमात्र संस्कार विवाह ही माना जाने लगा। धर्मशास्त्रों तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गई। मुस्लिम काल में तो स्त्री पूर्णत: निरक्षर थी। नई दिल्ली स्थित 'भारतीय समाज विज्ञान अनुसन्धान परिषद्' (ICSSR) द्वारा किए गए एक अध्ययन से पता चलाता है कि 1971 ई० में साक्षर स्त्रियाँ 18·4 प्रतिशत थीं, 1981 ई० में यह प्रतिशत 25 था, जबकि 1991 ई० तथा 2001 ई० की जनगणनाओं के अनुसार यह क्रमश: 39·42 तथा 54·16 प्रतिशत हो गया है। वास्तव में, यह प्रगति नगरीय क्षेत्रों में उच्च और मध्यम वर्गों के बीच अधिक हुई है।

3. रोजगार में असमानता—यह सत्य है कि आज स्त्रियाँ सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर काम कर रही हैं, तथापि रोजगार में काफी असमानता पाई जाती है। रोगजार में स्त्रियों का अनुपात काफी कम है। स्त्री श्रम की भी अजब कहानी है। उसकी गृहस्थी का कार्य, जो वह प्राय: सबसे पहले उठकर प्रारम्भ करती है और देर रात तक समाप्त करती है, अनुत्पादक माना जाता है। कृषि क्षेत्र में, जहाँ कि 80 प्रतिशत स्त्रियाँ काम कर रही हैं, स्त्री श्रम को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है तथा वहाँ भी वे असंगठित हैं और मौसमी रोजगार के उच्चावचन से पीड़ित हैं। संगठित उद्योगों में स्त्रियाँ निम्न स्तर पर ही कार्य कर रही हैं। वृत्ति समूहों की दृष्टि से स्त्रियाँ सर्वाधिक शिक्षण में हैं, चिकित्सा और नर्सिंग के क्षेत्र में भी स्त्रियाँ प्रवेश कर चुकी हैं।

4. स्वास्थ्य एवं पोषण सम्बन्धी सुविधाओं में असमानता—स्त्रियों में अस्वास्थ्य और कुपोषण की भी भारी समस्या है। बचपन से ही लड़कियों को वह पोषक पदार्थ नहीं दिए जाते जो लड़कों को दिए जाते हैं। वे स्वयं ही अपने शरीर की रक्षा और स्वास्थ्य पर बहुत कम ध्यान देती हैं। प्राय: घर में वही स्त्री, जो अपने पति और बच्चों के लिए अच्छे से अच्छा भोजन बनाती है, बाद में जो बच जाता है उसे खाती है और अगर बासी भोजन रखा है तो पहले उसे खाती है। मातृत्व का भार भी उस पर सबसे ज्यादा है। शारीरिक व्यायाम की तो उन्हें शिक्षा ही नहीं दी जाती। ज्यादातर उनमें खून की कमी रहती है। एक ओर गरीब निर्धन स्त्रियों को तो उचित चिकित्सा एवं पोषण मिलना ही दुश्वार है तो, दूसरी ओर, धनी स्त्रियों के लिए समस्या इससे उलटी है। वहाँ अत्यधिक दवाइयों का सेवन या आलसी जीवन एक समस्या बन गया है। ज्यादातर स्त्रियाँ असंगठित कार्य-क्षेत्र में लगी हैं जहाँ उनके स्वास्थ्य का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। बहुत से व्यवसाय विशेषत: स्त्री के लिए हानिकारक हैं, परन्तु वहाँ

भी उनकी देखभाल का कोई प्रबन्ध नहीं है। घर के मार-पीट के वातावरण और तनावभरी जिन्दगी के बीच स्त्री का स्वास्थ्य गिरता ही जाता है।

5. यौन शोषण तथा यौन उत्पीड़न—यौन शोषण तथा यौन उत्पीड़न स्त्रियों की एक प्रमुख समस्या है। चाहे घर हो अथवा कार्यस्थल, आज भी स्त्रियों को विविध रूपों में यौन शोषण एवं यौन उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। स्त्रियों से छेड़छाड़ तथा कार्यस्थलों पर उनके शोषण की घटनाएँ सामान्य हो गई हैं जिन्हें दैनिक समाचार-पत्रों में रोजाना देखा जा सकता है।

6. दहेज के कारण उत्पीड़न—दहेज एक ऐसी समस्या है जो कानून बनाने के बावजूद यथावत् बनी हुई है। हजारों स्त्रियों को दहेज न लाने के कारण उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है तथा अनेक स्त्रियाँ तो उत्पीड़न से तंग आकर आत्महत्या तक कर लेती हैं। दहेज के विरुद्ध जिस प्रकार का जनमत निर्मित किए जाने की आवश्यकता है, वह आज भी नहीं हो पा रहा है। ऐसा लगता है कि कोई भी दहेज पर अंकुश लगाने में अपने आपको समक्ष नहीं मान रहा है।

7. तलाक द्वारा उत्पीड़न—स्त्रियों की एक अन्य समस्या तलाक है। पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों का कानूनी दृष्टि से विच्छेद किया जाना तलाक है। तलाक के विभिन्न समुदायों में भिन्न-भिन्न आधार हैं परन्तु तलाक स्त्री के लिए पुरुषों की अपेक्षा अधिक कष्टकारी और आघातपूर्ण घटना है। अदालत की लम्बी प्रक्रिया, बच्चों का प्रश्न, स्वयं के जीवन निर्वाह का प्रश्न, सामाजिक अप्रतिष्ठा और निन्दा का सामना—यह सब स्त्री को भुगतना पड़ता है, पुरुष को नहीं। तलाक प्राप्त स्त्री भारतीय समाज में अप्रतिष्ठा का विषय है और उसके पुनर्विवाह की समस्या भी कठिन है। इसलिए स्त्री के लिए तलाक एक महँगा सौदा है। परन्तु ऐसी अनेक परिस्थितियाँ आ जाती हैं; जैसे पति द्वारा क्रूर यातना दिया जाना, उसका व्यभिचार में लिप्त होना या घर छोड़कर कहीं चले जाना आदि; जो तलाक को ही एकमात्र हल के रूप में प्रस्तुत करती हैं।

8. वैधव्य के बारे में दोहरे मापदण्ड–स्त्री के लिए वैधव्य सबसे भयानक शब्द है। उसका सबसे बड़ा सौभाग्य सुहागिन बनना है। सूनी माँग मृत्यु से भी ज्यादा भयानक है। हिन्दुओं की उच्च जातियों में विधवा के पुनर्विवाह की परम्परा नहीं थी। विधवा से बड़े संयमी और तपस्वी जीवन व्यतीत करने की आशा की जाती थी। इस पर भी उसे अनिष्टकारी माना जाता था और घर की बड़ी-बूढ़ियाँ उसे डायन कहती थीं जो अपने सुहाग को खा गई। उससे आशा की जाती थी कि वह यौन सम्बन्धी सभी बातों से विमुख रहेगी, जबकि परिवार के नजदीकी रिश्तेदार और समाज में फिरते भूखे भेड़िए उसकी देह लूटने की चेष्टा करते हैं। यदि जाल में फँस गई तो सारा दोष उसी का है, पुरुष तो उस लांछन से छूट ही जाता है। अनेक विधवाएँ वेश्यालयों तक भी पहुँच जाती हैं। इस विषय पर भी गांधी जी के विचार अनुकरणीय हैं। उनका विचार है कि जो विधवा संयम न रख सके उन्हें पुनर्विवाह का अधिकार होना चाहिए। जो पुन: विवाह की इच्छुक न हो उन्हें समाज कल्याण के कार्यों में प्रशिक्षित करके रचनात्मक कार्यों के लिए प्रेरित करना चाहिए। ऐसी स्त्रियों की संगठित शक्ति सामाजिक उत्थान में बहुत बड़ा योगदान दे सकती है।

9. स्त्रियों के प्रति हिंसा—स्त्रियों की एक अन्य समस्या उनके प्रति होने वाली हिंसा है। यह हिंसा विविध रूपों में होती है जिनमें घरेलू हिंसा तथा कार्यस्थल पर होने वाली हिंसा प्रमुख है। हिरासत की स्थिति में हिंसा, बलात्कार, यौन उत्पीड़न, अश्लील साहित्य एवं विज्ञापन, वेश्यावृत्ति तथा स्त्रियों का अनैतिक व्यापार स्त्रियों के प्रति होने वाली हिंसा के प्रमुख स्वरूप हैं।

10. स्त्री हत्या—स्त्री हत्या वह हत्या कही जा सकती है जो उस समय हो जबकि वह माँ के गर्भ में है, या जन्म लेने के बाद स्त्री-शिशु हत्या के रूप में है और चाहे जलती बहू या किसी अन्य प्रकार के उत्पीड़न से मारने के रूप में है। इतना ही नहीं, इसमें ऐसी घटनाएँ भी शामिल हैं जिनमें ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर दी गई हों कि स्त्री ने मजबूर होकर आत्महत्या कर ली हो। ऐसी घटनाएँ स्त्री के उत्पीड़न की बड़ी दर्दनाक कहानियाँ प्रस्तुत करती हैं और वे इक्का-दुक्का घटनाएँ नहीं हैं कि जिन्हें अपवाद समझकर टाल दिया जाए। यह तो एक राष्ट्रीय खोज का विषय है। गर्भ में लिंग निर्धारण के परीक्षण, जिसे (Amniocentesis) कहा जाता है, के द्वारा यह पता चल जाता है कि गर्भ में लड़का है या लड़की, तथा हजारों की संख्या में लोग, यह पता लगने पर कि गर्भ में लड़की है, गर्भपात करा लेते हैं। जन्म लेने से पहले ही स्त्री की हत्या हो जाती है। बहुत-से कुतर्की कहते हैं कि अगर पहले से ही किसी के कई लड़कियाँ हैं तो ऐसे माँ बाप का, जहाँ केवल लड़के की चाह है, ऐसा करना अनुचित नहीं है। अनचाहे शिशु को जन्म देने से क्या लाभ? परन्तु यह तर्क तो ऐसा है जैसे यह कहना कि हम गरीबी नहीं चाहते तो गरीबों को मार ही क्यों न दिया जाए या फिर जिस माता-पिता के पहले से कई लड़के हैं और गर्भ परीक्षण से पता चले कि गर्भ में फिर एक लड़का है तो क्या ऐसे में भी वह गर्भपात कराना चाहेंगे? कदापि नहीं। वास्तव में, पुत्र या पुत्री में अन्तर किया जाना ही दोषपूर्ण है। सच तो यह है कि पुत्र या पुत्री के चरित्र व आचरण से परिवार का नाम चलता है न कि मात्र पुत्र के द्वारा। महात्मा गांधी के चार लड़के थे पर आम आदमी उनका नाम तक नहीं जानता, जबकि पं० जवाहरलाल नेहरू के एक पुत्री थी और सारी दुनिया उसका नाम जानती है। इसी भाँति लड़की माँ-बाप की ज्यादा सेवा करती है और नालायक बेटा तो माता-पिता के लिए मृत्युपर्यन्त जी का जंजाल बना रहता है।

10.4 दहेज

स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं में दहेज प्रथा एक प्रमुख समस्या मानी जाती है। यह आजकल काफी गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। वैसे तो बाल विवाह, विधवा-पुनर्विवाह निषेध जैसी अन्य समस्याएँ भी हिन्दू विवाह से सम्बन्धित हैं, फिर भी दहेज ने आधुनिक युग में विकराल रूप धारण कर लिया है। इसीलिए कहा जाता है कि हिन्दुओं को जिस प्रथा से अत्यधिक क्षति उठानी पड़ती है, वह है 'दहेज प्रथा'। यह भारतीय समाज में पाया जाने वाला एक ऐसा अभिशाप है जो आज भी सरकारी एवं गैर-सरकारी प्रयासों के बावजूद एक प्रमुख समस्या बना हुआ है। दहेज प्रथा स्वयं में तो एक अभिशाप है ही, साथ ही यह अनेक अन्य समस्याओं; जैसे भ्रष्टाचार इत्यादि की भी जड़ है। 1961 ई० में 'दहेज निरोधक अधिनियम' पारित होने के 49-50 वर्ष बाद भी यह समस्या समाप्त नहीं हो पाई है।

हिन्दुओं में जीवन साथी के चयन का क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा है। इसके कारण कई बार वर मिलने में कठिनाई होती है। इतना ही नहीं, कुलीन विवाह (Hypergamy) के कारण ऊँचे कुल में लड़कों की अत्यधिक कमी होती रही है। इनके कारण वर-मूल्य की प्रथा प्रारम्भ हुई जो आज दहेज के नाम से जानी जाती है। आज तो यह समस्या इतनी गम्भीर हो गई है कि लड़का क्या करता है, इसके आधार पर विवाह से पहले उसकी कीमत लगाई जाती है। लड़की वालों से सौदा तय हो जाने के बाद ही विवाह सम्भव हो पाता है। दहेज न लाने के कारण अनेक नवविवाहित स्त्रियों को जला देने के समाचार आए दिन समाचारपत्रों में आते रहते हैं। इसके लिए उन्हें पति, सास-ससुर तथा वर पक्ष के बाकी लोगों से अनेक बातें (ताने) सुननी पड़ती हैं। उनका जीवन नरक बन

कर रह जाता है। अत: आज दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए सरकार या जागरूक नागरिक विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं। परन्तु इस दिशा में अभी काफी कुछ करना बाकी है।

10.4.1 दहेज का अर्थ एवं परिभाषाएँ

दहेज का अर्थ सामान्यत: उस राशि, वस्तुओं या सम्पत्ति से लगाया जाता है जिसे कन्या पक्ष विवाह के अवसर पर वर पक्ष को प्रदान करता है। अंग्रेजी भाषा के नवीन वेब्स्टर शब्दकोश में इसे इसी अर्थ में परिभाषित किया गया है, अर्थात्—''दहेज वह धन, वस्तुएँ अथवा सम्पत्ति है जो एक स्त्री विवाह के समय पति के लिए लाती है।'' नवीन एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में भी दहेज को ''वह सम्पत्ति बताया गया है जो एक स्त्री अपने पति के लिए विवाह के समय लाती है।'' चार्ल्स विनिक (Charles Winick) तथा मैक्स रेड़िन (Max Radin) ने भी दहेज की परिभाषा उन बहुमूल्य वस्तुओं या सम्पत्ति के रूप में दी है जो वर पक्ष विवाह के समय कन्या पक्ष से प्राप्त करता है। परन्तु ये दहेज के सही अर्थ नहीं हैं। अगर माता-पिता धार्मिक परम्पराओं से प्रेरित होकर स्वेच्छा से अपनी कन्या व वर पक्ष को कुछ धन या मूल्यवान वस्तुएँ प्रदान करते हैं तो उसे दहेज नहीं कहा जा सकता।

दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 में दहेज को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है–''दहेज का अर्थ कोई ऐसी सम्पत्ति या मूल्यवान निधि से है जो (अ) विवाह करने वाले दोनों पक्षों में से एक ने दूसरे पक्ष को, अथवा (ब) विवाह में भाग लेने वाले दोनों पक्षों में से किसी पक्ष के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति ने दूसरे पक्ष के माता-पिता या किसी अन्य व्यक्ति को विवाह के अवसर पर या विवाह से पहले या विवाह के बाद विवाह की शर्त के रूप में दी हो या देना मन्जूर किया हो।''

कानूनी रूप से दहेज का अर्थ किसी भी ऐसी सम्पत्ति अथवा मूल्यवान वस्तुओं से है जिसे विवाह की एक शर्त के रूप में विवाह से पहले, विवाह के समय, या बाद में एक पक्ष को दूसरे पक्ष के लिए देना आवश्यक होता है। दहेज को वर मूल्य (Bridegroom price) भी कहा जाता है। यह एक प्रकार से वर की कुलीनता, सम्पन्नता, शिक्षा, व्यवसाय आदि के आधार पर निश्चित किया हुआ मूल्य ही होता है।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन दहेज का अर्थ अधिक स्पष्ट करने में सहायक नहीं हैं, फिर भी इस से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वर कन्या के माता-पिता के बीच रुपये-पैसे का शर्त के रूप में जो लेन-देन होता है या लड़की के माता-पिता लड़के वालों को जो धन देते हैं उसे 'दहेज' कहा जाता है। अनेक बार विवाह सम्बन्ध तय होने के अवसर पर ही दहेज की रकम भी तय कर ली जाती है। इस प्रकार दहेज में सौदेबाजी या बाध्यता का तत्त्व भी निहित होता है।

10.4.2 दहेज प्रथा के कारण

दहेज प्रथा जिस विकृत रूप में आज है, उस रूप में यह हिन्दू समाज के इतिहास में कभी नहीं रही है। वैदिक ग्रन्थों से यह ज्ञात होता है कि वैदिक काल में कन्या को विवाह के अवसर पर आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित कर, कुछ धनराशि सहित पति-गृह को विदा करने की प्रथा थी। इसी तरह की प्रथा स्मृतिकाल में भी रही है। रामायण तथा महाभारत में भी दहेज प्रथा का उल्लेख मिलता है। परन्तु यह बात स्मरण रखने योग्य है कि प्राचीन भारत में दहेज प्रथा के लिए किसी पक्ष को बाध्य नहीं होना पड़ता था। व्यक्ति स्वेच्छा एवं सामर्थ्य के अनुसार

ही धन, बहुमूल्य वस्तुएँ एवं सम्पत्ति वर पक्ष को प्रदान करता था। अत: प्राचीनकाल में दहेज प्रथा अपने परिष्कृत रूप में थी। इस प्रथा का स्वरूप मुस्लिम शासनकाल में काफी विकृत हो गया। इस काल में बाल विवाह, कुलीन विवाह जैसी रूढ़िग्रस्त प्रथाओं को प्रोत्साहन मिला। अन्तर्विवाह के नियमों के कारण विवाह का क्षेत्र, जो पहले ही से सीमित था, कुलीन विवाह की प्रथा ने इस क्षेत्र को और भी अधिक संकुचित कर दिया। इसके फलस्वरूप अपनी ही जाति में उच्च कुल के वरों की माँग अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई। इसके अतिरिक्त कुछ धार्मिक विश्वासों एवं परिस्थितियों तथा कन्याओं का सम्पत्ति में अधिकार न होने के प्रभाव से दहेज प्रथा का प्रचलन हुआ।

दहेज प्रथा की उत्पत्ति के प्रमुख कारण अग्रलिखित हैं—

1. अनुलोम विवाह—अनुलोम विवाह के चलन से उच्च कुल के लड़कों की माँग बढ़ती गई। उच्च कुल के लड़कों के पिता ऐसी स्थिति में बड़ी-बड़ी धनराशियों की माँग करने लगे और इस प्रकार इस प्रथा का उदय हुआ।

2. अन्तर्विवाह—अन्तर्विवाह के नियम के कारण किसी भी कन्या का विवाह उसी की जाति अथवा उपजाति के पुरुष से होना आवश्यक था। इस कारण विवाह का क्षेत्र सीमित हो गया। एक जाति के भीतर योग्य वरों की संख्या कम हो गई। इसके कारण 'एक अनार सौ बीमार' जैसी हालत हो गई। वरों की संख्या कम होने के कारण उनके मूल्य में वृद्धि हो गई और इस तरह दहेज प्रथा विकसित हुई।

3. संयुक्त परिवारों में स्त्रियों का शोषण—स्मृतिकाल तक स्त्रियों की स्थिति अत्यधिक दयनीय थी। संयुक्त परिवारों में नव-वधुओं को प्रताड़ित किया जाता था। ऐसी परिस्थिति में माता-पिता कन्या को अधिक से अधिक दहेज देने लगे ताकि उसे पति के परिवार में अधिक प्रतिष्ठा मिले। इससे प्रारम्भ में तो लाभ हुआ किन्तु आगे चलकर यह धन प्राप्त करने का संस्थागत साधन बन गया।

4. विवाह की अनिवार्यता—हिन्दू धर्म में कन्या का विवाह करना हर माता-पिता का एक अनिवार्य धार्मिक कृत्य बताया गया है। धार्मिक विचारों के कारण पुण्य की प्राप्ति और पाप के भय से विवाह एक अनिवार्य कृत्य हो गया है। परन्तु विवाह की यह अनिवार्यता उन कन्याओं के पिताओं के लिए समस्या बन गई जो कुरूप एवं विकलांग होती हैं। ऐसी कन्याओं से कोई पुरुष उसी स्थिति में विवाह करता है जब उसे इससे बड़ा आर्थिक लाभ हो। ऐसी कन्याओं के विवाह की समस्याओं को सुलझाने के लिए माता-पिता बड़ी मात्रा में धन देने लगे। इसी ने बाद में दहेज प्रथा का रूप ले लिया।

5. धन के महत्त्व में वृद्धि—वर्तमान समय में भौतिकवादी विचारधारा के कारण धन का महत्त्व बढ़ गया है। इससे दहेज प्रथा और अधिक सशक्त हो गई है। आज धन सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार हो चुका है। इसी कारण विवाह जैसे पवित्र संस्कार को भी अर्थ-लाभ का साधन समझा जाने लगा है।

6. महँगी शिक्षा प्रणाली—शिक्षा के कारण दहेज का और भी अधिक प्रचलन हो गया है। शिक्षित लड़कियों के माता-पिता उन लड़कों को ढूँढते हैं जो उनकी लड़कियों से ज्यादा शिक्षित हों। उच्च शिक्षा प्राप्त लड़के ज्यादा दहेज माँगते हैं, दहेज की माँग में वृद्धि के फलस्वरूप माता-पिता प्राय: अपनी पुत्रियों का विवाह करने में समर्थ नहीं होते। अगर वे समर्थ भी हों तो वे उनका विवाह अपनी हैसियत से बाहर करते हैं और वर पक्ष पक्ष की ओर से दहेज की माँगों के रूप में उन पर लगातार दबाव पड़ता रहता है। इससे न केवल लड़कियों के विवाह की

आयु में वृद्धि हुई है, अपितु दहेज प्रथा ने भयंकर रूप धारण कर लिया है। दहेज हत्याओं का बढ़ना इस भयंकर रूप का ज्वलन्त प्रमाण है। माता–पिता अपने बच्चों को उच्च शिक्षा, विशेषकर चिकित्सा तथा प्रौद्योगिक तकनीकी शिक्षा आदि, दिलाने के लिए बहुत अधिक आर्थिक व्यय करते हैं। इस शिक्षा में हजारों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अत: लड़के के माता–पिता उसके विवाह द्वारा इसकी क्षतिपूर्ति करने का प्रयास करते हैं ताकि खर्च की गई राशि ब्याज सहित वापस मिल जाए।

7. एक पापपूर्ण चक्र—दहेज एक ऐसा पापपूर्ण चक्र बन गया है जो स्वचालित है। इसी कारण इस चक्र को रोकना इतना सहज नहीं है। अधिकांश लोग अपने लड़कों के विवाह में अधिकाधिक दहेज की माँग इसीलिए करते हैं, क्योंकि उन्हें स्वयं अपनी कन्याओं के विवाह के लिए दहेज देना पड़ता है। इस प्रकार, व्यावहारिक रूप से इस प्रथा की उपेक्षा करना कठिन हो जाता है और यह चक्र अनवरत रूप से गतिमान रहता है।

10.4.3 दहेज प्रथा के दोष या कुप्रभाव

दहेज प्रथा वर्तमान युग की एक गम्भीर वैवाहिक समस्या है। आए दिन समाचारपत्रों में इसके कारण नव–वधुओं पर होने वाले अत्याचारों की खबरें पढ़ने को मिलती हैं। आजकल तो कुछ परिवारों में लड़के को शिक्षा केवल इसीलिए दी जाती है ताकि वह विवाह में अधिक दहेज प्राप्त कर सके। दहेज के बिना लड़की को अपनी ससुराल में आदर भी नहीं मिलता है। पहले दहेज केवल उच्च जातियों तक ही सीमित था। यदि लड़का डॉक्टर, वकील, प्रोफेसर अथवा इंजीनियर या किसी ऊँचे सरकारी पद पर होता था तो उसके लिए उसके माता–पिता अधिक दहेज की माँग करते थे। किन्तु आज दहेज निम्न जातियों में भी प्रचलित हो गया है। आज इस प्रथा में गुणों की मात्रा नगण्य है और इसके दोषों से सभी परिचित हैं। इसके प्रमुख दोष या कुप्रभाव निम्नलिखित हैं—

1. पारिवारिक संघर्ष–दहेज प्रथा अनेक पारिवारिक संघर्षों एवं तनावों को जन्म देती है। दहेज कम मिलने पर नव–वधू को तरह–तरह के कष्ट दिए जाते हैं। उसे हर समय दहेज का उलाहना दिया जाता है। इससे नव–वधुओं में हीनता की भावना जन्म लेती है और उनका जीवन बड़ा ही कष्टदायी हो जाता है। इसके अतिरिक्त, कभी–कभी तो दहेज की राशि के लिए पिता–पुत्र एवं अन्य पारिवारिक सदस्यों के बीच झगड़े हो जाते हैं।

2. ऋणग्रस्तता, आत्महत्या और शिशु हत्या—मध्यमवर्गीय परिवारों के लिए कन्या के विवाह के लिए दहेज की रकम जुटाना कठिन होता है। इसके लिए उन्हें बड़ी मात्रा में ऋण लेना पड़ता है और परिवार ऋणग्रस्त हो जाता है। यदि ऋण का प्रबन्ध नहीं हो पाता तो कई बार सामान्य व्यक्ति सामाजिक निन्दा के भय से आत्महत्या कर लेता है। अनेक कन्याएँ भी विवाह न हो पाने के कारण परिवार की चिन्ता का कारण बन जाती हैं। वे भी जीवन से निराश हो जाने के कारण आत्महत्या कर लेती हैं। पहले कहीं–कहीं तो कन्या के पैदा होते ही उसकी हत्या कर दी जाती थी।

3.बेमेल विवाह—अधिक दहेज दे सकने में असमर्थ माता–पिता अपनी योग्य, सुन्दर और गुणवान कन्या का विवाह अवगुणी, कुरूप, अपाहिज पुरुष के साथ कर देते हैं। कुछ व्यक्ति तो इस प्रथा के कारण अपनी अल्प आयु की कन्या का विवाह बूढ़ों से भी कर देते हैं। इस तरह के बेमेल विवाह जीवन में कभी भी सफल नहीं होते। ऐसे विवाह, सामान्यत: विवाह–विच्छेद व विधवा विवाह जैसी समस्याओं को और अधिक गम्भीर बना देते हैं।

4. निम्न जीवन स्तर—दहेज के कारण अनेक परिवारों का जीवन स्तर निम्न हो जाता है। अपनी कन्याओं को दहेज देने के लिए, अपनी आय का एक बड़ा भाग माता-पिता को जमा करना पड़ता है। इसके कारण परिवार का जीवन स्तर स्वत: ही निम्न हो जाता है।

5. विवाह का व्यापारीकरण—दहेज प्रथा ने विवाह के पवित्र आदर्शों का व्यापारीकरण कर दिया है। आज दहेज की आकांक्षा इतनी अधिक बढ़ गई है कि विवाह के पहले लड़के का मोल-भाव आदि किया जाने लगा है। यह हिन्दू विवाह के संस्कारों पर गहरी चोट है।

6. बाल विवाह को प्रोत्साहन—दहेज प्रथा बाल विवाह को प्रोत्साहन देती है। इसका कारण यह है कि बाल विवाह में अधिक दहेज की माँग नहीं की जाती है। इस तरह से कन्या का बाल विवाह कर देना माता-पिता के लिए आर्थिक दृष्टि से लाभकारी होता है।

7.अविवाहित लड़कियों की संख्या में वृद्धि—दहेज प्रथा के कारण अनेक लड़कियाँ अविवाहित ही रह जाती हैं। अनेक ऐसी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ, जो परिवार की आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण विवाह-सूत्र में नहीं बँध पातीं, मानसिक विक्षिप्तता का शिकार हो जाती हैं।

8. अनेक समस्याओं के लिए उत्तरदायी—दहेज प्रथा अनेक सामाजिक समस्याओं (यथा स्त्री शिक्षा में रुकावट, मानसिक असन्तुलन, अपराध आदि) को भी जन्म देती है। इसी प्रथा के कारण आज अनेक विवाह टूट जाते हैं। अनेक माता-पिता एवं कन्याएँ मानसिक सन्तुलन खो बैठती हैं। अनेक व्यक्ति दहेज के प्रबन्ध के लिए रिश्वत लेने लगते हैं, चोरी करने लगते हैं और अनेक अन्य बुराइयों को अपनाने लगते हैं।

10.4.4 दहेज प्रथा को समाप्त करने के सुझाव

दहेज के अवगुणों से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि भारतीय समाज में दहेज एक अभिशाप या कलंक है। अत: इसे दूर करना अत्यन्त आवश्यक है। दहेज प्रथा को समाप्त करने में निम्नांकित सुझाव सार्थक हो सकते हैं—

1. शिक्षा का प्रसार—दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षा का व्यापक प्रसार किया जाए। शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति इस प्रथा की बुराइयों को समझ सकते हैं। शिक्षित युवक एवं युवतियाँ इस प्रथा को समाप्त करने में विशेष योगदान प्रदान कर सकती हैं।

2. अन्तर्जातीय एवं प्रेम विवाहों को प्रोत्साहन—अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करके विवाह का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत हो जाएगा। वरों की संख्या में वृद्धि होने से दहेज की प्रथा भी शिथिल हो जाएगी। इसके साथ ही, प्रेम विवाहों को भी प्रोत्साहन देना चाहिए क्योंकि प्रेम विवाह स्नेह के आधार पर होते हैं मुद्रा के आधार पर नहीं।

3. दहेज प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करके—इस प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाना चाहिए। ऐसे परिवारों का सामूहिक बहिष्कार किया जाना चाहिए जो विवाह जैसे पवित्र बन्धन को भी एक सौदा समझते हैं। इससे दहेज के लोभी हतोत्साहित होंगे।

4. जीवनसाथी के चुनाव की स्वतन्त्रता—दहेज प्रथा को समाप्त करने में जीवनसाथी के चुनाव की स्वतन्त्रता भी महत्त्वपूर्ण हो सकती है। जब लड़के-लड़कियाँ एक-दूसरे के गुणों को देखकर विवाह करेंगे तो दहेज की समस्या स्वत: समाप्त हो जाएगी।

5. दहेज निरोधक कानूनों को प्रभावकारी बनाकर—दहेज विरोधी अधिनियमों में दहेज लेने तथा दहेज देने वाले व्यक्तियों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिए। दहेज प्रथा को समाप्त करने के लिए सर्वप्रथम 1961 ई० में एक विधेयक पारित किया गया था। इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह के समय दहेज की शर्त लगाना एक दण्डनीय अपराध माना गया है। दहेज प्रथा केवल मात्र कानूनों के प्रभाव से समाप्त नहीं की जा सकती। अत: इसके विरुद्ध जनमत तैयार किया जाना अति आवश्यक है।

10.4.5 दहेज निरोधक अधिनियम, 1961

उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक दहेज एक गम्भीर सामाजिक समस्या बनी हुई है। भारतीय समाज सुधारकों, विभिन्न महिला संगठनों तथा अन्य समाज सेवी संस्थाओं द्वारा समय-समय पर दहेज के प्रति आवाज उठाई जाती रही है। अंग्रेजी शासनकाल में तो इसकी रोकथाम के लिए कोई भी अधिनियम पारित नहीं किया जा सका। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1961 ई० में सरकार ने लोकसभा और राज्यसभा के सामने 'दहेज निरोधक विधेयक' प्रस्तुत किया। इस विधेयक की कुछ धाराओं पर दोनों सदनों में मतभेद पैदा हो गए। अत: 9 मई 1961 को दोनों सदनों की एक संयुक्त बैठक आमन्त्रित की गई। इसमें यह निर्णय किया गया कि विवाह के अवसर पर दिए गए उपहार दहेज नहीं माने जाएँगे। परन्तु विवाह निश्चित करते समय विवाह की एक शर्त के रूप में कोई निश्चित उपहार या उपहारों की मात्रा तय करना दण्डनीय अपराध होगा। इस नियम का उल्लंघन कर जो भी उपहार या वस्तु दी जाएगी वह पत्नी की सम्पत्ति (Trust property) मानी जाएगी, जो उसे या उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त होगी। इस विधेयक को 22 मई 1961 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिली और 1 जुलाई 1961 से यह सारे भारत में लागू कर दिया गया। यह कानून मुख्य रूप से दहेज माँगने और देने पर रोक लगाता है और ऐसा करने वालों के लिए दण्ड की व्यवस्था करता है। इसकी धारा 3 के अनुसार, यदि कोई व्यक्ति दहेज लेता है या देता है या लेने देने में मदद करता है तो वह अपराधी है। उसे 5 हजार रुपये जुर्माना और 6 माह का कारावास या दोनों दण्ड दिए जा सकते हैं। धारा 4 के अनुसार, यदि वर या कन्या के माता-पिता या संरक्षक या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई व्यक्ति दहेज माँगता है तो उसे भी दण्ड दिया जा सकता है। धारा 5 के अनुसार, दहेज के लेन-देन से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के समझौते को गैर-कानूनी माना गया है। धारा 7 के अनुसार, दहेज से सम्बन्धित लिखित शिकायत प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट की अदालत में एक वर्ष के अन्दर-अन्दर देने पर ही उस पर विचार किया जाएगा।

इस कानून का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। कुछ कमियों के कारण यह असफल ही रहा है। इन कमियों में विवाह के समय दी जाने वाली वस्तुओं को उपहार मानना, केवल लिखित शिकायत पर ही कार्यवाही होना, विवाह के एक वर्ष पश्चात् दहेज सम्बन्धी शिकायतों के बारे में कोई कार्यवाही न होना, दण्ड की समुचित व्यवस्था न होना इत्यादि प्रमुख रही हैं। यह एक प्रकार से दहेज की समस्या को रोकने में असमर्थ रहा है। इसीलिए उड़ीसा, बिहार, पश्चिम बंगाल, हरियाणा, पंजाब और हिमाचल प्रदेश की राज्य सरकारों ने इसमें संशोधन करके इसे अधिक प्रभावशाली बनाने का प्रयास किया है। केन्द्रीय सरकार ने भी 1984 ई० में 'दहेज निरोधक (संशोधन) कानून' पारित किया गया जो 2 अक्टूबर, 1985 ई० को भारत में लागू हुआ। इसमें जुर्माने की राशि 10,000 रुपये तथा कारावास की अवधि दो वर्ष कर दी गई। पुन: 1986 ई० में हुए संशोधन द्वारा यह राशि 15,000

रुपये कर दी गई है तथा कारावास की अवधि पाँच वर्ष हो गई है। साथ ही इसे गैर-जमानती अपराध भी बना दिया गया है। यदि सामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त विवाह के सात वर्ष के अन्दर वधू की मृत्यु हो जाती है तो पति एवं उसके परिवार को दहेज माँगने के अपराध में सजा भी मिल सकती है। परन्तु इससे दहेज के कारण होने वाले अत्याचार किसी भी रूप में कम नहीं हुए हैं अत: 'दहेज निरोधक अधिनियम' को और अधिक सशक्त बनाने एवं साथ ही कठोरता से लागू करने की आवश्यकता है।

यद्यपि संशोधन अधिनियम भी दहेज की बुराई को समाप्त नहीं कर पाए हैं, फिर भी कुछ लोग दहेज लेने से डरने लगे हैं। वास्तव में, दहेज; हिन्दू विवाह से सम्बन्धित एक प्रमुख समस्या है। यह हमारे समाज का एक ऐसा कलंक है जो हजारों-लाखों वधुओं की हत्या के लिए उत्तरदायी है; अत: इसे समाप्त किए जाने की आवश्यकता है। आज सबसे बड़ी चुनौती शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों प्रकार के लोगों में दहेज के विरुद्ध जनमत निर्माण करने की है। इसमें स्वयं लड़कियों तथा लड़कों में चेतना का होना अनिवार्य है, ताकि वे स्वयं आगे आकर इसका विरोध कर सकें। शिक्षित लड़के लड़कियाँ यदि अपने-अपने माँ-बाप को बिना दहेज के विवाह हेतु राजी कर लें तो काफी सीमा तक इस समस्या का समाधान हो सकता है। परन्तु अभी तक इस प्रकार की चेतना विकसित नहीं हो पाई है। ऐसा देखने में आया है कि उच्च शिक्षा प्राप्त वर के माता-पिता अधिक दहेज की माँग करते हैं। ऐसा लगता है कि वे लड़के पर हुई पढ़ाई आदि का खर्चा ब्याज सहित वसूल करना चाहते हैं। आज समय की यही माँग है कि शिक्षित युवाओं को इस कुरीति को समाप्त करने हेतु महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी।

10.5 अत्याचार

स्त्रियों की सबसे बड़ी प्रमुख समस्या उन पर होने वाला अत्याचार है। यह अत्याचार उनके यौन शोषण और यौन उत्पीड़न से सम्बन्धित होता है। स्त्रियों के प्रति अत्याचार निम्नलिखित रूपों में दिखाई पड़ता है—

1. वेश्यावृत्ति—यह विश्व का सबसे पुराना व्यवसाय माना जाता है। शायद जब से संगठित समाज है तब से वेश्यावृत्ति है। 1959 ई० में महिलाओं में अनैतिक व्यापार दमन का कानून पारित किया गया था परन्तु आज भी वेश्यावृत्ति संगठित रूप में पाई जाती है। प्राय: यह दो रूपों में प्रचलित है—एक ओर तो परम्परागत वेश्याएँ हैं जो बाजार में कोठों पर धन कमाने के लिए देह का व्यापार करती हैं और, दूसरी ओर, वे श्वेतवस्त्रधारी तथाकथित सम्मानित स्त्रियाँ हैं जो धन के लिए या अन्य भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बड़े-बड़े होटलों में या निजी कोठी में या किसी अन्य संगठित अड्डे पर यौन-व्यापार करती हैं। इस दूसरी श्रेणी की स्त्रियों को कॉलगर्ल कहा जाता है।

यह सच है कि कुछ स्त्रियाँ इस पेशे में आने को बाध्य की जाती हैं। झूठी शादी के द्वारा या प्रेमी द्वारा झूठे आश्वासनों में फँसाकर या अपहरण के द्वारा उन्हें इस पेशे में लाया जाता है और फिर मार-पीटकर उन्हें वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य किया जाता है। परन्तु कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो वेश्यावृत्ति में स्वेच्छा से आती हैं या तो वे पैतृक रूप से इस पेशे में हैं या फिर उनकी गरीबी उन्हें इसकी ओर आकर्षित करती है। कभी-कभी ऐसे उदाहरण भी सामने आए हैं जहाँ विचित्र यौन आनन्द के आकर्षण ने स्त्रियों को इस पेशे की ओर आकर्षित किया है। परन्तु अधिकांशत: स्त्रियाँ इस पेशे की ओर मजबूरी से ही आती हैं। सामान्यत: स्त्री एक सम्मानित घर, पति और बच्चे चाहती है। यह समाज के लिए शर्म की बात है कि वहाँ ऐसी परिस्थितियाँ हों जो स्त्रियों को शरीर बेचने के लिए बाध्य करें।

वेश्यावृत्ति से समाज का नैतिक पतन होता है। सिफलिस व गनेरिया जैसे यौन रोग फैलते हैं। अब तो एड्स जैसा भयानक रोग भी फैलने लगा है जो सम्भोगजनित है और सबसे अधिक घातक है। वेश्यालय वह क्षेत्र है जहाँ अपराध पनपते हैं। वास्तव में यौन कोई वस्तु नहीं है जो बाजार में खरीदी या बेची जाए। यह तो मानव के स्वाभाविक, पवित्र व विपरीत लिंग के प्रति स्वेच्छा से प्रेम व समर्पण का विषय है। इसी के द्वारा नए जीवन का सृजन होता है। इसका क्रय-विक्रय न केवल हानिकारक ही है अपितु अमानवीय व घिनौना भी है।

'आनलुकर' (Onlooker) नामक पत्रिका में मध्य प्रदेश के राजगढ़ जिले की साँसी जाति की लड़कियों के सम्बन्ध में एक लेख में यह बताया गया है कि कैसे वे बम्बई के देह बाजार की ओर आकर्षित कर दी गई हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि उनमें से उनतीस साँसी लड़कियों को वेश्यालयों से पुलिस की सहायता से जब निकाला गया और वापस गाँव में लाकर उनके पुनर्वास का प्रयास किया गया तो उनमें से अधिकांश ने वापस पुन: अपने धन्धे में लौटना पसन्द किया। उन लड़कियों का कहना था कि वे गाँव के अनपढ़ व गरीब युवकों के साथ शादी करके गरीबी की जिन्दगी बिताने से कहीं बेहतर बम्बई और पूना के वेश्यालयों में जिन्दगी गुजारना समझती हैं। यह उदाहरण पूरी साँसी जाति की आर्थिक दयनीय दशा की ओर इशारा करता है।

2. देवदासी—आज भी कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश में येलम्मा और पोचम्मा के ऐसे मन्दिर हैं जहाँ बड़ी संख्या में प्रतिवर्ष देवदासियों के रूप में लड़कियों को समर्पित किया जाता है। परम्परा की दृष्टि से उसका कार्य देवता की सेवा करना है, परन्तु वास्तव में वे पुजारी और गाँव के जमींदारों की यौन भूख का शिकार बनती हैं और आखिर में वेश्यावृत्ति द्वारा अपनी जीविका चलाती हैं। धार्मिक अन्धविश्वास गरीब लोगों को ऐसी प्रथा का पालन करने के लिए प्रेरित करते हैं। कानून के द्वारा देवदासी प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया है परन्तु फिर भी स्वस्थ जनमत के अभाव में कानून इस प्रथा को रोकने में नपुंसक सिद्ध हो रहा है। अब महिला संगठन ही इस दिशा में जागरूक हुए हैं और वे देवदासियों के पुनर्वास का कार्य कर रहे हैं और इस प्रथा के खिलाफ जन आन्दोलन चला रहे हैं। उनके प्रयासों में आशा की किरण दिखाई देती है।

3. अश्लील साहित्य—नग्न एवं अर्द्धनग्न स्त्री की तस्वीरों, काम चेष्टाओं और कुत्सित किस्सों पर आधारित अश्लील साहित्य भी बाजार में धन कमाने का एक सरल साधन बन गया है। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ इस प्रकार की सामग्री द्वारा मानव की काम भावनाओं का शोषण करती हैं। अश्लील साहित्य किशोर-किशोरियों और युवाओं के नैतिक पतन का कारण बनता है और उन्हें गुमराह करता है। ऐसे साहित्य पर भी कानूनी रोक लगी है पर वह चोरी-छिपे बाजार में ऊँचे दामों पर मिल ही जाता है। इस व्यापार का आधार भी स्त्री का यौन शोषण ही है।

4. विज्ञापन—आज के व्यवसायों का मुख्य आधार विज्ञापन है और विज्ञापन स्त्री के अंग प्रदर्शन पर आधारित है। चाहे किसी वस्तु का स्त्री के जीवन से सीधा सम्बन्ध हो या न हो परन्तु उसके शरीर के उत्तेजक चित्रों के अभाव में विज्ञापन अधूरा समझा जाने लगा है। यही कारण है कि माडलिंग का व्यवसाय लोकप्रिय होता जा रहा है। यह विज्ञापन भी राष्ट्र के नैतिक पतन के लिए उत्तरदायी है। यह भी सिद्ध करता है कि स्त्री की देह एक वस्तु है जो सार्वजनिक रूप से विभिन्न प्रयोगों के लिए बाजार में उपलब्ध है। अनेक महिला संगठन ऐसे विज्ञापनों के खिलाफ आवाज उठा रहे हैं।

5. चलचित्र—अधिकांश चलचित्र स्त्री के यौन शोषण के ज्वलन्त उदाहरण हैं। व्यावसायिक रूप से चलचित्र की सफलता के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि उसमें अर्द्धनग्न स्त्री के द्वारा कैबरे के दृश्य और असहाय

स्त्री पर पुरुष के पुरुषत्व की ताकत को प्रकट करते हुए क्रूर बलात्कार के दृश्य अवश्य हों। अधिकतर चलचित्र पुरुष प्रधान होते हैं। नायिका तो प्रदर्शन के लिए एक गुड़िया मात्र दिखाई जाती है। जब लम्बे कामुक दृश्यों के द्वारा दर्शकों की कामवासना को उत्तेजित किया जाता है तो स्त्री का अपमान भी होता है। सच तो यह है कि स्त्री की देह उसकी निजी पवित्र धरोहर है जिस पर उसी का निरपेक्ष अधिकार होना चाहिए और किन्हीं भी मजबूरियों या प्रलोभनों से उसका सार्वजनिक प्रदर्शन सारे राष्ट्र के लिए लज्जा का विषय है। इस दिशा में आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए।

6. कैबरे नृत्य—नगरों में रेस्तराँ और होटलों में कैबरे नृत्य एक साधारण बात बनती जा रही है जहाँ नृत्य के नाम पर स्त्री के अंगों का उत्तेजक रूप में प्रदर्शन होता है, और कहीं-कहीं तो धीरे-धीरे नाचते हुए कपड़े उतारते हुए पूर्ण नग्नता का भी प्रदर्शन किया जाता है। शराब की गन्ध, सिगरेट के धुएँ और मध्यम रोशनी में खचाखच भरे हाल के बीच उत्तेजक म्यूजिक के साथ मांसल देह लिए थिरकती हुई स्त्री की उत्तेजक चेष्टाओं से सारा वातावरण ही कामुक बन उठता है। धन के लिए आज भी स्त्री उसी तरह नचाई जा रही है जैसे वह सदियों पहले नचाई जा रही थी।

7. छेड़छाड़–स्त्री की दैहिक समस्याओं में सबसे प्रमुख समस्या उनका छेड़छाड़ का शिकार होना है। बसों में, बाजारों में, स्कूल और कॉलेजों के प्रांगणों में वे पुरुष द्वारा छेड़छाड़ का शिकार होती हैं। उन पर आवाज कसना, उन्हें स्पर्श करने की चेष्टा करना, कुत्सित इशारा करना, चोंटना-नोचना एक आम बात बन गई है। उत्तर भारत में यह समस्या ज्यादा विकराल है। राजधानी दिल्ली में इसके खिलाफ स्त्रियों ने प्रदर्शन भी किया था और गुण्डागर्दी के खिलाफ अभियान की माँग की थी, परन्तु यह रुकता ही नहीं। इक्का-दुक्का गुण्डे पीटे भी जाते हैं या पुलिस उन्हें पकड़ भी लेती है तो कानून की लम्बी प्रक्रिया तथा गवाही आदि की जटिलता व असुरक्षा प्राय: उन गुण्डों के बच निकलने का साधन बन जाते हैं।

स्त्रियों के प्रति होने वाले अत्याचार का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि भारत में प्रति दो घण्टे में एक बलात्कार की घटना घट जाती है। सविया वेगास (SaviaVegas) ने उचित ही लिखा कि ''दन्तविहीन कानून और नपुंसक जनाक्रोश'' के कारण अपराधी बच निकलते हैं। इस दिशा में कुछ प्रशासकीय कदम उठाए गए हैं जिनमें एक तो बलात्कार सम्बन्धी कानून में यह संशोधन है कि बलात्कार नहीं हुआ, यह सिद्ध करने का भार अभियुक्त पर होना चाहिए न कि बलात्कार की शिकार स्त्री पर। 1983 ई० में सुप्रीम कोर्ट ने दो निर्णयों में क्रान्तिकारी दृष्टिकोण उपस्थित किया है। इनके अनुसार सर्वोच्च न्यायालय ने प्रतिपादित किया कि यदि बलात्कार की शिकार स्त्री का कथन सच दिखाई दे तो उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। मेडिकल रिपोर्ट या अन्य किसी सबूत का अभाव ऐसे बयान को झुठलाने में पर्याप्त नहीं माना जाना चाहिए। इस नए और जागरूक दृष्टिकोण से यह सम्भव हो सकेगा कि धनिक व्यक्तियों द्वारा या शक्तिशाली लोगों द्वारा किए गए बलात्कार की घटनाओं में दोषी को दण्ड मिल सके।

यह भी ध्यान रखने वाली बात है कि बलात्कार की घटना के बारह घण्टे भीतर ही मेडिकल साक्षी किया जाना कानूनी रूप से आवश्यक है ताकि सम्भोग के तथ्य की पुष्टि हो सके। कई बार सरकारी दबाव या सरकारी कर्मचारी होने के नाते अस्पताल के डॉक्टर बलात्कार की घटना में परीक्षण करने में कतराते हैं या झूठी रिपोर्ट देते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि किसी भी प्राइवेट डॉक्टर के द्वारा किया गया मेडिकल निरीक्षण कानूनी रूप से

ग्राह्य हो और मेडिकल कौन्सिल ऑफ इण्डिया सभी डॉक्टरों के लिए यह अनिवार्य दायित्व घोषित कर दे कि वे बलात्कार के मामलों में उससे पीड़ित स्त्री के मेडिकल चैकअप की आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

स्त्रियाँ शारीरिक हिंसा की शिकार अनेक साम्प्रदायिक दंगों या युद्धों में सदा से होती रही हैं। यहाँ भी पुरुष प्रधान सांस्कृतिक दृष्टिकोण का दोष है। शत्रु को सबसे अधिक अपमानित करने, उसका हौसला तोड़ने और उसे सबक सिखाने का सबसे कारगर तरीका यही समझा जाता है कि शत्रु की स्त्रियों का नग्न जुलूस निकाला जाए या उनसे सामूहिक बलात्कार किया जाए। यह पशुता मानवीय सभ्यता पर कलंक है। इस दिशा में स्वस्थ सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। स्त्री का शारीरिक स्वशुचिता को ही सर्वाधिक मूल्य समझना मूर्खता है और उसे बलात्कार या यौन उत्पीड़न को भी शरीर के अन्य अंगों पर की गई हिंसा के समकक्ष ही मानना चाहिए। हाँ, स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उसके साथ सम्भोग के अपराध के रूप में बलात्कारी को अतिरिक्त रूप से दण्डित किया जाना चाहिए।

इस भाँति, अनेक रूपों में स्त्री यौन शोषण और उत्पीड़न की शिकार है। इसके विरुद्ध अभियान तभी सफल हो सकता है जब जागरण हो और स्त्रियाँ शिक्षित व आत्म-निर्भर हों। हमें बच्चों के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा का तरीका भी बदलना होगा ताकि पुरुष यौन के प्रति इतनी कुण्ठाओं से ग्रसित न हों और स्त्रियाँ अपनी रक्षा करने में आप समर्थ हो सकें।

10.6 भेदभाव

प्रत्येक पितृसत्तात्मक परिवार का यह सामान्य लक्षण है कि वहाँ पुरुष की प्रधानता होती है और स्त्री का अवमूल्यन होता है। भारतीय समाज में इसका रूप अत्यन्त कठोर है। स्त्री का जन्म ही अपने में अभिशाप है। पुत्र मुक्तिदाता, बुढ़ापे का सहारा और घर की पूँजी है, जबकि पुत्री का जन्म एक दायित्व और कर्जा है। इसलिए जन्म से ही लिंग-भेदभाव शुरू हो जाता है। इनके लालन-पालन के तौर-तरीके बिलकुल अलग-अलग हैं। के० एम० पाणिक्कर (K. M. Panikkar) ने स्पष्ट लिखा है कि हिन्दू सामाजिक जीवन की सबसे प्रमुख समस्याओं में से एक हिन्दू संयुक्त परिवार में स्त्री को प्रदान की जाने वाली प्रस्थिति है। आधारभूत रूप से हिन्दू सामाजिक व्यवस्था यह मानकर चलती है कि पुत्री परिवार का भाग नहीं है। वह तो एक ऐसा आभूषण है जो गिरवी रखा है और जब उसका कानूनी मालिक आएगा और उसकी माँग करेगा, तो उसे दे दिया जाएगा। 'यास्क निरुक्त' (Yaska Nirukta) में स्पष्ट घोषणा है कि लड़की तो अन्य को दी जाती है। देने के तीन तरीके हैं—दान, विक्रय तथा उत्सर्ग। दान विवाह के समय कन्यादान के रूप में होता है, विक्रय से आशय वधू-मूल्य लेकर कन्या बेचना है जबकि उत्सर्ग का आशय उसे त्याग देना है; जैसे—मन्दिर में देवदासी के रूप में देवी या देवता के चरणों में समर्पित कर देना। ईसाइयों में वे मठ में एक नन के रूप में रहती हैं। ऐसी स्थिति में स्त्री का लालन-पालन कैसे होता होगा, वह तो अपने आप ही स्पष्ट है।

लिंग-भेदभाव यौन पृथक्करण में प्रकट होता है। लड़कों और लड़कियों के जरा बड़ा होते ही अलग-अलग क्षेत्र हो जाते हैं। उनके खेल भी अलग हैं, पढ़ाई के विषय भी अलग हैं, संस्कार भी अलग हैं और जीवन की पूरी तैयारी ही अलग-अलग होती है। लड़के को घर से बाहर का जीव माना जाता है, उसे व्यावसायिक तैयारी करनी होती है, उसे जीवन की कठिन प्रतियोगिता के लिए तैयार किया जाता है, जबकि लड़की का जीवन उसके घर की चहारदीवारी है, वह रसोई, घर के रख-रखाव व बच्चों के लालन-पालन के लिए समाजीकृत की जाती है।

उसे घर के कैदखाने का एक ऐसा कैदी बनाया जाता है जो आगे चलकर अपनी कैद को प्यार करने लगे और उसे ही इज्जत और सतीत्व का लक्ष्य मान अपना जीवन-यापन कर सके। घर की परिधि के बाहर वह स्त्री नहीं है, या तो वह वेश्या है या फिर देवी। स्त्री के लिए शारीरिक शुचिता सबसे बड़ा मूल्य है जिसका अर्थ है विवाह से पहले कोई उसके शरीर को यौन की दृष्टि से स्पर्श न करे और विवाह के बाद मन, वचन और कर्म से वह पति के अतिरिक्त किसी अन्य का स्पर्श न होने दे। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि भारतीय संस्कृति 'झिल्ली' की संस्कृति है जहाँ माँ-बाप अपनी लड़की को उसके पति को अक्षत-योनि सौंपना चाहते हैं तथा पति व उसके घरवालों को भी चिन्ता है कि वह अक्षत-योनि थी या नहीं और बाद में भी यही चिन्ता रहती है कि वह इस दृष्टि से कभी अपवित्र न हो जाए। स्पष्ट है कि लज्जा उसका गहना बन जाती है और पति परमेश्वर उसका आदर्श। जीवन में जोखिम लेना, संकट का सामना करना, अत्याचार का विरोध करना, अन्याय के प्रतिकार में आवाज उठाना उसके वश का नहीं होता। वह पराश्रित और अबला बन जाती है।

वह 'पराया धन' है इसीलिए उसकी शिक्षा या स्वास्थ्य पर धन व्यय करना अपव्यय माना जाता है। लड़के पर व्यय करना आवश्यक है। वह पूर्वजों के लिए पिण्डदान करता है, पूर्वजों का नाम आगे चलाता है और बुढ़ापे में सहारा देता है। यह पृथक्करण और भेदभाव इतना जबरदस्त है कि स्त्री और पुरुष का गृहस्थ जीवन भी कटु हो जाता है क्योंकि अनेक रूढ़ियाँ और पूर्वाग्रह उनके बीच आ जाते हैं। उस पुरुष को 'स्त्रैण' कहा जाता है जो भावुक होता है और उस पुरुष को 'पेटीकोट का गुलाम' कहा जाता है जो अपनी पत्नी से जीवन के मामलों पर सलाह लेता है, चाहे उसकी पत्नी कितनी ही चतुर और व्यवहारकुशल क्यों न हो। इस भाँति स्त्रियों के लिए कहा जाता है कि वे संकुचित दृष्टिवाली और कलहप्रिय होती हैं। अनेक पुरुष एक साथ रह सकते हैं पर स्त्रियाँ दो भी साथ नहीं रह सकतीं।

ऐसे पूर्वाग्रहों के माध्यम में पले स्त्री-पुरुष स्वस्थ जीवन नहीं बिता पाते। पुरुष स्त्री से भयाक्रान्त रहता है, उसके सम्मोहन से अपने को बचाना चाहता है, उसको दबाकर रखना चाहता है, अपना पौरुष प्रकट करना चाहता है। इस हीन ग्रन्थि से पीड़ित वह स्त्री पर अनाचार कर बैठता है; और स्त्री—उसका अपना कोई निजी सामाजिक अस्तित्व तो है ही नहीं, वह तो अमुक की बेटी या अमुक की पत्नी या अमुक की माँ मात्र है—सामाजिक बेड़ियों में जकड़ी हुई सब-कुछ सहन करने को मजबूर हो जाती है। अपनी निज की पहचान को खोजने का प्रयास-मात्र ही उसे पथभ्रष्ट घोषित करने के लिए पर्याप्त है। सब-कुछ सहकर समर्पण किए जाना ही उसकी नियति है।

भारतीय समाज ने इस लिंग-भेदभाव की बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। समाज लगभग पचास प्रतिशत इन स्त्रियों के योगदान से वंचित रहा है। कुण्ठित और दु:खी माताओं की गोद में पले शिशु भी वीर और प्रगतिशील नहीं हो सकते। कहते हैं चित्तौड़ की महारानी पद्‌मिनी के साथ सोलह हजार स्त्रियों ने अलाउद्दीन के साथ युद्ध में पराजय के समय जलती चिताओं में कूदकर 'जौहर' किया था। हिन्दू इस सतीत्व के आदर्श पर गर्व करते हैं। काश ये 'सोलह हजार एक' स्त्रियाँ भी साहसी होतीं और तलवार लेकर युद्ध में लड़ी होतीं तो शायद युद्ध का परिणाम ही कुछ और होता।

10.7 स्त्रियों एवं बच्चों के लिए कल्याण कार्यक्रम

वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का ६७ प्रतिशत भाग स्त्रियाँ एवं बच्चे हैं। इनमें 48 प्रतिशत स्त्रियाँ हैं जिनमें 0-14 वर्ष आयु की बालिकाएँ भी शामिल हैं तथा 35 प्रतिशत बच्चे हैं जिनमें

बालक और बालिकाएँ दोनों शामिल हैं। स्त्रियों और बच्चों का सर्वांगीण विकास और उन्हें महत्त्व देने के लिए पहले मानव संसाधन विकास मन्त्रालय के तहत एक अलग महिला एवं बाल विकास विभाग 1985 से काम कर रहा था। लेकिन विभाग का महत्त्व देखते हुए 30 जनवरी, 2006 को महिला एवं बाल विकास मन्त्रालय अस्तित्व में आया। 16 फरवरी, 2006 को एक अधिसूचना जारी कर सरकार ने बच्चों के कल्याण और सुरक्षा से जुड़े सभी मामले; जैसे किशोर न्याय (बालकों की देखरेख एवं संरक्षण) अधिनियम 2000, केन्द्रीय दत्तक संसाधन एजेन्सी (कारा) और दत्तक ग्रहण भी इस नवगठित मन्त्रालय को सौंप दिए। ये कार्य पहले सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय के अधीन थे।

महिला एवं बाल विकास मन्त्रालय का दृष्टिकोण स्त्रियों एवं बच्चों का सर्वांगीण विकास करना और उन्हें सुरक्षा मुहैया कराना है। ताकि वे एक नागरिक के रूप में उत्पादक बन सकें और अच्छा जीवन जी सकें। मन्त्रालय स्त्रियों एवं बच्चों के उत्थान के लिए नीति, कार्ययोजना, कानून, कार्यक्रम, योजनाएँ बनाता है और राज्य सरकारों, केन्द्र सरकार की दूसरी एजेन्सियों और स्वैच्छिक संगठनों की मदद से उन्हें लागू करता है।

10.7.1 स्त्रियों के लिए कल्याण कार्यक्रम

सरकार ने स्त्रियों के कल्याण हेतु अग्रलिखित योजनाएँ/कार्यक्रम प्रारम्भ किए हैं—

1. स्त्री कर्मचारियों के लिए हॉस्टल—निम्न आय वाली कार्यरत स्त्रियों के लिए सस्ते एवं सुरक्षित आवास उपलब्ध कराने के लिए 1972 ई० में एक योजना प्रारम्भ की गई थी जिसमें वर्ष 1982–83 में संशोधन किया गया तथा इसमें आठ वर्ष तक की उम्र के बच्चों वाली नौकरीपेशा स्त्रियों के हॉस्टलों के लिए अलग से दी जाने वाली सहायता भी सम्मिलित कर दी गई। 2000 रुपये मासिक वेतन पाने वाली स्त्रियाँ सरकार द्वारा सहायता प्राप्त हॉस्टलों में आवास पाने की हकदार हैं। उन्हें आवास खरीदने के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। अब तक इस योजना के अन्तर्गत 405 हॉस्टलों का निर्माण किया जा चुका है।

2. पीड़ित स्त्रियों के पुनर्वास के लिए प्रशिक्षण केन्द्र—यह योजना 1977 ई० में 18 से 20 वर्ष आयु की अत्यन्त गरीब स्त्रियों को बिक्री योग्य वस्तुएँ बनाने का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से प्रारम्भ की गई। प्रशिक्षण के दौरान उन्हें आवश्यकतानुसार आवास तथा देखभाल की सुविधाएँ दी जाती हैं। यह योजना ऐच्छिक संगठनों द्वारा क्रियान्वित की जाती है।

3.रोजगार तथा आय उत्पन्न करने वाली उत्पादन इकाइयाँ—यह योजना वर्ष 1982–83 में नार्वे की अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था के सहयोग से प्रारम्भ की गई। इस कार्यक्रम से गरीब ग्रामीण स्त्रियों, अनुसूचित जाति व जनजाति जैसे कमजोर वर्गों की स्त्रियों, युद्ध में मारे गए सैनिकों तथा कार्यक्रम क्रियान्वयन में लगे संगठनों के मृत कर्मचारियों की विधवाओं को लाभ मिल रहा है।

4. स्त्री प्रशिक्षण तथा रोजगार कार्यक्रम में सहायता—यह योजना वर्ष 1986–87 में स्त्रियों के काम करने वाले क्षेत्रों; जैसे कृषि, दुग्ध उत्पादन, पशुपालन, मछली पालन, खादी व ग्रामोद्योग, हथकरघा, हस्तशिल्प और रेशम विकास आदि; में स्त्री को रोजगार देने के लिए लागू की गई।

5. स्त्रियों के लिए विकास निगम—वर्ष 1986–87 के दौरान सभी राज्यों में स्त्रियों के लिए विकास निगम के गठन के बारे में एक नई योजना बनाई गई। इस योजना का उद्देश्य स्त्रियों को बेहतर रोजगार के अवसर उपलब्ध

कराना है जिससे वे आर्थिक रूप से स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर हो सकें। ये निगम महिला उद्यमियों का पता लगाकर उन्हें तकनीकी तथा वित्तीय सहायता भी उपलब्ध कराते हैं।

6.स्त्रियों के लिए सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा 1958 ई० से प्रारम्भ इस कार्यक्रम के अन्तर्गत जरूरतमन्द व शारीरिक रूप से अक्षम स्त्रियों को 'काम और मजदूरी' के अवसर उपलब्ध कराने के लिए वित्तीय सहायता दी जाती है। बोर्ड ने 1987 ई० तक 7,620 इकाइयाँ संचालित करने के लिए अनुदान दिए हैं जिनसे लगभग 96,482 लोगों को लाभ प्राप्त हुआ है।

7. स्त्री शिक्षा—सामाजिक-आर्थिक गति को तेज करने में लड़कियों और स्त्रियों की शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सरकार ने समय-समय पर इस दिशा में अनेक कदम उठाए हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में व्यवस्था है कि शिक्षा को स्त्रियों के स्तर में बुनियादी परिवर्तन लाने के साधन के रूप में प्रयोग में लाया जाएगा। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली (i) स्त्रियों को समर्थ बनाने के लिए सकारात्मक हस्तक्षेप भूमिका अदा करेगी, (ii) नए सिरे से तैयार किए गए पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकों के माध्यम से नए मूल्यों के विकास में योगदान देगी तथा (iii) विभिन्न पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत स्त्री सम्बन्धी अध्ययन को प्रोत्साहित करेगी। स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने एक कार्यक्रम लागू किया है जिसके अन्तर्गत सरकारी/सरकारी सहायता प्राप्त राज्यों और केन्द्र शासित प्रदेशों के स्थानीय निकायों/स्कूलों में 9वीं से 12वीं कक्षाओं की छात्राओं के शिक्षा शुल्क की पूर्ति की व्यवस्था है। यह कार्यक्रम वर्ष 1985–86 से प्रभावी है।

8. प्रौढ़-स्त्रियों के लिए शिक्षा के सघन पाठ्यक्रम—केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा 1958 ई० में शिक्षा के सघन पाठ्यक्रम प्रारम्भ किए गए जिनका उद्देश्य जरूरतमन्द स्त्रियों को रोजगार के नए अवसर उपलब्ध कराना तथा प्राथमिक पाठशाला के शिक्षकों, बाल सेविकाओं, नर्सों, स्वास्थ्य परिचारिकाओं, दाइयों और विशेषत: ग्रामीण इलाकों में परिवार नियोजन कार्यकर्त्ताओं का एक सक्षम और प्रशिक्षित वर्ग तैयार करना था। 1975 ई० में व्यावसायिक प्रशिक्षण को भी इस योजना में सम्मिलित किया गया ताकि 18–30 वर्ष तक की उम्र की स्त्रियों को विभिन्न व्यवसायों में प्रशिक्षण देकर अपनी आय बढ़ाने का अवसर दिया जा सके।

9. स्वैच्छिक कार्यवाही ब्यूरो—ये ब्यूरो भी केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड द्वारा केन्द्र स्तर पर तथा 28 राज्यों व केन्द्रशासित प्रदेशों में स्थापित किए गए हैं। इनका कार्य स्त्रियों तथा बच्चों पर होने वाले अत्याचारों का प्रतिरोध करना तथा अत्याचार एवं शोषण का शिकार हुए लोगों को निवारक तथा पुनर्वास सेवाएँ उपलब्ध कराना है। बोर्ड जरूरतमन्द स्त्रियों के परामर्श तथा मार्गदर्शन के लिए 'परिवार परामर्श केन्द्र' स्थापना के लिए वित्तीय सहायता भी देता है तथा 1986 ई० तक ऐसे 38 परिवार परामर्श केन्द्रों की स्थापना की गई है।

10.स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार को रोकने के लिए शैक्षिक कार्य–स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए शैक्षिक कार्य की एक योजना शत-प्रतिशत आर्थिक सहायता देकर स्वैच्छिक संगठनों के माध्यम से क्रियान्वित की जा रही है। इस योजना के अन्तर्गत सामाजिक कार्यकर्त्ताओं और सरकारी अधिकारियों सहित दूसरे लोगों के लिए प्रशिक्षण शिविरों का आयोजन, कानूनी शिक्षा प्रशिक्षण शिविर, स्त्रियों के लिए परा-कानूनी प्रशिक्षण/लोक अदालतें/ कानूनी शिक्षा की पुस्तिकाएँ, मार्गदर्शिकाएँ, आरम्भिक किताबें आदि बनाना तथा

परम्परागत माध्यमों द्वारा स्त्रियों पर हो रहे अत्याचारों के बारे में लोगों को जानकारी आदि कार्यक्रम चलाए जाते हैं।

11.स्त्रियों और लड़कियों के रहने के लिए अल्पकालिक आवास—इस योजना के अन्तर्गत सरकार स्वैच्छिक संगठनों को अनुदान दे रही है ताकि वे ऐसे आवासों को चला सकें। पारिवारिक समस्याओं के कारण जो लड़कियाँ सामाजिक व नैतिक खतरे में हैं, उन्हें सुरक्षा व पुनर्वास प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त, इस योजना के अन्तर्गत चिकित्सा सुविधा, मनोविकार उपचार, रोजगार देकर उपचार करना, सामंजस्य के लिए सामाजिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना आदि सुविधाएँ दी जाती हैं।

12.अन्य कार्यक्रम—उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त केन्द्रीय कल्याण बोर्ड, राज्य सरकारों तथा स्वैच्छिक संगठनों द्वारा भी स्त्रियों के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

इन कार्यक्रमों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

(i) स्थानीय ग्रामीण स्तर पर महिला संगठन (महिला मण्डल),

(ii) व्यावसायिक प्रशिक्षण केन्द्र,

(iii) पुनर्वास केन्द्र,

(iv) निराश्रित महिला सदन,

(v) कॉलेजों में महिला विकास केन्द्र,

(vi) जनसहयोग से ग्रामीण महिलाओं का प्रशिक्षण, तथा

(vii) नौकरीपेशा महिलाओं के लिए हॉस्टल।

कई स्वैच्छिक संगठन बाल विवाह, दहेज प्रथा और लड़कियों की पढ़ाई छुड़ाने जैसी कुरीतियों के उन्मूलन के लिए जनमत तैयार करने तथा जन सहयोग प्राप्त करने के कार्य में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं।

13. विधायी उपाय—सरकार ने उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त, अनेक विधायी उपायों (Legislative measures) द्वारा भी स्त्री की प्रस्थिति में सुधार करने तथा उन्हें पुरुषों के समान अधिकार दिलवाने का प्रयास किया है।

स्त्री की प्रस्थिति में सुधार से सम्बन्धित कुछ विधायी उपाय निम्न प्रकार हैं—

(i) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955,

(ii) समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976,

(iii) कारखाना (संशोधन) अधिनियम, 1976,

(iv) बाल-विवाह अवरोधक (संशोधन) अधिनियम, 1978,

(v) अनैतिक व्यापार (निवारण) कानून, 1986,

(vi) दहेज निषेध (संशोधन) कानून, 1986, तथा

(vii) महिला का अभद्र चित्रण (निषेध) अधिनियम, 1986

स्त्री और बाल विकास विभाग में सूचना और जनशिक्षा कोष्ठ बनाया गया है। यह स्त्रियों की समस्याओं; जैसे शोषण, दहेज आदि पर विषय-वस्तु और प्रचार सामग्री तैयार करेगा जिसे संचार के माध्यमों के जरिए लोगों तक

पहुँचाया जाएगा। सरकारी नीति यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियों के उत्थान में काफी सीमा तक सहायक रही है तथापि इस दिशा में अभी काफी कुछ किया जाना शेष है।

10.7.2 बच्चों के लिए कल्याण कार्यक्रम

स्त्रियों की भाँति बाल कल्याण हेतु भी अनेक कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं। महिला एवं बाल विकास मन्त्रालय द्वारा बच्चों के लिए निम्नलिखित कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जा रही है—

1. समन्वित बाल विकास सेवा—यह सेवा निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति हेत 1975 से प्रारम्भ की गई है—

(i) छह वर्ष से कम आयु के बच्चों और गर्भवती तथा स्तनपान कराने वाली माताओं के पौष्टिक आहार तथा स्वास्थ्य स्तर में सुधार,

(ii) बच्चों के समुचित मनोवैज्ञानिक, शारीरिक एवं सामाजिक विकास की नींव डालना,

(iii) बाल मृत्यु दर, कुपोषण एवं स्कूली शिक्षा अधूरी छोड़ने वाले बच्चों की दर में कमी लाना,

(iv) बाल विकास को बढ़ावा देने हेतु विभिन्न विभागों के बीच नीति तथा कार्यन्वयन में कारगर तालमेल बनाए रखना, तथा

(v) स्वास्थ्य एवं पोषाहार शिक्षा की समुचित व्यवस्था करके माताओं तथा बच्चों की स्वास्थ्य व पोषाहार सम्बन्धी आवश्यकताओं की देखरेख की क्षमता बढ़ाना।

2. **कामकाजी माताओं के बच्चों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय बाल अनुरक्षण केन्द्र**—राष्ट्रीय बाल अनुरक्षण कोष एवं स्वैच्छिक संगठनों को कामकाजी और सम्बन्धित माताओं के बच्चों के लिए बाल अनुरक्षण गृह की सहायता देने वाली योजनाओं को मिलाकर 1 जनवरी, 2006 को कामकाजी माताओं के बच्चों के लिए राजीव गांधी राष्ट्रीय बाल अनुरक्षण केन्द्र की शुरुआत की गई है। यह योजना केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड तथा राष्ट्रीय स्तर के दो स्वैच्छिक संगठनों—भारतीय आदिम जाति सेवक संघ तथा भारतीय बाल कल्याण परिषद् के माध्यम से क्रियान्वित कराई जा रही है।

3. क्रच केन्द्रों के लिए अनुदान—चालू क्रच केन्द्रों के कामगारों के लिए आवर्ती एवं गैर-आवर्ती अनुदान प्रदान किया जा रहा है। साथ ही, प्रत्येक क्रच कामगार को लघु अवधि का प्रशिक्षण उपलब्ध कराया जाता है। क्रच केन्द्रों की निगरानी की व्यवस्था भी की गई है।

4. सड़कों पर रहने वाले बच्चों के लिए समेकित कार्यक्रम—इस कार्यक्रम का उद्देश्य बच्चों के अभावों को दूर करना तथा उन्हें सड़कों से हटाना है। उन्हें आश्रय, पौष्टिक आहार, स्वास्थ्य देखरेख, शिक्षा एवं मनोरंजन के साधन उपलब्ध कराए जाते हैं जिससे उन्हें शोषण से संरक्षण मिलता है।

5. चाइल्डलाइन सेवाएँ—मुसीबत में फँसे बच्चों की सहायता हेतु 24 घण्टे की नि:शुल्क फोन सेवा उपलब्ध कराई गई है। इस फोन का उपयोग मुसीबत में फँसा बच्चा या उसका कोई अभिभावक कर सकता है। इन सेवाओं का उद्देश्य आपात स्थिति में फँसे बच्चों को तुरन्त सहायता पहुँचाना तथा उन्हें उनकी आवश्यकतानुसार सेवा प्रदान करना है।

6. चाइल्डलाइन इण्डिया फाउण्डेशन—चाइल्डलाइन सेवा प्रचालन का समन्वय, निगरानी एवं विस्तार चाइल्डलाइन फाउण्डेशन करता है। भारत सरकार ने इसका गठन एक अम्ब्रेला संगठन के रूप में किया है जिसका उद्देश्य बच्चों को उत्तम गुणवत्ता की सेवा उपलब्ध कराना है।

7. किशोर न्याय (देखरेख एवं बाल संरक्षण) अधिनियम, 2000—किशोर न्याय (देखरेख एवं बाल संरक्षण) अधिनियम के अन्तर्गत किशोर न्याय बोर्डों का गठन किया गया है। राज्य सरकारों को बच्चों के संरक्षण और देखभाल की आवश्यकता हेतु जिले में एक या अधिक बाल कल्याण कमेटियों का गठन किया गया है। किशोर न्याय के लिए अनेक कार्यक्रम भी प्रारम्भ किए गए हैं ताकि समाज से सामंजस्य खो चुके किशोरों के पुनर्वास तथा उन्हें समाज से असमायोजन से रोकने के लिए पुख्ता सेवाएँ उपलब्ध कराई जा सकें।

8. समेकित बाल संरक्षण योजना—इस योजना के अन्तर्गत केन्द्र सरकार की सहायता से प्रत्येक राज्य के प्रत्येक जिले में बाल संरक्षण यूनिट की स्थापना की जाती है ताकि बाल कल्याण से जुड़ी अन्य योजनाओं के साथ समन्वय स्थापित किया जा सके। इस योजना के द्वारा मुश्किल में फँसे बच्चों को भी गैर-संस्थानिक समर्थन देने का प्रयास किया जाता है।

9. कामकाजी बच्चों की जरूरत के मुताबिक उनकी देखरेख व संरक्षण सम्बन्धी कल्याण कार्यक्रम— यह योजना जनवरी, 2005 में लागू की गई थी जिसका उद्देश्य उन कामकाजी बच्चों को, जिन्होंने किसी कारणवश शिक्षा छोड़ दी है या शिक्षा ग्रहण ही नहीं कर सके हैं, उन्हें अनौपचारिक शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण उपलब्ध कराना है ताकि वे पुन: शिक्षा प्रारम्भ कर सकें तथा उनका शोषण न हो।

10. कन्या भ्रूण हत्या और बाल विवाह को रोकना—कन्याओं के प्रति अपराध और हिंसा रोकने हेतु प्री-कन्सेप्शन एण्ड प्री-नेटल डाइग्नोस्टिक एक्ट, 1994 के प्रावधानों का अमल, निगरानी एवं प्रशासन को मजबूत करने का प्रयास किया गया है। बाल विवाहों को रोकने हेतु बाल विवाह निषेध अधिनियम, 1929 के स्थान पर बाल विवाह प्रतिबन्ध अधिनियम, 2006 बनाया गया है। इस कानून में दोषी को सजा का प्रावधान है। कानून के अन्तर्गत बाल विवाह को रोकने हेतु राज्यों में प्रतिबन्ध अधिकारियों की नियुक्ति करने का प्रावधान भी किया गया है।

11. धनलक्ष्मी—बीमा कवर सहित बालकों को नकद राशि—महिला तथा बाल विकास मन्त्रालय द्वारा इस योजना का शुभारम्भ 3 मार्च, 2008 को किया गया। इस योजना के अन्तर्गत बालिका के जन्म तथा उसके पंजीकरण, टीकाकरण, विद्यालय में प्रवेश पर उसकी माता को नकद राशि दी जाती है। 18 वर्ष की आयु में भी धनराशि देने का प्रावधान किया गया है। इसके अतिरिक्त इस योजना के अन्तर्गत 1 लाख रुपये का बीमा कवर भी उपलब्ध कराया जाता है।

12. राष्ट्रीय बाल कार्ययोजना—22 अगस्त, 1974 से चली आ रही इस योजना के अन्तर्गत बच्चों के पैदा होने से पहले, बाद में तथा बढ़ते हुए पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक विकास के लिए समुचित सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं।

13. राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग—2006 ई० में स्थापित राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग का कार्य बच्चों के अधिकारों का सही रूप से उपयोग कराना, कानूनों एवं कार्यक्रमों पर प्रभावी रूप से अमल कराना है। आयोग का काम बच्चों से जुड़े सभी मामलों की ईमानदारी से समीक्षा करना भी है।

10.8 शब्दावली

लैंगिक असमता — जब लिंग, जोकि एक जैविक तथ्य है, के साथ किसी प्रकार का भेदभाव जोड़ दिया जाता है तो यह एक सामाजिक तथ्य बन जाता है जिसे लैंगिक असमता कहते हैं।

तलाक (विवाह-विच्छेद) — पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों का कानूनी दृष्टि से विच्छेद किया जाना तलाक कहलाता है।

कुलीन विवाह — अपने से ऊँचे कुल, सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति या जाति के लड़के से विवाह करना कुलीन विवाह कहा जाता है।

अनुलोम विवाह – निम्न वर्ण की लड़की का उच्च वर्ण के लड़के से होने वाला विवाह अनुलोम विवाह कहा जाता है।

ध्हेज – दहेज वह धन, वस्तुएँ अथवा सम्पत्ति है जो एक स्त्री विवाह के समय पति के लिए लाती है।

10.9 अभ्यास प्रश्न

1. भारत में विभिन्न युगों में स्त्रियों की प्रस्थिति की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय स्त्रियों की समकालीन प्रस्थिति में हो रहे परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।
3. दहेज किसे कहते हैं? भारत में इसके कारण एवं परिणाम बताइए।
4. स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार की प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय समाज में स्त्रियों के साथ होने वाले भेदभाव की विवेचना कीजिए।
6. स्त्रियों एवं बच्चों की स्थिति में सुधार हेतु चलाए जा रहे कार्यक्रमों को स्पष्ट कीजिए।
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) स्त्रियों की स्थिति में सुधार हेतु सुझाव

(ब) दहेज की समस्या का समाधान

(स) दहेज निरोधक अधिनियम, 1961

(द) भारतीय समाज में स्त्रियों की वर्तमान प्रस्थिति।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Altekar, A. S., **Position of Women in Hindu Civilization**, Banaras : The Culture Publication House, 1938.
- Desai, Neera, **Women in Modern India**, Bombay : Vora and Company, 1957.
- Hate, C. A., **Changing Status of Women in Post-Independent India**, Bombay : Allied Publishers, 1969.
- Jain, Devaki (ed.), **Indian Women**, New Delhi : Publication Division, Government of India, 1975.
- Panikkar, K. M., **Hindu Society at Cross Roads**, Bombay : Asia Publishing House, 1967.
- Sen, Amartya, "Gender : Seven Types of Inequality'' in **Human Rights Vision**, Issue No. 22, December 08, 2001.
- Srinivas, M. N., **The Changing Position of Indian Women**, Delhi : Oxford University Press, 1978.

इकाई –11

पिछड़ी जातियाँ, जनजातियाँ एवं वर्ग
Backward Caste, Tribes & Class

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 पिछड़ी जातियाँ
11.3 अनुसूचित जनजातियाँ
11.4 अनुसूचित जातियाँ
11.5 अन्य पिछड़े वर्ग
11.6 पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों की वर्तमान स्थिति
11.7 शब्दावली
11.8 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

11.0 उद्देश्य

भारतीय समाज में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को कमजोर वर्ग माना जाता है। कई बार स्त्रियों को भी इस वर्ग में सम्मिलित किया जाता है। अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ, पिछड़े वर्ग एवं स्त्रियाँ सामाजिक–आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं तथा इनके सम्मुख अनेक समस्याएँ हैं। सरकार अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गों व स्त्रियों की समस्याओं के समाधान के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् निरन्तर प्रयत्नशील रही है। इनके उत्थान के लिए अनेक संवैधानिक व्यवस्थाएँ रखी गई हैं तथा अनेक प्रकार की समाज कल्याण योजनाएँ चलाई जा रही हैं। इस इकाई में पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों की समस्याएँ, उनकी वर्तमान स्थिति एवं सरकार द्वारा उनके उत्थान के लिए किए जा रहे कार्यों की समीक्षा की गई है।

11.1 प्रस्तावना

समाजशास्त्र में भारतीय समाज के प्रमुख मुद्दों एवं समस्याओं को समझने का प्रयास किया जाता है। इन मुद्दों एवं समस्याओं को मुख्य रूप से चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—संरचनात्मक, पारिवारिक, विकास सम्बन्धी तथा विघटनात्मक। भारतीय समाज की संरचनात्मक समस्याओं में जाति एवं लिंग पर आधारित असमता, निर्धनता

तथा धार्मिक, नृजातीय एवं क्षेत्रीय असंगति प्रमुख हैं। इसके साथ ही अनेक ऐसे संरचनात्मक मुद्दे भी हैं जो समकालीन भारतीय समाज में चर्चा का प्रमुख विषय बने हुए हैं। इन मुद्दों में भारतीय समाज के कमजोर एवं वंचित वर्ग तथा उनकी समस्याएँ प्रमुख हैं। इन समस्याओं की जड़ें तो भारतीय समाज की संरचना में हैं, परन्तु इनका समाधान किया जाना सामाजिक न्याय की दृष्टि से अनिवार्य है। ये सभी मुद्दे एवं समस्याएँ आज भारतीय समाज के सामने अनेक प्रकार की चुनौतियाँ दे रहे हैं। इसीलिए इन्हें समझना तथा इनके समाधान की ओर ध्यान देना सामाजिक वैज्ञानिकों का एक प्रमुख दायित्व बन गया है।

11.2 पिछड़ी जातियाँ

भारतीय समाज में अनेक सामाजिक समूह एवं श्रेणियाँ पाई जाती हैं जिनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर्याप्त भिन्न-भिन्न है। कुछ समूह सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठ स्वीकार किए जाते हैं तथा वे समाज में पर्याप्त प्रतिष्ठा-सम्पन्न हैं। इसी प्रकार, कुछ आर्थिक दृष्टि से उच्च हैं तथा अधिक साधन-सम्पन्न एवं समृद्ध हैं। इनसे भिन्न, भारतीय समाज में कुछ ऐसे समूह भी हैं जो या तो सामाजिक दृष्टि से निम्न हैं या आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त पिछड़े हुए हैं। इन समूहों के व्यक्ति एवं परिवार न तो सामाजिक प्रतिष्ठा से सम्पन्न हैं और न ही आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं। इनमें बहुत-से तो ऐसे हैं जो निर्धनता रेखा के नीचे अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। इन समूहों को भी हम समाज के 'दुर्बल वर्ग' कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं, ''सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत निम्न सामाजिक स्थिति वाले तथा आर्थिक दृष्टि से अति अल्प साधन-सम्पन्न वर्गों को समाज के 'दुर्बल वर्ग' कहा जा सकता है।'' सामाजिक दृष्टि से दुर्बल वर्गों को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा अन्य वर्ग उनसे एक निश्चित 'सामाजिक दूरी' बनाए रखते हैं। कभी-कभी दुर्भाग्यवश उन्हें सामाजिक तिरस्कार का भी सामना करना पड़ता है। भारतीय समाज में ऊँच-नीच, छुआछूत जैसी बुराइयों का मुख्य शिकार यही 'दुर्बल वर्ग' रहा है। समाज के ये 'दुर्बल वर्ग' जहाँ सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर पर रहे हैं, वहीं ये वर्ग शिक्षा के प्रसार से भी प्राय: वंचित ही रहे हैं। समाज के इन दुर्बल वर्गों को अनुसूचित जातियों (Scheduled Castes), अनुसूचित जनजातियों (Scheduled Tribes) तथा अन्य पिछड़े वर्गों (Other Backward Classes) के रूप में जाना जाता है।

पिछड़ी जातियों में अनुसूचित जातियों को तो सम्मिलित किया ही जाता है, साथ ही इन जातियों में आज दलितों को भी श्रेणीबद्ध किया जाता है। 'दलित' शब्द से अभिप्राय, जैसा कि इस शब्द से ही स्पष्ट होता है, वह व्यक्ति, जाति या वर्ग है जिसका समाज में अत्यन्त निम्न स्थान है, जो उत्पीड़न का शिकार है तथा जिसका जीवन अभाव, दु:ख एवं अपमान का जीवन है। जब हम दलित शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा अभिप्राय दुर्बल वर्गों के उन लोगों से है जिनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त निम्न है अर्थात् दुर्बल वर्गों में अत्यन्त निम्न वर्ग 'दलित वर्ग' कहलाता है। इस प्रकार, भारत के विकास क्रम में 'दलित' शब्द का प्रयोग प्राय: अनुसूचित जाति, जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में किया जाता है जो गरीबी रेखा के नीचे अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। गरीबी रेखा का निर्धारण योजना आयोग ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्रों में गरीबी के आय प्रमाण-पत्रों के आधार पर करता है। योजना आयोग की दृष्टि में गरीब वे व्यक्ति कहे जाते हैं, जिनका उपभोग परिव्यय अपर्याप्त है, जिनकी क्रय शक्ति कम है तथा जिन्हें भोजन में न्यूनतम निर्धारित कैलोरी की मात्रा भी प्राप्त नहीं होती है। भारत में सदियों से पिछड़ी जातियाँ सवर्ण हिन्दुओं, मुसलमानों तथा अंग्रेज शासकों की राजनीतिक एवं धार्मिक शोषण

की चक्की में पिसती रही हैं। उसकी मान-मर्यादा एवं जान-माल सभी कुछ अत्याचारियों की लोलुप दृष्टि का शिकार होती रही हैं। धार्मिक प्रहारों को सहन करते-करते पिछड़ी जातियाँ जर्जर हो चुकी हैं तथा इसी के परिणामस्वरूप उसमें सामाजिक अव्यवस्था, कुप्रथाएँ, आडम्बर और अन्धविश्वास फैल चुका है। आज दलित शिक्षा प्रतिबन्धित होने के कारण पिछड़ी जातियाँ अज्ञान में सही मार्गदर्शन पाने के लिए इधर-उधर भटक रही हैं। पिछड़ी जातियों की नारियों की स्थिति तो और भी बदतर है। वे सबसे अधिक शोषित, उत्पीड़ित, अशिक्षित एवं अन्धविश्वासी हैं।

11.2.1 पिछड़ी जातियों के उत्थान हेतु सुझाव

यद्यपि केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, रेडक्रास आदि ने इनके उद्धार के लिए भरसक प्रयत्न किए हैं, तथापि यह दूषित प्रथा आज भी कुछ सीमा तक प्रचलित है। इसके ज्वलन्त उदाहरण आज भी दैनिक समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिलते हैं। अत: अभी भी इनका सामाजिक उत्थान ठीक तरह से नहीं हो पाया है। इसका मुख्य कारण इन लोगों की आर्थिक हीनता है। धनाभाव के कारण ये लोग शिक्षा भी ग्रहण नहीं कर पाते हैं। वास्तविक रूप में यदि अस्पृश्यता को दूर करना है तो केवल सरकारी प्रयास ही काफी नहीं हैं, अपितु इसके निवारण के लिए जनमत तैयार करना भी अनिवार्य है। पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिए कुछ प्रभावशाली सुझाव निम्न प्रकार हैं—

1. पिछड़ी जातियों की आर्थिक दशा में सुधार किया जाना चाहिए ताकि इनका जीवन ऊँचा उठ सके तथा इनकी बहुत-सी निर्योग्यताएँ दूर हो सकें।
2. अस्पृश्यता-निवारण के लिए चलचित्रों, नाटकों, गीतों आदि द्वारा जनमत तैयार किया जाना चाहिए ताकि साधारण जनता अस्पृश्यता के दूषित परिणामों को जान सके। शिक्षा द्वारा भी इसकी समाप्ति के पक्ष में जनमत तैयार किया जाना चाहिए।
3. पिछड़ी जातियों के लोगों की बस्तियाँ साधारण बस्तियों में ही होनी चाहिए जिससे भेदभाव की प्रवृत्ति में कुछ कमी हो सके।
4. पिछड़ी जातियाँ एवं अनुसूचित जातियों के लिए पृथक् विद्यालय नहीं खोले जाने चाहिए।
5. सभी जातियों के बच्चों को एक साथ रहने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए जिससे वे भविष्य में भी एक साथ रह सकें।
6. जो घृणा वाले पेशे हैं उनमें कुछ सुधार होना जरूरी है।
7. अस्पृश्यता जाति व्यवस्था का ही अभिशाप है। अत: जाति व्यवस्था को यदि समाप्त कर दिया जाए तो अस्पृश्यता भी अपने आप समाप्त हो जाएगी। प्रचार तथा शिक्षा द्वारा जाति व्यवस्था को समाप्त करने के प्रयास किए जाने चाहिए।
8. अस्पृश्यों की दशा सुधारने के लिए ग्रामों में प्रौढ़ शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।
9. पिछड़ी जातियों के लोगों का शोषण समाप्त होना चाहिए तथा इनके कार्य के बदले उचित वेतन देने सम्बन्धी नियम बनाए जाने चाहिए।

10. स्वस्थ मनोरंजन के द्वारा पिछड़ी जातियों के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए।
11. सरकार द्वारा पिछड़ी जातियों के लोगों को आवश्यक सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए।
12. केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को अन्तर-जातीय विवाहों को प्रोत्साहन देना चाहिए।
13. धार्मिक तथा राजनीतिक अवसरों पर भी सभी जातियों के सदस्यों को सम्मिलित होने का समान अवसर मिलना चाहिए।
14. पिछड़ी जातियों की समस्याओं के समाधान हेतु २१ सूत्रीय दलित एजेण्डे (भोपाल घोषणा-पत्र) को लागू किया जाना चाहिए।

11.3 अनुसूचित जनजातियाँ

राज्यों का संघ भारत एक सम्पूर्ण प्रभुतासम्पन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं प्रजातन्त्रीय गणराज्य है जिसमें संसदीय प्रणाली की सरकार है। भारतीय गणराज्य उस संविधान की व्यवस्थाओं के अनुसार प्रशासित होता है जो 26 नवम्बर, 1949 ई० को संविधान सभा द्वारा स्वीकृत किया गया और 26 जनवरी, 1950 ई० को लागू हुआ। इसमें समानता तथा विचारों की अभिव्यक्ति को ही मौलिक अधिकारों में सम्मिलित नहीं किया गया है अपितु शोषण से रक्षा का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार तथा अल्पसंख्यकों का अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि के संरक्षण का अधिकार भी मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किया गया है।

जनजातियों को अपनी संस्कृति बनाए रखने तथा अपनी सामाजिक-आर्थिक स्थिति ऊँची करने के लिए संविधान में अनेक धाराएँ सम्मिलित की गई हैं। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि इन्हें संवैधानिक संरक्षण प्रदान किया गया है ताकि वे अपना सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक स्तर ऊँचा कर सकें तथा अपनी संस्कृति को बनाए रखकर भारत की मुख्य विचारधारा में सम्मिलित होकर भारतीय समाज के विकास में अपना योगदान दे सकें।

संविधान के अनुच्छेद 341 तथा 342 के उपबन्धों के अन्तर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए 15 आदेशों द्वारा अनुसूचित जनजातियों और अनुसूचित जातियों का अलग-अलग उल्लेख किया गया है। 1991 ई० की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित जातियों का अनुपात क्रमश: 8·08 तथा 16·48 था। इनका कुल जनसंख्या में अनुपात 24·56 था।

2001 ई० की जनगणना के अनुसार देश की कुल जनसंख्या ने अनुसूचित जनजातियों तथा अनुसूचित जातियों का अनुपात क्रमश: 8·20 तथा 16·20 है। इसके अतिरिक्त, कुछ राज्य सरकारों ने भी अन्य पिछड़े वर्गों के नाम पर खानाबदोश तथा अर्द्ध-खानाबदोश जनजातियों एवं समुदायों का उल्लेख किया है। पंचवर्षीय योजनाओं में इन जनजातियों एवं जातियों के उत्थान को राष्ट्रीय नीति का एक मुख्य लक्ष्य माना गया है।

11.4 अनुसूचित जनजाति का अर्थ

प्रत्येक जनजाति अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में नहीं आती है। वैसे तो भारत सरकार के अधिनियम 1935 ई० में भी 'पिछड़ी जनजातियों' का सन्दर्भ मिलता है, किन्तु 26 जनवरी, 1950 ई० को भारतीय संविधान के लागू होने के पश्चात् ही जनजातियों एवं जनजातीय समुदायों को 'अनुसूचित जनजातियों' की विशिष्ट संज्ञा देने की

आवश्यकता महसूस की गई। भारत सरकार के आदेश के अन्तर्गत तेरहवीं अनुसूची के अन्तर्गत असम, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त, मद्रास तथा बम्बई की कुछ जनजातियों को 'पिछड़ी जनजातियों' की श्रेणी में रखा गया था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1950 ई० में जनजातीय समुदायों की पहचान कर 212 ऐसी जनजातियों की सूची तैयार की गई जिन्हें 'अनुसूचित जनजाति आदेश 1950 ई०' के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया तथा इन्हें 'अनुसूचित जनजाति' माना गया। इस सूची में सभी जनजातीय समुदायों को अनेक कारणों से सम्मिलित नहीं किया गया यद्यपि वे सभी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे। परिणामस्वरूप इस आदेश का काफी विरोध हुआ। इसे ध्यान में रखते हुए 'पिछड़ी जाति आयोग' का गठन किया गया जिसके अनुमोदन से पूर्व में बनाई गई सूची को संशोधित किया गया। इसके साथ ही 'राज्य पुनर्गठन अधिनियम' लागू किया गया जिसके अन्तर्गत राज्य की सूचियों में भी परिवर्तन किया गया।

वस्तुतः भारत के संविधान के अनुच्छेद 342 के अनुसार, राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सार्वजनिक सूचना के द्वारा समय-समय पर जनजातियों अथवा जनजातीय समुदायों को सूचीबद्ध कर उन्हें अनुसूचित जनजातियों की श्रेणी में रखे। इस प्रकार, अनुसूचित जनजाति से अभिप्राय संविधान के प्रावधानों के अनुकूल सूचीबद्ध की गई जनजाति से है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के खण्ड 1 में कहा गया है कि ''अनुसूचित जनजातियाँ वे जनजातियाँ अथवा जनजातीय समुदाय या उनका कोई हिस्सा या इन जनजातियों का कोई समूह है जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा सार्वजनिक सूचना द्वारा अनुच्छेद 342 (i) के अन्तर्गत रखा गया है।'' भारत सरकार द्वारा तथा प्रदेश सरकारों द्वारा समय-समय पर विभिन्न जनजातियों को अनुसूचित श्रेणी के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इस सूची में अधिकांश जनजातियों को सम्मिलित किया गया है तथा उनके उत्थान हेतु संवैधानिक प्रावधान किए गए हैं।

अनुसूचित जनजातियों, अनुसूचित जातियों और अन्य कमजोर वर्गों का शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने और उनकी सामाजिक असमर्थताओं को दूर करने के उद्देश्य से उन्हें संवैधानिक सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान किया गया है।

मुख्य संरक्षण निम्न प्रकार हैं—

1. अस्पृश्यता का पूर्णतः उन्मूलन तथा इसके किसी भी रूप में प्रचलन का निषेध (अनुच्छेद 17),
2. इन जनजातियों और जातियों के शैक्षिक और आर्थिक हितों की रक्षा और उनका सभी प्रकार के शोषण तथा सामाजिक अन्याय से बचाव (अनुच्छेद 46),
3. हिन्दुओं के सार्वजनिक एवं धार्मिक संस्थानों के द्वार समस्त हिन्दुओं के लिए खोलना (अनुच्छेद 25 ख),
4. दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन स्थलों में प्रवेश अथवा पूर्ण या आंशिक रूप से राज्य निधि से पोषित अथवा साधारण जनता के उपयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपयोग के बारे में किसी भी प्रकार की अयोग्यता, दायित्व, प्रतिबन्ध अथवा शर्तों को हटाना [अनुच्छेद 19(2)],
5. किसी भी अनुसूचित जनजाति के हित में सभी नागरिकों को स्वतन्त्रतापूर्वक आने- जाने, बसने और सम्पत्ति अर्जित करने के सामान्य अधिकारों में कानून द्वारा कटौती करने की व्यवस्था [अनुच्छेद 19(5)],

6. राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि द्वारा सहायता प्राप्त किसी भी शिक्षण संस्था में प्रवेश पर किसी भी तरह के प्रतिबन्ध का निषेध [अनुच्छेद 29(2)],
7. राज्यों को पिछड़े वर्गों के लिए उन सरकारी सेवाओं में, जहाँ उनका प्रतिनिधित्व अपर्याप्त है, आरक्षण सुनिश्चित करने का अधिकार देना तथा राज्यों के लिए यह अपेक्षित करना कि वह सरकारी सेवाओं में नियुक्तियाँ करने के मामलों में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के दावों को ध्यान में रखें (अनुच्छेद 26 तथा 335),
8. अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को लोकसभा तथा राज्य विधानसभाओं में विशेष प्रतिनिधित्व देना (अनुच्छेद 330, 332, तथा 334),
9. अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के कल्याण तथा हितों की रक्षा के लिए राज्यों में जनजाति सलाहकार परिषदों तथा पृथक् विभागों की स्थापना करना और केन्द्र में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति करना (अनुच्छेद 164 तथा 338 और पंचम अनुसूची),
10. अनुसूचित जाति और जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन और नियन्त्रण के लिए विशेष उपबन्ध (अनुच्छेद 244 और पंचम तथा षष्ठम अनुसूची) तथा
11. मानव का देह व्यापार तथा जबरदस्ती मजदूरी कराने का निषेध।

उन्हीं जनजातियों को अनुसूचित जनजाति के रूप में सूचीबद्ध किया जाता है जो अपेक्षाकृत अधिक पिछड़ी हुई हैं। अनुसूचित जनजातियों के अधिकतम दुर्गम स्थानों में रहने तथा विकास की मुख्य धारा से अलग हो जाने के कारण उनके कल्याण तथा विकास पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता ने ही इन्हें इस श्रेणी में रखा है। जून 1965 ई० में एक सलाहकार समिति का भी गठन किया गया जिसका उत्तरदायित्व सरकार को अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति की सूची में परिवर्तन तथा संशोधन सम्बन्धी सलाह देना है।

1950 ई० में 212 जनजातियों को ही अनुसूचित जनजाति के अन्तर्गत सूचीबद्ध किया गया था। अब यह संख्या बढ़कर लगभग 550 हो गई है। इस वृद्धि के दो प्रमुख कारण रहे हैं—प्रथम, अनेक नई जनजातियों को अनुसूचित जनजाति के रूप में मान्यता प्राप्त होना तथा द्वितीय, जनजातियों के भेदों को जनजातीय दर्जा मिलना। अनुसूचित जनजातियों की संख्या अधिसूचनाओं के अनुसार घटती-बढ़ती रही है।

अगरिया, अंध, बिरहुल, बिरहोर, बियर, बिमार, भुंजिया, भैना, भूनिया, भिंझतार, भील मीना, मरिया, भूमिया, पट्‌रा, बैगा, भिलाला, भील व भिलाला, पटेलिया तथा बरेला, भील, धनवार, दामोर, गोंड या दरोई, गोंड तथा पठारी, गोंड, गडाबा गडवा, गरमिसा गहावार, हलवा या बलबी, कोल (दहैत), कोल, कोरकू, कमार, कवार, कोरवा, कोलम, कोर, करकू, खै, ससर, खरिया, कोंड या खोण्ड, मुण्डा, मीना, मोगिया, मवासी माझी, महावार, निहाल, नर, नगसिया, ओरों, परधान, पर्धी, पर्जा, पतिका, पाओ, पनिका, सहारिया, सेहारिया, सौर, सवर, सोनर, सओंता आदि मध्य प्रदेश की प्रमुख अनुसूचित जनजातियाँ हैं।

11.4.1 अनुसूचित जनजातियों की विशेषताएँ

अनुसूचित जनजातियों की विशेषताओं को जनजातियों की सामान्य विशेषताओं से पृथक् करना एक कठिन कार्य है। फिर भी, अनुसूचित जनजातियों में पाई जाने वाली प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

1. अनुसूचित जनजातियाँ आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछड़ी हुई हैं। उनकी अर्थव्यवस्था अत्यन्त सरल तथा अविकसित होती है।
2. अनुसूचित जनजातियों की आधे से अधिक (55 प्रतिशत) जनसंख्या पूर्वी तथा मध्य जनजातीय क्षेत्रों (पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा तथा आन्ध्र प्रदेश का कुछ भाग) तथा एक-चौथाई से थोड़ा अधिक (28 प्रतिशत) भाग पश्चिमी जनजातीय क्षेत्र (गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, गोवा, दादरा व नगर हवेली, दमन तथा दीव) में निवास करता है।
3. अनुसूचित जनजातियाँ शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। 2001 ई० की जनगणना के अनुसार अनुसूचित जनजातियों की अखिल भारतीय साक्षरता दर 47·1 प्रतिशत है, जबकि साक्षरता का राष्ट्रीय औसत 64·8 प्रतिशत है। जनजातीय महिलाओं तथा सामान्य महिलाओं में साक्षरता के प्रतिशत में और अधिक अन्तर है। जनजातीय महिलाओं की साक्षरता का औसत केवल 34·8 प्रतिशत है, जबकि देश की सामान्य महिलाओं का साक्षरता का औसत 53·7 प्रतिशत है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए इनके शैक्षिक उत्थान हेतु अनेक योजनाएँ प्रारम्भ की गई हैं।
4. अनुसूचित जनजातियों हेतु पंचायतों तथा स्थानीय निकायों से लेकर राज्य विधानसभाओं तथा लोकसभा तक आरक्षित स्थानों की व्यवस्था की गई है ताकि नीति निर्माण में इनकी समुचित सहभागिता सुनिश्चित हो सके।
5. अनुसूचित जनजातियों को केन्द्र तथा राज्य सरकारों की सेवाओं में आरक्षण सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। इन्हें नौकरियों में आयु सीमा में छूट, उपयुक्तता के मापदण्डों में छूट तथा अनुभव सम्बन्धी योग्यताओं में छूट प्रदान की गई है ताकि नौकरियों में इनका समुचित प्रतिनिधित्व हो सके।
6. अनुसूचित जनजातियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी पिछड़ी हुई हैं। इसका प्रमुख कारण इन्हें आधुनिक चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध न हो पाना है।
7. अनुसूचित जनजातियों के कल्याण एवं विकास हेतु राज्यों में कल्याण विभागों की स्थापना की गई है, जोकि जनजातीय कल्याण कार्यों की देख-रेख करते हैं। इनके विकास हेतु इनके बीच कार्य कर रहे गैर-सरकारी स्वैच्छिक संगठनों को भी अनुदान प्रदान किए जाते हैं। अनुसूचित जनजाति की महिलाओं और बच्चों के हित सुरक्षित करने के लिए केन्द्रीय कल्याण राज्यमन्त्री की अध्यक्षता में सलाहकार बोर्ड की स्थापना की गई है।
8. पंचवर्षीय योजनाओं में अनुसूचित जनजातियों के विकास हेतु विशेष प्रावधान किए जाते हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में आदिवासियों के विकास तथा कल्याण से सम्बन्धित अनेक कार्यक्रमों तथा योजनाओं को स्थान दिया गया है। आदिवासी उपयोजना कार्यक्रम का लक्ष्य है—गरीबी को दूर करना। बीस सूत्री कार्यक्रमों में सर्वोच्च स्थान 'गरीबी के विरुद्ध संघर्ष' को दिया गया था। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में पूरे देश में अधिकाधिक आदिवासियों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने का लक्ष्य निर्धारित किया जाता है।
9. आर्थिक शोषण अनुसूचित जनजातियों की एक प्रमुख समस्या है। इस समस्या के समाधान हेतु भारतीय जनजातीय विपणन विकास संघ की स्थापना की गई है ताकि इनका आर्थिक शोषण कम हो सके। वन से

प्राप्त सामग्रियों के विपणन के सम्बन्ध में सहकारी समितियों की स्थापना की गई है। मध्य प्रदेश में अब नई तेंदू पत्तों की नीति से ठेकेदारों के आदमी आदिवासियों का शोषण नहीं कर पाएँगे, क्योंकि तेंदू पत्ता एकत्र कराने का कार्य सहकारिता के अन्तर्गत आ गया है। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की दृष्टि से सरकार के द्वारा समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम आदि को आदिवासी क्षेत्रों में लागू किया गया है।

10. संविधान की पाँचवीं अनुसूची में अनुसूचित क्षेत्र वाले तथा राष्ट्रपति के निर्देश पर अनुसूचित आदिम जातियों वाले राज्यों में आदिम जाति के लिए सलाहकार परिषदों की स्थापना की व्यवस्था है। आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा राजस्थान में ऐसी परिषदों की स्थापना की जा चुकी है। ये परिषदें आदिवासियों के कल्याण सम्बन्धी विषयों पर राज्यपालों को परामर्श देती हैं।

11. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के अध्ययन एवं उनके समाधान के कारगर उपायों की खोज करने के उद्देश्य से आदिवासी शोध संस्थान एवं प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई है। भारत में छठी पंचवर्षीय योजना के पूर्व भुवनेश्वर (1953 ई०), कोलकाता (1955 ई०), पटना (1959 ई०), पुणे, अहमदाबाद, शिलांग (1962 ई०), हैदराबाद (1963 ई०), उदयपुर (1968 ई०), कालीकट, लखनऊ (1971 ई०) तथा गुवाहाटी (1977 ई०) में ऐसे अनेक शोध केन्द्रों की स्थापना की गई है। इन विभिन्न शोध केन्द्रों ने आदिवासियों की समस्याओं के सन्दर्भ में 168 विविध सर्वेक्षणात्मक एवं शोधपूर्ण अध्ययन किए हैं।

12. केन्द्र तथा राज्य सरकारों के द्वारा अनुसूचित जनजातियों के लिए बनाए गए संवैधानिक तथा कानूनी सुरक्षा उपायों को लागू करने पर विशेष ध्यान दिया जाता है तथा इसके प्रभावशाली क्रियान्वयन पर भी अधिक जोर दिया जा रहा है।

11.4.2 अनुसूचित जनजातियों की समस्याएँ

अनुसूचित जातियों की तरह अनुसूचित जनजातियाँ भी विविध प्रकार की समस्याओं का शिकार हैं। इनकी कुछ समस्याएँ तो अनुसूचित जातियों से मिलती-जुलती हैं, जबकि कुछ इनकी अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं। इनकी प्रमुख समस्याएँ निम्नांकित हैं—

1. भूमि अलगाव—जनजातियों की प्रमुख समस्या भूमि के स्वामित्व से विलग होना है। भूमि से अलगाव अंग्रेजों के शासनकाल में ही प्रारम्भ हो गया था जब जनजातीय क्षेत्रों में भी जमींदारी प्रथा तथा भारतीय रजवाड़ों की व्यवस्था को लागू किया गया था। तब पहली बार जनजातियों को महसूस हुआ था कि ये जंगल और भूमि उनके नहीं हैं, वे तो एक कृषक के रूप में उसमें खेती कर रहे हैं जिसके एवज में उन्हें लगान देना है। शान्ति और व्यवस्था की स्थापना होने से आस-पास के गाँव के लोग, जहाँ भूमि पर दबाव बढ़ रहा था, भी जनजाति आँचलों की ओर प्रवास करने लगे थे। शुरू-शुरू में तो कुछ ऐसे लोग पहुँचे; जैसे—कृषक, व्यापारी या कारीगर; जो वहाँ जनजाति में स्थायी रूप से बसने के लिए पहुँचे थे। प्रारम्भ में उनका स्वागत ही हुआ परन्तु धीरे-धीरे व्यापारियों को उन भोले-भाले आदिवासियों के आर्थिक शोषण का स्वर्णिम मौका जान पड़ा। वे साहूकार बन गए तथा भूमि

के जटिल कानूनों व बहीखातों के रख-रखाव से अनभिज्ञ जनजाति के लोगों को लूटने का सिलसिला चल पड़ा और अपनी जमीनों से ही वे बेदखल होने लगे। कहीं-कहीं उन्हें औद्योगीकरण का भी सामना करना पड़ा। यह सच है कि मिलों की स्थापना के लिए ली जाने वाली भूमि की उन्हें क्षतिपूर्ति की रकम दी गई परन्तु एक तो वह रकम मनमाने ढंग से निर्धारित की गई और दूसरे, उनकी पुनर्स्थापना की कोई कारगर योजना लागू नहीं की गई। नकद रुपये के लाभकारी उपयोग से आदिवासी परिचित नहीं हैं; अत: वह रुपया अनुत्पादक चीजों पर शीघ्र ही खर्च हो जाता है और आदिवासी परिवार विकट परिस्थिति में पड़ जाते हैं।

इसलिए सबसे प्राथमिक समस्या इस भूमि अलगाव को रोकने की है। इसके साथ ही, जनजाति परिवारों को उनकी भूमि पुन: वापस दिलाने का प्रोग्राम भी बनाया जाना चाहिए। भूमिहीन मजदूरों की दशा में परिणत हुए आदिवासियों की पुनर्स्थापना के लिए उन्हें आवश्यक भूमि दी जाए और कृषि की शुरुआत के लिए कुछ आर्थिक सहायता भी दी जानी चाहिए। इस दिशा में सहकारी समितियों का निर्माण करके भी सहकारी खेती का प्रयोग किया जाना चाहिए।

2. झूम खेती की समस्या—कुछ क्षेत्रों में जनजातियाँ आज भी स्थानान्तरण पर आधारित खेती करती हैं जिसे 'झूम खेती' या 'दह्या खेती' भी कहा जाता है। ऐसी खेती प्राय: वे जनजातियाँ ही कर रही हैं जो अभी बाहरी सम्पर्कों से सापेक्षिक रूप से दूर हैं। इस प्रकार की खेती में जंगल को काट दिया जाता है और गिरे हुए पेड़ों में आग लगा दी जाती है। जब अग्नि शान्त हो जाती है, राख ठण्डी हो जाती है तो उसमें बीज बोया जाता है। इस भाँति, वहाँ दो-तीन फसल उगाने के बाद ही जनजाति आगे बढ़ती है और फिर यही प्रक्रिया वहाँ दोहराई जाती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की खेती से ऐसी जनजातियों ने स्वयं अपने लिए आर्थिक समस्याएँ खड़ी कर ली हैं। इस प्रकार की खेती न केवल अनार्थिक है, बल्कि भूमि की उर्वरता को समाप्त करती है और वनों के अभाव से भूमि कटाव भी बढ़ जाता है। इन सबका अन्तिम परिणाम भुखमरी के रूप में सामने आता है। साफ जाहिर है कि इस प्रकार की खेती को बदलना होगा। इसके लिए सम्बन्धित जनजाति को स्थायी खेती के लिए आवश्यक ज्ञान और प्रेरणा प्रदान करनी होगी। साथ ही, उन्हें आवश्यक संसाधनों के लिए भी सहायता देनी होगी।

3. विभिन्न तरीकों से आर्थिक शोषण—जनजाति के लोग बाह्य व्यक्तियों; जैसे जमींदारों, व्यापारियों एवं साहूकारों के द्वारा आर्थिक रूप से अनेक प्रकार से शोषित होते रहे हैं। ऐसा लगता है कि मानो ये नए आर्थिक बल उन्हें अपना दास समझते हैं। व्यापारी उनके जंगलों की बहुमूल्य उपज मिट्टी के भाव खरीद लेते हैं और उन्हें आधुनिक तड़क-भड़क वाली चीजें; जैसे खुशबूदार साबुन या लिपस्टिक भी ऊँचे दामों पर बेचते हैं। आर्थिक शोषण का एक और तरीका भी रहा है। खाद्यान्न की समस्या से पीड़ित इन कमजोर आदिवासियों को प्रलोभन देकर चाय के बागानों में और खानों में काम करने के लिए बड़ी संख्या में अपने क्षेत्र से बाहर भी ले जाया गया है। वहाँ मजदूरों के रूप में इनकी दशा दयनीय हो गई है। न तो ये एक समय सारणी में बँधे औपचारिक रूप से काम करने के आदी थे और न मजदूरी के तौर-तरीकों से परिचित थे। आधुनिक अर्थों में उनके कोई श्रम संघ भी नहीं थे। इसलिए इन नए कार्य-स्थलों पर उनसे जानवर की तरह कार्य लिया गया है और उनके स्वास्थ्य या विकास की पूर्णतया उपेक्षा की गई है। कानून भी प्राय: आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्गों का ही साथ देता है।

इस समस्या को हल करने के लिए यह आवश्यक है कि जनजातियों को न्यूनतम वेतन दिलवाया जाए और फैक्ट्री अधिनियमों व श्रम कल्याण सम्बन्धी कानूनों का कठोरता से पालन करवाया जाए। साथ ही, उनमें श्रम-संघों के विकास की प्रेरणा दी जाए और उन्हीं में से नेतृत्व के विकास को प्रोत्साहित किया जाए।

इसके अतिरिक्त, इस आर्थिक शोषण को दूर करने का एक उपाय यह भी हो सकता है कि जनजातीय क्षेत्रों में गृह एवं लघु उद्योगों की स्थापना का जोरदार अभियान चलाया जाए। इसके लिए आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करनी होगी तथा खनिज पदार्थ एवं यन्त्रों के लिए सहकारी साख समितियों का निर्माण होना चाहिए। विपणन के लिए सहकारी विपणन समितियों का भी गठन किया जाना चाहिए। ये गृह उद्योग अगर जनजातीय कला-कौशल पर ही आधारित हों तो और भी अच्छा है।

4. ऋणग्रस्तता—आदिवासियों में ऋणग्रस्तता भी एक प्रमुख समस्या बन गई है। साहूकार और व्यवसायी उन्हें सरलता से कर्ज दे देते हैं। कर्ज में लिया हुआ धन अन्ततोगत्वा उनके लिए कभी न भर सकने वाला गड्ढा बन जाता है। उनकी कई पीढ़ियाँ निरन्तर मजदूरी करके भी इस ऋण से मुक्ति नहीं पा पातीं। इसके एवज में पूरे जनजाति परिवार को साहूकार के खेतों और घरों में काम करना पड़ता है और उनका अनेक प्रकार से शोषण होता है।

ऋणग्रस्तता से मुक्ति जनजाति-विकास या कल्याण की पहली शर्त है, और ऐसा तभी हो सकता है जब सहकारी साख-समितियाँ बनाई जाएँ और सरकार इन ऋणों के निपटारे के लिए कोई ठोस प्रोग्राम बनाए। यदि मूल कर्ज से ज्यादा धन ब्याज में दे दिया गया हो तो कर्जे को समाप्त घोषित कर देना चाहिए और आदिवासियों को काम के लिए कानून के अनुसार उचित मजदूरी दिलाई जानी चाहिए।

5. बन्धुआ मजदूरी–उपर्युक्त वर्णन उन परिस्थितियों की ओर भी इशारा कर देता है जिनमें किसी आदिवासी को बन्धक मजदूर के रूप में काम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जमींदारी प्रथा, ऋणग्रस्तता, आदिवासियों की अज्ञानता आदि उन्हें बन्धक मजदूरी में बाँध देती है। बन्धक केवल मजदूर ही नहीं होता, बल्कि उसका पूरा परिवार ही मानो बन्धक हो गया होता है।

बन्धक मजदूरी भारत के वर्तमान कानूनों की दृष्टि से गैर-कानूनी है। इसलिए इस समस्या का हल कानूनों को ईमानदारी से लागू करना है। परन्तु साथ ही मुक्त मजदूरों के पुनर्वास के लिए वैकल्पिक रोजगार की व्यवस्था भी करनी होगी।

6. वनों के नए कानून और जनजातीय जीवन—सबसे पहले वनों पर जनजाति समाज का स्पष्ट और प्रभावी अधिकार था। डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा ने वनों के सम्बन्ध में परिवर्तन प्रक्रिया का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, ''समय के साथ राज्य ने अपना कोई अधिकार जताए बिना वनों का आर्थिक दोहन प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे पैर जमाने पर राज्य ने कानूनी आधिपत्य प्रतिष्ठित किया, उनके आर्थिक दोहन को दीर्घकालीन आयाम दिया और उनको सघन भी किया। परन्तु उसके साथ ही आदिवासियों के द्वारा वन संसाधनों के उपयोग के अधिकार को भी स्वीकार किया। कालान्तर में अधिकारों को रियायतों का रूप दिया गया और अन्तिम चरण में संसाधनों में राज्य के स्वामित्व को औपचारिक रूप देकर नैगम स्वामित्व का आवरण दे दिया गया। अब उनका दोहन आय-व्यय, निवेश-उत्पादन इत्यादि के आधार पर ही सम्भव है जिसमें आदिवासी अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं का जिक्र और समावेश अनर्गल और क्षोभकारक ही बन जाता है।'' स्पष्टत: इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आदिवासी अर्थव्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई है। उनके जीवन-यापन के साधन छिन गए हैं और जीवन अस्तित्व की विकट समस्या उपस्थित हो गई है।

इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब वन विभाग आदिवासी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सामाजिक वानिकी के कार्यक्रम बनाए। वनों के संरक्षण और वनों के उत्पादन में आदिवासियों को रोजगार दिया जाना चाहिए। साथ ही, वन उपज पर आधारित लघु उद्योग लगाने के लिए आदिवासियों को आवश्यक प्रशिक्षण और प्रेरणा भी दी जानी चाहिए।

7. सामाजिक-सांस्कृतिक सामंजस्य सम्बन्धी समस्याएँ—मजूमदार एवं मदन ने जनजातियों के उन समस्याओं का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है जो बाह्य संस्कृति के साथ सम्पर्कों के कारण उत्पन्न हो रही हैं। वास्तव में, ये सामाजिक-सांस्कृतिक सामंजस्य की समस्याएँ हैं जो आदिवासियों के बाह्य बलों के साथ या उनके सम्पर्कों के परिणामस्वरूप पैदा होती हैं। उनमें प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) नए सामाजिक संस्तरण का उदय—बाह्य समूह एक उन्नत और शक्तिशाली रूप में जनजातियों के सम्मुख आए हैं। इसलिए न केवल उनके मस्तिष्क में वरन् जनजाति के लोगों के मस्तिष्क में भी एक स्पष्ट श्रेष्ठता या निम्नता का संस्तरण बन गया है। इन बाह्य शक्तियों के मन में इन जंगली लोगों को सभ्य बनाने की तीव्र अभिलाषा भी है, चाहे वह बाह्य शक्तियाँ हिन्दू हैं या गैर-हिन्दू अथवा विशेषत: ईसाई। ईसाइयों ने उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित किया है, पर हिन्दुओं को श्रेष्ठ समझकर जनजाति खुद हिन्दू जाति संरचना में प्रवेश पाने के लिए प्रयत्नशील रही है। लेकिन, प्राय: इस प्रयास में सफल होने पर भी जनजातियों को या उनके अधिकांश भाग को हिन्दू संरचना में निम्न श्रेणी ही मिली है। कहीं-कहीं तो वे अस्पृश्यता सम्बन्धी विचारों व तौर-तरीकों के शिकार हुए हैं जिन्हें समझ पाने में या जिनका सामना करने में वे असफल रहे हैं। इतना ही नहीं, वरन् खुद जनजाति समाज में भी संस्तरण की दीवार खड़ी हो गई है। उनका पहले से प्रभुताशाली वर्ग या जो सामंजस्य करने में पहले सफल हो गए और नई सुविधाओं का लाभ उठा पाए, वे ऊँची श्रेणी में गिने जाने लगे हैं। शेष अधिकांश जनजाति निम्न और कमजोर वर्ग के रूप में जीवन बिताने को मजबूर है। विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों का लाभ भी जनजातियों का यह उच्च वर्ग ही उठा जाता है और कमजोर वर्ग पहले की भाँति उपेक्षित और शोषित रह जाता है।

(ii) द्विभाषा की समस्या—बाह्य सम्पर्क के कारण जनजातियों में द्विभाषावाद की समस्या उठ खड़ी हुई है। कहीं-कहीं तो जनजाति के लोग नई भाषा को सीखने में इतने उत्साह से आगे बढ़े कि अपनी भाषा के महत्त्व को ही भूल गए। यह सच है कि वे आदिवासी पड़ोसियों से बातचीत करने लगे, परन्तु हर भाषा के प्रतीक और उनके अर्थ अलग-अलग होते हैं। इस तरह, आदिवासियों के जीवन में एक शून्य (खालीपन) बन गया है और न तो वह बाहरी भाषा के मूल्य जीवन में ला पाए हैं और न अपनी ही भाषा के सन्दर्भों को सुरक्षित रख पाए हैं।

(iii) वस्त्र विवाद—अधिकांशत: आदिवासी न्यूनतम वस्त्रों का प्रयोग करते आए हैं। कहीं-कहीं तो वे नंगे रहते थे, परन्तु जब वे बाहरी समूहों को गर्दन के नीचे तक वस्त्रों से ढका देखते हैं और ये समूह उनकी नग्नता को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, तो वे स्वयं पर लज्जित महसूस करने लगे हैं और अपने को वस्त्रों से ढकने के लिए मजबूर हो गए हैं। परन्तु उन्होंने अभी आधुनिक स्वच्छता के नियमों से परिचय नहीं पाया है और न उसके महत्त्व को समझा है। परिणामत: उनके कपड़ों में बदबू आने लगती है और जूँ तक पड़ जाती हैं जिनसे अनेक रोग होने लगते हैं।

इसलिए उन्हें शारीरिक सफाई विज्ञान से भी परिचय दिया जाना चाहिए और यथेष्ट मात्रा में साबुन इत्यादि उनके पास होना चाहिए। मजूमदार व मदन ने उचित ही लिखा है कि सिवाय बहुत ही ठण्डे क्षेत्रों के, कोई कारण नहीं है कि न्यूनतम वस्त्रों की प्रथा को समर्थन न दिया जाए। धूप व खुली हवा शारीरिक स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है और आर्थिक बोझ को भी कम करती है।

(iv) अनेक सामाजिक बुराइयों का प्रवेश—यह भी खेद का विषय है कि हिन्दू संस्कृति का अन्धा अनुकरण उनमें हिन्दू समाज की कुछ बुराइयों को भी फैला रहा है। उदाहरणार्थ—उनमें भी बाल विवाह होने लगे हैं तथा विधवा पुनर्विवाह पर रोक लगने लगी है। विवाह संस्कार अधिकतर तड़क-भड़क से किए जाने लगे हैं। जनजातियों में विवाह वयस्क होने पर होता है और जीवनसाथी प्राप्त करने के अनेक तरीके वहाँ प्रचलित हैं। कभी-कभी स्त्री-पुरुष को साथ रहने पर भी पति-पत्नी के रूप में मान्यता दे दी जाती है और जनजाति को एक भोज देने-मात्र से सामाजिक नियम के उल्लंघन का प्रायश्चित हो जाता है। यह सभी सरल सामाजिक दृश्यविधान वहाँ बदलता नजर आ रहा है।

(v) सामाजिक संगठन में परिवर्तन—सांस्कृतिक सम्पर्कों से जनजातियों की कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ बदलने लगी हैं। जैसे—कुछ जनजातियाँ युवागृह जैसी संस्था को छोड़ने लगी हैं। ये युवागृह बहुउद्देश्यीय थे। इनमें नई पीढ़ी अनौपचारिक रूप से शिक्षा ग्रहण करती थी और नृत्य, संगीत, खेल-कूद द्वारा यहाँ व्यस्त जीवन की जिम्मेदारियों के लिए व्यक्ति तैयार होता था। घर भी उन तनावों से बच जाता था जो पीढ़ियों की समीपता से पैदा होता है। ऐसी संस्थाओं का ह्रास उनके सामाजिक संगठन में परिवर्तन कर रहा है।

उपर्युक्त सभी परिवर्तन ऐसे हैं कि जनजातियों में जो कुछ मौजूद रहा है उसमें ह्रास हो रहा है और जो कुछ उसकी जगह उन्हें मिल रहा है वह उनके परम्परागत विचारों, साधनों या व्यवहारों के साथ मेल

नहीं खाता। इस समस्या का समाधान परसंस्कृतिकरण से उत्पन्न सामंजस्य को अधिक तार्किक, मानवीय और स्वाभाविक बनाने में निहित है। यह उचित होगा कि सामंजस्य के नए प्रतिमान तय करने में जनजाति के मुखियाओं और शिक्षित व्यक्तियों को ही निर्णय का मौका दिया जाए। उनके द्वारा निर्धारित सामंजस्य स्वीकार किया जाना चाहिए और उसे बल प्रदान किया जाना चाहिए।

8. धार्मिक संरचना में ह्रास—जनजातियों का धर्म और जादू-टोना उनके ऐतिहासिक परिस्थिति के साथ अनुकूलन का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। वह अनेक पीढ़ियों के अनुभवों पर आधारित है। वह उनके जीवन चक्र को और सामाजिक जीवन की प्रमुख वार्षिक क्रियाओं को नियमित करता है। यही नहीं, महामारी या ऐसी ही आकस्मिक विषम परिस्थितियों और दुर्घटनाओं में उन्हें सहारा और आश्वासन प्रदान करता है। सभ्य समाजों के सम्पर्क में आकर, चाहे वह हिन्दू धार्मिक दर्शन हो अथवा ईसाई धर्म, जनजाति के लोग अपने धार्मिक विश्वासों और क्रियाओं में आस्था खोते जा रहे हैं। वे ऐसी नाव में सवार हो गए हैं मानो जीवन की उत्तुंग लहरों से जूझते हुए उनके माँझी की पतवार ही छूटकर बह गई हो। उनके आध्यात्मिक सहारे बिखर गए हैं और वे मूल्यों के संकट में पड़ गए हैं।

इस संकट का समाधान बाह्य धार्मिक प्रचारकों के हाथ में है। उन्हें याद रखना चाहिए कि प्रत्येक धर्म आस्था पर आधारित होता है। वह विश्वासों, संस्कारों और गाथाओं का एक समन्वित रूप है। कौन-सा धर्म अच्छा है और कौन-सा धर्म भ्रमपूर्ण है—यह बहस ही निरर्थक है। इसलिए जनजाति के मौलिक धार्मिक संगठन को सम्मान

दिया जाना चाहिए और उसमें परिवर्तन को उद्विकासीय गति से विकसित होने का मौका मिलना चाहिए। यह आवश्यक रूप से एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है जिसमें हस्तक्षेप के परिणाम घातक हो सकते हैं।

9. राजनीतिक संगठन में जटिलता—जनजातीय परिवेश राजनीतिक जटिलता का भी शिकार हो गया है। वहाँ परम्परागत जनजाति पंचायत, उसके मुखिया या देशमुख भी बने हुए हैं और प्रजातान्त्रिक विकेन्द्रीकरण पर आधारित पंचायतों के गठन के भी प्रयास किए जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रशासन कर्मचारी; जैसे पटवारी, चौकीदार, थानेदार आदि भी जनजातीय जीवन को प्रभावित कर रहे हैं। इतना ही नहीं, वन अधिकारी और विकास अधिकारी भी जनजातियों के लिए समझ में न आने वाली राजनीतिक संगठन की जटिलता के प्रसार में में योगदान दे रहे हैं।

इसी प्रकार, उनकी परम्परागत पंचायती न्याय व्यवस्था में भी दरारें पड़ने लगी हैं। पढ़े-लिखे आदिवासी या समृद्ध आदिवासी परम्परागत पंचायत के फैसलों की उपेक्षा करने लगे हैं। अदालतों पर आधारित आधुनिक न्याय व्यवस्था की पेचीदगी उनकी समझ से बाहर हैं और वे भोले-भाले लोग इसमें फँस कर लुट जाते हैं।

देश में प्रजातान्त्रिक प्रणाली, जो बहुदलीय व्यवस्था पर आधारित है, भी जहाँ उनमें नई राजनीतिक चेतना पैदा कर रही है, वहीं पर राजनीतिबाजों के कुचक्र का उन्हें शिकार भी बना रही है। राजनीति उन्हें झूठे आश्वासन देती है, जो उनकी निराशाओं को बढ़ाते हैं और कई जगह चुनाव की राजनीति उनमें दंगे और विद्रोह को भड़काती है। इन सभी राजनीतिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न जटिल समस्याओं का हल तभी प्राप्त हो सकता है जब हम जनजाति-क्षेत्रों के लिए राजनीतिक ढाँचे को सरल बनाएँ। यह नया राजनीतिक ढाँचा ऐसा हो जो उनके परम्परागत तत्त्वों को अपने में शामिल कर सके। सार्वभौमिक मताधिकार तो सबको मिलना चाहिए,

लेकिन यह हो सकता है कि हम जनजातीय क्षेत्रों से प्रतिनिधियों के चुनाव की प्रक्रिया को कुछ भिन्न रूप में लागू करें। परम्परागत न्याय व्यवस्था को अधिक शक्ति प्रदान की जानी चाहिए और सामान्य रूप से उनके निर्णयों का अदालतों में सम्मान किया जाना चाहिए, जब तक कि कोई स्पष्ट अन्याय का मामला न दिखाई देता हो। माननीय जजों को न्याय-अन्याय का निर्धारण करते समय सम्बन्धित जनजाति के इतिहास व परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए जनजाति की दृष्टि से ही प्रत्येक मामले को देखना चाहिए, न कि आधुनिक शिक्षा या कानून की दृष्टि से। इसी भाँति, प्रशासनिक व विकास कर्मचारी भी व्यावहारिक मानवशास्त्र की दृष्टि से विशेष प्रशिक्षण दिए जाने पर ही जनजातीय इलाकों में नियुक्त किए जाने चाहिए।

10. शैक्षिक समस्याएँ—जनजाति के लोग शिक्षा के महत्त्व को समझने लगे हैं और वे शिक्षा के अवसरों की माँग भी कर रहे हैं। सरकार ने उनके लिए छात्रवृत्तियों या आरक्षित प्रवेश या छात्रावास सुविधाओं की नीतियों को अपनाया है। परन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी बाहरी नई व्यवस्था को, चाहे वह कितनी भी अच्छी क्यों न हो, सीधे रूप से अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक समूह पर आरोपित नहीं किया जा सकता। आधुनिक स्कूलों की औपचारिक शिक्षा प्रणाली वहाँ सफल नहीं होगी। एक तो नितान्त गरीबी उन्हें आगे बढ़ने नहीं देती और वे बीच में ही पढ़ाई छोड़कर जाते हैं, दूसरे अक्षर ज्ञान पर आधारित सामान्य पाठ्यक्रम जनजातियों के बच्चों को आकर्षित नहीं कर पाते। यह शिक्षा उन्हें अपने जीवन के लिए सन्दर्भहीन लगती है। डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा ने इस दिशा में बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है कि यहाँ स्कूल की एक अध्यापिका ने जनजातीय बालक की किसी गलती पर उसे डाँटा और उसके कान पकड़े। अगले दिन से बालक ने स्कूल जाना छोड़ दिया। जब उससे पूछा गया कि

उसने ऐसा क्यों किया तो उसने कहा कि 'ढौंकी' (स्त्री) के हाथ से वहाँ पिटने नहीं जाएगा, यह तो उसका अपमान है, फिर वह मर्द काहे का है?

स्पष्ट है कि शिक्षा के पाठ्यक्रम व शिक्षण विधि दोनों में ही परिवर्तन करना होगा। शिक्षा व्यवस्था सम्बन्धित जनजाति के परिवेश के अनुसार हो और जनजाति की आवश्यकता को पूरा करने वाले पाठ्यक्रम हों तो सम्भवत: वे इसकी ओर आकार्षित हो जाएँ।

11. स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ–जैसा पहले कहा गया है कि सांस्कृतिक सम्पर्कों ने कुछ नई बीमारियों को आदिवासी क्षेत्रों में फैलाया है जिनसे लड़ने के लिए उनकी परम्परागत जादू-टोने और जड़ी-बूटियों पर आधारित चिकित्सा प्रणाली पर्याप्त नहीं है। उदाहरणार्थ, यौन रोग, टी० बी० आदि को वे नहीं समझ पा रहे हैं। आधुनिक चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ उन्हें या तो उपलब्ध हैं ही नहीं, और अगर हैं भी तो बड़ी दूर-दूर बिखरी हुई और नहीं के बराबर हैं। इस परिस्थिति ने जनजातियों में ऐसा नैराश्य भर दिया है कि वे जीने का उत्साह भूलने लगे हैं। स्वास्थ्य मानव की प्राथमिक आवश्यकता है। इसलिए यह जरूरी है कि उनकी परम्परागत चिकित्सा प्रणाली का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए और जो जादू-टोने या जड़ी-बूटियाँ उपयोगी सिद्ध हों उन्हें चिकित्सा प्रणाली में सम्मिलित कर लिया जाए। साथ ही, कुछ प्राथमिक उपचार जैसे तरीकों का जनजाति के युवाओं को प्रशिक्षण दिया जाए और उन्हें चिकित्सा प्रणाली का एक अंग बनाया जाए। इस दिशा में ईसाई मिशनरियों के कार्य की प्रशंसा की जानी चाहिए।

12. स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में ह्रास—जनजातियों में स्त्रियों की स्थिति बड़ी विषम होती जा रही है। डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा ने अनेक ऐसी परिस्थितियों का वर्णन किया है जहाँ जनजाति की भोली-भाली किशोरियाँ, जो समानता, स्वतन्त्रता व शिथिल यौन नैतिकता के पर्यावरण में पलीं हैं, कैसे इन सभ्य कहलाने वाले छोटे-मोटे अधिकारी, व्यापारी, तकनीशियन या श्रमिकों द्वारा छली जाती हैं। कभी धोखे से, कभी पैसे के बल पर, कभी केवल शक्ति प्रयोग से इन अल्हड़ बालाओं को वे अपनी अंकशायिनी बना लेते हैं। डॉ० शर्मा के शब्दों में ही ''कभी-कभी तो मीठी गोलियाँ, नहाने के साबुन की टिकिया, पाउडर का डिब्बा आदि तक इन मासूम किशोरियों को फाँसने के लिए पर्याप्त होता है।'' वे एक खुशहाल आरामदेह जिन्दगी के लिए आकर्षित होती हैं। परन्तु जब उन्हें पता चलता है कि सभ्य मनुष्य के लिए स्त्री एक ''कमजोर वर्ग'' है, परावलम्बी है और इस सभ्य मानव ने उसे कोई स्थायी सहारा नहीं दिया है तो उसका मोह जाल टूटता है। वह परिवार में साझेदारी, निर्णयों में समानता के मूल्यों पर आधारित सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बन्धित होती है। वह पाती है कि वह दोहरे पतन के जाल में फँस गई है। एक ओर तो वह साहब की केवल 'रखैल' है जिसकी देह का मोल कुछ सिक्कों के सिवाय कुछ नहीं है, तो दूसरी ओर वह अपने समाज में स्वयं को तिरस्कृत और कभी-कभी बहिष्कृत पाती है। जनजाति समाज ऐसी स्त्रियों को प्राय: अपराधी मानते हैं जो किसी की पैसों के लिए रखैल बन जाए और सन्तान उत्पन्न करे। ऐसी महिलाओं का समाज में पुनर्वास एक कठिन समस्या बन जाता है।

इतना ही नहीं, कहीं-कहीं आदिवासी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति के लिए बाध्य अथवा प्रेरित की जाती हैं। जौनसार बाबर के 'कोलटा' लोगों में यह समस्या बड़ी गहन हो गई है। वहाँ बहुपति प्रथा वाला समाज है। किसी आदिवासी स्त्री का वेश्यागृह तक पहुँचने का घटनाक्रम प्राय: सुनिश्चित-सा है। डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा के शब्दों में, ''सबसे पहले इन परिवारों को गरीबी के कारण खाने-पीने, विवाह-शादी इत्यादि के अवसर पर ऋण लेना पड़ता है। एक बार

ऋणी होने पर उनकी जीविका के परम्परागत साधन छिन जाते हैं, जमीन गिरवी रखनी पड़ती है अथवा उच्च समाज के किसी सदस्य के यहाँ उसे बन्धक मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरे शब्दों में, वह अपने श्रम का भी मालिक नहीं रह जाता। ऋणी परिवार की महिला सदस्य को वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर करने में उसके मालिक अथवा आँचल के किसी तगड़े आदमी की रुचि हो जाती है। ऋण की वसूली का तकाजा तेज होने लगता है। फिर उस स्त्री के विवाह-विच्छेद की औपचारिकता पूरी की जाती है और फर्जी तौर पर दूसरा विवाह भी रचाया जा सकता है। इस पूरी जालसाजी में खुमड़ी के मुखिया भी धन के लालच में सक्रिय सहयोग देते हैं। अन्त में स्त्री अकेली, या अपने असली या फर्जी परिवार के साथ वेश्यावृत्ति के लिए मैदानी इलाकों में चली जाती है।'' अपने मूल्यों में आस्था खोया जनजाति का यह निचला वर्ग कभी-कभी खुद भी स्त्री को इस दिशा में प्रेरित कर देता है और वेश्यावृत्ति स्वयं में एक आदरणीय अथवा वांछनीय व्यवसाय के रूप में स्वीकृति प्राप्त कर लेती है।

जनजाति के लोग कहीं-कहीं नारी के इस प्रकार फँसाए जाने के विरुद्ध बड़ा रोष भी व्यक्त करते हैं, विशेषत: युवा वर्ग इसका प्रतिशोध भी लेना चाहता है। परन्तु परम्परागत न्याय व्यवस्था को वह ऐसे अपकारी व्यक्ति पर लागू नहीं कर सकता और नई व्यवस्था या तो उसकी पहुँच से बाहर है या ऐसे अपराधों के लिए जिम्मेदार सबल व्यक्ति दण्ड से बच निकलते हैं।

इस समस्या के सम्बन्ध में हम यह स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि अधिकांशत: स्त्री के शोषण या वेश्यावृत्ति के मामले जनजाति के सबसे निम्न और कमजोर श्रेणियों की स्त्रियों में घटित होते हैं। उच्च और समर्थ श्रेणियों की स्त्रियों के साथ ऐसी घटनाएँ अपवाद ही हैं। ऐसा लगता है कि मानव का वर्ग भेद का इतिहास यहाँ भी अपने को दोहराता है और निर्बल वर्ग ही सबल वर्ग द्वारा हर प्रकार के शोषण का शिकार होता है। इसलिए इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है जब इस निम्न वर्ग को रोजगार के अवसर दिए जाएँ और उन्हें ऋणग्रस्तता के चंगुल से बचाया जाए। इसके अतिरिक्त, ऐसी घटनाओं की रोकथाम और दण्ड की कानूनी प्रक्रिया में उचित संशोधन किए जाएँ।

स्त्रियों का यौन शोषण ही उनकी सामाजिक प्रस्थिति में ह्रास का एकमात्र कारण नहीं है बल्कि बाह्य सम्पर्कों के प्रभाव में आकर जो उन पर नई सामाजिक नैतिकता लादी जा रही है, वह भी उनकी परम्परागत प्रस्थिति में ह्रास का कारण है। उदाहरणार्थ—वे अब पुरुषों के साथ नृत्य आदि में भाग नहीं लेतीं अथवा उनमें पर्दे का समावेश होने लगा है। यदि उनका कार्य-क्षेत्र घर और रसोई तक ही सीमित किया जाने लगे तो स्वाभाविक ही हिन्दू स्त्रियों की भाँति उनकी सामाजिक प्रस्थिति भी पुरुषों की तुलना में नीची हो जानी है। यहाँ हम यह भी कहना चाहेंगे कि यौन नैतिकता में अत्यधिक शिथिलता या तलाकों की दर अधिक होना या ऊँचे वधू-मूल्य होना जैसी कुछ चीजें ऐसी भी हैं जिनमें धीरे-धीरे परिवर्तन वांछनीय ही होगा।

13. नशावृत्ति—मद्यपान यद्यपि जनजातियों में सामान्य जीवन का एक अंग रहा है तथापि आधुनिक आबकारी कानून के अन्तर्गत दृश्य कुछ बदल गया है। पहले वे अपने घरों में ही परम्परागत तरीकों से स्थानीय चीजों; जैसे मँडुआ अथवा मडुँआ से शराब निकालते थे और प्रथा के अनुसार नियमित मात्रा में लेते थे। परन्तु अब घरों में शराब खींचना गैर-कानूनी है। शराब उन्हें ठेकों पर मिलती है। शराब के ठेकेदार एक नया शोषक तत्त्व बन जाता है और धीरे-धीरे आदिवासी इस शराब के आदी बन जाते हैं तथा शराब के लिए या शराब के प्रभाव में वे अनेक गलत कार्य करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।

इस समस्या के सम्बन्ध में हम यही सुझाव देंगे कि आबकारी के नियमों में संशोधन किया जाए। आदिवासी क्षेत्रों से शराब के ठेके हटाए जाएँ। जनजातियों को पूर्ववत् इस दिशा में अपने जीवन को नियन्त्रित करने का अधिकार मिले। हमें यह जानकारी मिली है कि उत्तर प्रदेश की 'भोटिया' जनजाति के कई गाँवों में स्त्रियों ने शराबखोरी के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन छेड़ा, ठेकों का घेराव किया, उनकी बोतलें तोड़ी, वहाँ प्रदर्शन किए और अपने अभियान में काफी सीमा तक सफलता भी प्राप्त की है।

14. अपराध व कानून सम्बन्धी समस्याएँ—कुछ जनजातियाँ अंग्रेजी शासनकाल से ही अपराधी जनजातियाँ मानी जाती थीं। चोरी, ठगी और डकैती करना जिनका व्यवसाय बन गया था। उत्तर प्रदेश की 'बवरिया' जनजाति ऐसी ही भूतपूर्व अपराधी जनजाति है। उनके पुनर्वास का प्रयास किया जा रहा है। लेकिन दु:ख इस बात का है कि अनेक जनजातियाँ कानून का उल्लंघन करने के लिए बाध्य हो गई हैं क्योंकि उनके जीवन निर्वाह के परम्परागत साधन उनसे छिन गए हैं। डॉ० ब्रह्मदेव शर्मा के शब्दों में, ''ह्रासशील संसाधन, धनुष और बाण की सतत परम्परा और बढ़ती हुई आबादी ने कुछ आत्यन्तिक स्थितियों को जन्म दिया है जिनके कारण जीवन-धारण के लिए आदिवासियों को लूटमार के लिए बाध्य होना पड़ा।'' उन्होंने भीलों का उदाहरण दिया है जो चोरी को पाप समझते हैं और अपने भरण-पोषण
के लिए बाहुबल का प्रयोग करना अनिवार्य समझते हैं। इसलिए वे भारी जोखिम उठाकर भी डकैती डालते हैं। झाबुआ के अली-राजपुर क्षेत्र में राहजनी एक आम बात हो गई है। इसी प्रकार, कुछ आँचलों में गैर-कानूनी ढंग से जलाऊ अथवा बहुमूल्य लकड़ी काटकर बेचना आदिवासियों का धन्धा बन गया है। ऐसे मामलों में उच्च समाज के भ्रष्ट अधिकारियों और अपराधी तत्त्वों के साथ ऐसे आदिवासियों का गठबन्धन हो जाता है जो उन्हें अपराधों के लिए प्रेरित करते हैं।

स्पष्ट है कि यह समस्या जीवन के निर्वाह की समस्या के साथ जुड़ी हुई है। इसलिए जैसा कि पहले भी कहा गया है; रोजगार के नए अवसर, गृह व कुटीर उद्योग, वनों के नियमों में परिवर्तन से ही इस बीमारी का इलाज हो सकता है।

15. जनजाति विद्रोह—अन्तिम रूप से, जनजाति आक्रोश और विद्रोह को भी हम एक समस्या के रूप में वर्णित करना चाहेंगे। वास्तव में, जनजातियों की समस्याएँ सांस्कृतिक संकट, आर्थिक बेरोजगारी और शोषण की समस्याएँ हैं। जब कोई जनजाति इसके कारण समझने में या उचित निदान खोजने में असफल और हताश हो जाती है तो अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए वह विद्रोह का रास्ता अपना लेती है। नागा और मिजो, टुण्ड्रा, सन्थाल गोंड और भील जनजातियों में विद्रोह का लम्बा इतिहास है। सबसे नवीनतम क्रान्ति नक्सलपन्थी क्रान्ति थी जो पश्चिम बंगाल के आदिवासियों में शुरू हुई। इसके प्रेरक कट्टर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट थे जिनका विश्वास था कि क्रान्ति बन्दूक की नली से ही होती है। यह क्रान्ति भारत के अनेक गाँवों एवं नगरों में पहुँची। यद्यपि यह सच है कि भारतीय प्रशासन इस क्रान्ति को कुचलने में सफल रहा है तथापि इसने यह सिद्ध कर दिया है कि शोषण से उत्पन्न आक्रोश बारूद के समान है जो किसी भी चिंगारी से विस्फोट में बदल सकता है।

स्पष्ट है कि यह समस्या अन्य समस्त समस्याओं का प्रतिफल है और इसका हल पुलिस व सेना की गोलियाँ नहीं है बल्कि जनजाति की समस्याओं और आकांक्षाओं को सही परिवेश में समझने और उसके निराकरण में है। यह निराकरण विकास की उन योजनाओं में निहित है जिनके निर्माण एवं क्रियान्वयन में जनजाति स्वयं अपनी

भागीदारी की अनुभूति कर सके। इसका दायित्व न केवल हमारे राजनेताओं, प्रशासकों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं पर है बल्कि मार्गदर्शन का कार्य मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों पर भी है।

जनजातियों की समस्याओं और उनके समाधान के बारे में इतना जरूर कहा जा सकता है कि जनजातियों की समस्याएँ वस्तुत: मानवीय समस्याएँ हैं। ये पूँजीपति वर्ग व्यवस्था की स्वाभाविक समस्याएँ हैं। कुछ अंशों तक ये सभी अनुसूचित जातियों, जनजातियों और समाज के अन्य आर्थिक रूप से निर्बल वर्गों की समस्याएँ हैं। शक्तिशाली एवं सम्पत्तिशाली वर्ग निर्बलों का शोषण करता आया है। इस शोषण को रोकना है। कमजोर वर्गों को विकास के न केवल अवसर प्रदान करने हैं बल्कि उनमें विकास के लिए चाह और आवश्यक तैयारी भी करनी है। इस उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो? या तो हमें कोई शान्तिपूर्ण, रचनात्मक और मानवीय रास्ता खोज निकालना चाहिए अन्यथा वर्ग संघर्ष और क्रान्ति ही इसका एकमात्र उपाय हो सकती है। क्या जनजातियों के समक्ष केवल यही एकमात्र मार्ग छोड़ देना उचित होगा?

11.3.4अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु सरकारी प्रयास

अनुसूचित जनजातियों के सामाजिक-आर्थिक उत्थान एवं समस्याओं के समाधान हेतु सरकार सतत प्रयास कर रही है। भारत सरकार 1974 से राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों को जनजातीय उपयोजना के लिए विशेष केन्द्रीय सहायता उपलब्ध कराती है। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में यह सहायता राशि 119·31 करोड़ थी जो दसवीं पंचवर्षीय योजना में बढ़कर 2960·83 करोड़ रुपये हो गई। ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में वर्ष 2006-07 को 631·80 करोड़ रुपये उपलब्ध कराए गए हैं। जंगल बाहुल्य गाँव के विकास के लिए भी केन्द्रीय सहायता दी जाती है। वर्ष 1998-99 में आदिम जनजाति समूहों के सर्वांगीण विकास के लिए केन्द्रीय क्षेत्र की एक योजना प्रारम्भ की गई है जिसके अन्तर्गत समन्वित जनजातीय विकास परियोजनाओं, जनजातीय शोध संस्थानों तथा गैर-सरकारी संगठनों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराई जाती है।

अनुसूचित जनजाति के बालक/बालिकाओं हेतु छात्रावासों के निर्माण की योजना के अन्तर्गत दसवीं पंचवर्षीय पयोजना में 389 छात्रावासों का निर्माण किया गया है जिससे 24,379 छात्र-छात्राओं को लाभ मिला। इस पर 104 करोड़ रुपये खर्च किए गए। जनजातीय विद्यार्थियों में साक्षरता दर बढ़ाने हेतु दसवीं पंचवर्षीय योजना में 232 आश्रम विद्यालयों की स्थापना की गई जिससे 17,650 विद्यार्थी लाभान्वित हुए। इस पर 78·03 करोड़ रुपये खर्च किए गए। इन योजनाओं के अतिरिक्त अनुसूचित जनजाति छात्रों के लिए मैट्रिक-पश्चात् छात्रवृत्ति, जनजातीय क्षेत्रों में व्यावसायिक प्रशिक्षण, कम साक्षरता वाले इलाकों में जनजातीय बालिकाओं की शिक्षा हेतु भी सतत प्रयास किए गए हैं। राजीव गांधी राष्ट्रीय फैलोशिप तथा अनुसूचित जनजाति के विद्यार्थियों के लिए विदेश में उच्च शिक्षा हेतु राष्ट्रीय छात्रवृत्ति योजना का लाभ भी जनजातीय विद्यार्थियों को दिया जा रहा है। जनजातीय मामलों के मन्त्रालय ने 2007-08 से अनुसूचित जनजाति के छात्रों की उच्च कक्षा शिक्षा की एक नई योजना प्रारम्भ की है जिसका उद्देश्य चुनिंदा उत्कृष्ट संस्थानों में स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर पर शिक्षा प्राप्त कर रहे मेधावी छात्रों को प्रोत्साहित करना है।

सन् 2001 में राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति वित्त तथा विकास निगम की अलग से स्थापना की गई है जो जनजातीय लोगों के आर्थिक विकास हेतु अनेक कार्यक्रम चला रहा है। निगम ने 31 मार्च, 2008 तक आय बढ़ाने वाले

कार्यक्रम के अन्तर्गत 937 योजनाओं/परियोजनाओं को मंजूरी दी है जिसमें उसका हिस्सा 466·59 करोड़ रुपये था। इनसे 1·73 लाख अजजा व्यक्तियों को स्व-रोजगार उपलब्ध कराया गया। ट्राइबल कॉपरेटिव मार्केटिंग डवेलपमेण्ट फेडरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड अपनी दुकानों के माध्यम से जनजातीय उत्पादों के विपणन विकास में लगा हुआ है।

अनुसूचित जनजाति तथा अन्य पारम्परिक वन्य निवासी (वन अधिकार को मान्यता) अधिनियम, 2006 के अन्तर्गत अजजा तथा अन्य वन्य निवासियों के वनों पर अधिकार को मान्यता दी गई है। अनुसूचित जनजातियों के लिए रोजगार, शिक्षा एवं निर्वाचित निकायों में आरक्षण सुविधाएँ यथावत् बनी हुई हैं। इनसे जनजातियों का विकास तो हो रहा है परन्तु उनकी समस्याओं का समाधान पूर्ण रूप से नहीं हुआ है। इस दिशा में अभी काफी प्रयास किया जाना शेष है।

11.4 अनुसूचित जातियाँ

अनुसूचित जातियाँ वे निम्न जातियाँ हैं जिन्हें सरकार ने विशेष अनुसूची में सम्मिलित किया है और जिन्हें विशेष सुविधाओं द्वारा सरकार अन्य जातियों के बराबर लाना चाहती है। 2001 ई० की जनगणना के अनुसार इनकी तथा अनुसूचित जनजातियों की संख्या कुल जनसंख्या का चौथाई भाग (24·40 प्रतिशत) है। यदि इनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तो भारत प्रगति नहीं कर सकता। भारत में अनुसूचित जातियों की कुल संख्या 166,636,000 (16·20 प्रतिशत) है। इसीलिए इनकी समस्याओं को न तो अनदेखा किया जा सकता है और न ही इन समस्याओं के समाधान के बिना देश का विकास सम्भव है।

11.4.1अनुसूचित जातियों की समस्याएँ

अनुसूचित जातियों की निम्नांकित प्रमुख समस्याएँ हैं—

1. अस्पृश्यता की समस्या—अस्पृश्यता का इतिहास भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के इतिहास से जुड़ा हुआ है क्योंकि यह जाति व्यवस्था के साथ ही हमारे समाज में एक गम्भीर समस्या रही है। अस्पृश्यता के नाम पर हजारों वर्षों तक निम्न जातियों को अनेक मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया तथा उन पर अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक निर्योग्यताएँ लगा दी गईं। अनेक विद्वानों (जैसे डॉ० डी० एन० मजूमदार) ने अस्पृश्यता की परिभाषा ही अस्पृश्य जातियों की आर्थिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताओं के आधार पर दी है। निर्योग्यताएँ परम्परागत रूप से निर्धारित होती हैं और सामाजिक दृष्टि से लागू की जाती हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने वैधानिक रूप से अस्पृश्यता एवं अस्पृश्यों की सभी निर्योग्यताओं को समाप्त कर दिया है तथा इसमें काफी सीमा तक सफलता भी मिली है। निर्योग्यताओं के कारण ही अनुसूचित जातियाँ सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी रही हैं तथा आज भी अग्रणी जातियों से पिछड़ी हुई हैं।

2. अत्याचार एवं उत्पीड़न की समस्याएँ—अनुसूचित जातियों की दूसरी समस्या अत्याचार और उत्पीड़न की है। अस्पृश्यता के कारण इन्हें जिन सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता था उसके कारण ये जातियाँ अनेक प्रकार के अत्याचारों और उत्पीड़न का शिकार हो गई हैं। लगभग सभी राज्यों में अनुसूचित जातियों पर उत्पीड़न और अत्याचार के समाचार निरन्तर मिलते रहते हैं। इनमें इनकी भूमि को अवैध रूप से छीन लेना, उनसे बेगार लेना तथा बँधुआ मजदूरों के रूप में काम लेना, महिलाओं से दुर्व्यवहार एवं शोषण, हत्याएँ, लूटमार

तथा जमीन के खरीदने व बेचने में अनियमितताएँ इत्यादि प्रमुख हैं। इन्हें जिन्दा जला देने की घटनाएँ भी सुनने में आती हैं। बिहार में बेलची काण्ड इसका एक उदाहरण है। इन पर पुलिस द्वारा अत्याचार की अनेक घटनाएँ भी सामने आई हैं।

यद्यपि सरकार ने भूमिहीन अनुसूचित जातियों के लोगों को भूमि का वितरण, न्यूनतम वेतन में वृद्धि, गृहों का आबंटन, बँधुआ मजदूर प्रथा की समाप्ति जैसे उपायों से इनके उत्पीड़न और इन पर होने वाले अत्याचारों को काफी सीमा तक नियन्त्रित करने का प्रयास किया है, फिर भी कुछ प्रभावशाली व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हितों के कारण इन जातियों के सामाजिक-आर्थिक सुधार में अनेक बाधाएँ उपस्थित करते रहे हैं। कई राज्यों में तो सरकार द्वारा आबंटित भूमि पर इन लोगों को कब्जा नहीं मिल पाया है। मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र व दिल्ली में ऐसी घटनाओं की सूचना अधिकारियों को दी गई है।

उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश तथा देहली में अनुसूचित जातियों के लोगों पर विविध प्रकार के अत्याचार एवं उत्पीड़न के समाचार मिलते रहे हैं। इनकी शिकायतों को, जोकि अनुसूचित जाति एवं जनजाति के कमिश्नर को प्राप्त होती हैं, सम्बन्धित सरकारों को प्रेषित कर दिया जाता है।

अनुसूचित जातियों पर होने वाले अत्याचार एवं उत्पीड़न को रोकने का दायित्व यद्यपि राज्य सरकारों का है, फिर भी केन्द्रीय सरकार कमजोर वर्गों पर अत्याचार रोकने के अनेक उपाय करती है तथा स्थिति के अनुसार कदम उठाती है। बड़े खेद की बात है कि इन पर होने वाले अत्याचारों की ठीक प्रकार से जाँच-पड़ताल भी नहीं हो पाती। उदाहरणार्थ—अनुसूचित जातियों व जनजातियों के कमिश्नर की २४वीं रिपोर्ट (1975-76 एवं 1976-77, भाग–1) के अनुसार 1975 ई० में 7,781 मामलों में 24·4% प्रतिशत मामलों में जाँच-पड़ताल के बाद कोई चार्ज शीट नहीं लगाई गई।

अनुसूचित जातियों पर अत्याचार रोकने एवं उत्पीड़न कम करने के लिए राज्य सरकारों को विशेष उपाय करने की जरूरत है तथा पुलिस फोर्स को इसके लिए स्पष्ट निर्देश दिए जाने अनिवार्य हैं। अगर कानून के रक्षक पुलिस वाले ही इस प्रकार के मामलों में संलग्न होने के दोषी पाए जाते हैं तो उन्हें कठोर दण्ड देने की आवश्यकता है। अत्याचार पीड़ित लोगों को उदार अनुदान देने एवं पुनर्वास की सुविधाएँ भी तुरन्त उपलब्ध की जानी चाहिए।

3. आर्थिक समस्याएँ—निर्योग्यताओं के कारण इनका सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक स्तर भी काफी निम्न रहा है। इन्हें अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने का अधिकार नहीं था, इनसे बेगार ली जाती थी तथा वेतन भी न्यूनतम दिया जाता था। श्रम-विभाजन में भी इन्हें निम्न स्थान प्राप्त था जिनके कारण इनको योग्यता होने पर अच्छे कुशल कर्मचारी बनने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता था। इन लोगों को उच्च व्यवसाय करने की अनुमति नहीं थी तथा आज भी ग्रामीण भारत में इस प्रकार के प्रतिबन्ध देखे जा सकते हैं।

अनुसूचित जातियों के लोगों के आर्थिक स्तर को ऊँचा करने के लिए सरकार ने अनेक कदम उठाये हैं तथा संवैधानिक रूप से अनेक सुविधाएँ उपलब्ध की हैं। नौकरियों में आरक्षण सुविधाएँ, बैंकों से आसान शर्तों पर ऋण, आवासीय सुविधाएँ, कृषि मजदूरों के लिए न्यूनतम वेतन का निर्धारण, ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण की वसूली न करना तथा बँधुआ मजदूरी की समाप्ति इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास हैं। परन्तु अभी भी इस दिशा में काफी कुछ किया जाना बाकी है तथा इसके लिए अनुसूचित जातियों के लोगों में जनचेतना बढ़ाया जाना अनिवार्य है ताकि वे सरकार द्वारा उपलब्ध सुविधाओं का लाभ उठा सकें तथा अपने आर्थिक स्तर में सुधार कर सकें।

4. राजनीतिक समस्याएँ—अनुसूचित जातियों की समस्याओं में राजनीतिक समस्या भी प्रमुख स्थान रखती है। इन लोगों को केवल नौकरी में नियुक्ति एवं वेतन सम्बन्धी अधिकार ही नहीं थे अपितु राजनीतिक दृष्टि से राय देने का भी कोई अधिकार नहीं था। वोट देने तथा शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारों से भी उन्हें वंचित रखा जाता था। यद्यपि स्वतन्त्रता के पश्चात् अनुसूचित जातियों की राजनीतिक निर्योग्यताएँ समाप्त हो गई हैं तथा उन्हें अन्य नागरिकों के समान अधिकार ही प्राप्त नहीं हैं अपितु राज्य विधान सभाओं एवं लोक सभा में आरक्षण सुविधाएँ भी प्रदान की गई हैं, फिर भी इन्हें चुनाव में डाँट-डपटने (Intimidation) तथा दबाव (Coercion) के अनेक मामले सामने आते रहते हैं। हरियाणा, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, पश्चिम बंगाल, नागालैण्ड तथा पाण्डिचेरि में अनेक ऐसी शिकायतें मिलती रहती हैं। बिहार में तो मतदान केन्द्रों के पास खुली उग्रता के अनेक मामले भी हुए हैं।

यद्यपि प्रजातन्त्रीकरण तथा राजनीतिकरण के परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियों में नई चेतना के कारण अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आई है तथा पंचायत से लेकर लोकसभा तक सुरक्षित स्थान व नौकरी की सुविधाओं एवं सुरक्षित स्थानों के कारण इनके आत्म विश्वास में वृद्धि हुई है, तथापि ऐसा देखा गया है कि अनुसूचित जातियों के सभी व्यक्ति, विशेष रूप से ग्रामीण अशिक्षित व्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं हैं। इनमें भी एक सम्भ्रान्तजन वर्ग (Elite class) का उदय हो गया है तथा सभी सुविधाएँ इसी वर्ग को मिल रही हैं सामान्य लोगों को नहीं। इसका एक प्रमुख कारण अशिक्षा तथा अज्ञानता भी है।

राजनीतिकरण के कारण अनुसूचित जातियाँ अपने निम्न स्तर को ऊँचा उठाने के लिए संगठित हो गई हैं तथा सत्ता संरचना को प्रभावित करने अथवा इस पर प्रभुत्व जमाने के लिए अन्य निम्न जातियों से गठबन्धन करने लगी हैं। इनके परिणामस्वरूप अनुसूचित जातियाँ निश्चित रूप से राजनीति के प्रति अधिक जागरूक हैं तथा इसमें अधिक भाग लेती हैं और उन्हीं दलों या व्यक्तियों का समर्थन करती हैं जो उनके अधिकारों की रक्षा कर सकते हैं तथा उनके बीच उठते-बैठते व खाते-पीते हैं। राजनीतिकरण के कारण कुछ जातियों में अपने निम्न स्तर से बड़ी असन्तुष्टि-सी होने लगी है तथा बहुत से लोगों ने बौद्ध तथा ईसाई धर्म को भी ग्रहण कर लिया है। कुछ जातियों ने संस्कृतिकरण से अपना स्तर ऊँचा करने का प्रयास किया है। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार ने इन जातियों के लिए संगठित होकर शक्ति प्राप्त करने के द्वार खोल दिए हैं। आइसक (Issacs) के अनुसार अनुसूचित जातियों में शिक्षा, व्यावसायिक गतिशीलता, आरक्षण की नीति इत्यादि से काफी परिवर्तन हुए हैं तथा इनसे उनकी सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति पहले से कहीं अच्छी हुई है।

अनुसूचित जातियों में शिक्षा की वृद्धि द्वारा जनचेतना जगाने की आवश्यकता है ताकि वे अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर सरकार द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं का पूरा लाभ उठाया करें। साथ ही डाँट-डपट व दबाव के मामलों को चुनाव के समय सख्ती से दबाया जाना चाहिए ताकि अनुसूचित जातियों के लोग बिना किसी डर के अपने मताधिकार का प्रयोग कर सकें। राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय सरकारों को चुनाव आयोग की सहायता से इस दिशा में कड़े कदम उठाने चाहिए।

5. शिक्षा के विकास सम्बन्धी समस्याएँ–अनुसूचित जातियों को परम्परागत रूप से शिक्षा सुविधाओं से वंचित रखा जाता था तथा व्यावसायिक दृष्टि से इन्हें निम्न व्यवसाय ही करने पड़ते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आज भी अनुसूचित जातियों में शिक्षा की दर अन्य जातियों की तुलना में कहीं कम है। अंग्रेजी शासनकाल तथा

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने इन जातियों के शैक्षिक स्तर को ऊँचा करने के लिए अनेक कदम उठाए हैं तथा विविध प्रकार की सुविधाएँ भी प्रदान की हैं। वजीफे, मुफ्त वर्दी, पुस्तकें व कापियाँ, छात्रावास सुविधाएँ एवं शिक्षा संस्थाओं व प्रशिक्षण संस्थाओं में इनके लिए आरक्षित स्थानों के प्रावधान के परिणामस्वरूप यद्यपि इनमें शिक्षा की वृद्धि हुई है, तथापि इस दिशा में अभी काफी कार्य करना शेष है। वास्तव में, इन लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से शिक्षा प्राप्ति के लिए तैयार किया जाना आवश्यक है। साथ ही उन्हें शिक्षा इस प्रकार की दी जानी चाहिए कि वे अपने रोजगार स्वयं स्थापित कर सकें अथवा प्रशिक्षण प्राप्त कर अपना कोई कार्य कर सकें। अनुसूचित जातियों में लड़कियों की शिक्षा की ओर ध्यान दिए जाने की भी विशेष आवश्यकता है।

11.4.2 अनुसूचित जातियों की समस्याओं का समाधान

सरकार अनुसूचित जातियों की समस्याओं के समाधान हेतु सतत प्रयासरत रही हैं। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग, जोकि एक संवैधानिक संस्था है, को अनुसूचित जातियों के हितों को बढ़ावा देने तथा उनकी सुरक्षा के उपायों के लिए व्यापक अधिकार दिए गए हैं। अस्पृश्यता की प्रथा को समाप्त करने और अनुसूचित जातियों के लोगों पर अपराध और अत्याचार की बढ़ती हुई घटनाओं को रोकने हेतु नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955 ई० और अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों (अत्याचारों की रोकथाम) अधिनियम, 1989 ई० के कारगर कार्यान्वयन के माध्यम से क्रमश: पी० सी० आर० अधिनयम, 1955 ई० के अन्तर्गत 22 विशेष न्यायालयों और पी० ओ० ए० अधिनियम, 1989 ई० के अन्तर्गत 113 विशेष न्यायालयों की सहायता से इसके कार्यान्वयन के प्रयास किए गए हैं। केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित योजनाओं के अन्तर्गत दोनों कानूनों को लागू करने पर आने वाले खर्च का आधा हिस्सा राज्य सरकारें तथा शेष आधा हिस्सा केन्द्र सरकार वहन करती है। केन्द्रशासित प्रदेशों को इसके लिए शत-प्रतिशत केन्द्रीय सहायता दी जाती है। वर्ष 2006-07 में राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों को 36·44 करोड़ रुपये जारी किए गए।

अनुसूचित जातियों के शैक्षिक विकास हेतु अस्वच्छ व्यवसायों में लगे लोगों के बच्चों के लिए मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति, अनुसूचित जाति/जनजातियों के छात्रों के लिए मैट्रिक के बाद छात्रवृत्ति, राजीव गांधी राष्ट्रीय फैलोशिप योजना, विदेश में उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति तथा यात्रा अनुदान, कोचिंग एवं सम्बन्धित योजना, अनुसूचित जाति के लड़के और लड़कियों के लिए छात्रावास का प्रावधान किया गया है। इनके आर्थिक विकास हेतु राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त एवं विकास निगम की स्थापना की गई है जो निर्धनता रेखा के नीचे गुजारा करने वाले लोगों को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने हेतु रियायती ब्याज दर पर धन देता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त एवं विकास निगम तथा राज्य अनुसूचित जाति विकास निगमों की भी स्थापना की गई है। मैला ढोने वालों की पुनर्स्थापना योजना के अन्तर्गत मार्च, 2009 तक 735·60 करोड़ रुपये व्यय किए गए। अनुसूचित जातियों के लिए काम करने वाले स्वयंसेवी संगठनों को भी आर्थिक सहायता उपलब्ध कराई जाती है।

संविधान के अनुच्छेद 341 के अन्तर्गत पंजाब, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल के कुछ समुदायों को अनुसूचित जातियों के सदस्यों को उपलब्ध हो रहे फायदों के लिए पात्र बनाने हेतु इसमें शामिल करने के लिए संविधान (अनुसूचित जाति) आदेश (संशोधन) विधेयक, 2002 ई० संसद द्वारा पारित हो चुका है। यह विधेयक सरदार सरोवर परियोजना के कारण मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र से विस्थापित और गुजरात में बसाए गए अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति से बेदखल लोगों के लाभों को बनाए रखने की समुचित व्यवस्था भी करता है।

11.5 अन्य पिछड़े वर्ग

कमजोर वर्गों में अनुसूचित जातियों के अतिरिक्त अन्य पिछड़े वर्ग भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन वर्गों को भी शिक्षा व रोजगार में कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, परन्तु इन्हें अनुसूचित जातियों व जनजातियों की तरह सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों से चुनाव द्वारा राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त नहीं है। अन्य पिछड़े वर्गों का निर्धारण दो प्रमुख आधारों पर किया गया है—प्रथम, जाति और द्वितीय, व्यवसाय। जाति की दृष्टि से ये वर्ग अनुसूचित जातियों से उच्च स्थान रखते हैं तथा व्यवसाय की दृष्टि से भी इनका व्यवसाय अस्पृश्यों जैसा नहीं रहा है। इन वर्गों में अधिकांशतः मध्य स्तर की कृषक जातियों को सम्मिलित किया गया है।

आन्द्रे बेतेई ने कृषक जातियों को अन्य पिछड़े वर्गों का सारभाग (Core) बताया है। ये वर्ग निश्चित रूप से उच्च जातियों से शिक्षा, व्यवसाय व सरकारी नौकरियों में पिछड़े हुए हैं। वे जातीय संस्तरण में भी निम्न स्थान रखते हैं। वस्तुतः 'पिछड़े वर्ग' नाम की अवधारणा में यह तथ्य निहित है कि कुछ 'अग्रवर्ती वर्ग' (Forward classes) भी हैं। बिहार में इस प्रकार का स्पष्ट विभाजन देखा जा सकता है और के० एल० शर्मा के अनुसार अग्रवर्ती वर्ग पिछड़े वर्गों को तुच्छ समझते हैं।

11.5.1 अन्य पिछड़े वर्ग की अवधारणा

पहले अस्पृश्यों व अन्य पिछड़े वर्गों के लिए संयुक्त रूप से 'दलित वर्ग' (Depressed classes) शब्द का प्रयोग किया जाता था तथा इन्हें परिभाषित करने का कोई स्पष्ट आधार नहीं था। 1948 ई० में यह महसूस किया गया कि एक 'पिछड़ा वर्ग कमीशन' बनाया जाए जो पूरे देश में उन हिन्दू व मुस्लिम जातियों का पता लगाए जो शैक्षिक, सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं। यह कमीशन वस्तुतः 1953 ई० में बनाया गया। 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' (1948-49) ने भी पिछड़े वर्गों हेतु सुरक्षित स्थान रखने पर बल दिया। 1947 ई० में बिहार सरकार ने पिछड़े वर्गों हेतु हाई स्कूल के पश्चात शिक्षा सुविधाओं की घोषणा की तथा 1955 ई० में इन वर्गों की सूची भी घोषित की। इस सूची में प्रदेश की 60 प्रतिशत उपजातियों को स्थान दिया गया। 1948 ई० में उत्तर प्रदेश सरकार ने 56 जातियों की सूची घोषित की जो अन्य पिछड़े वर्गों के अन्तर्गत आती थीं तथा उन्हें शिक्षा में कुछ सुविधाएँ प्रदान की गईं। इस प्रकार, संविधान निर्माण से पहले भी 'अन्य पिछड़े वर्गों' की धारणा भारतीय समाज में विद्यमान रही है।

अन्य पिछड़े वर्गों में पिछड़ापन समूह या जाति का लक्षण माना जाता है, न कि व्यक्ति-विशेष का। आज आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में इन वर्गों ने महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर ली है। संविधान की धारा 340 राष्ट्रपति को तथा धाराएँ 15(4) व 15(6) राज्य सरकारों को इन वर्गों की समस्याओं का पता लगाने हेतु कमीशन की नियुक्ति करने व विशेष सुविधाएँ प्रदान करने का प्रावधान करती हैं। भारत के राष्ट्रपति द्वारा 1953 ई० में काका कालेलकर की अध्यक्षता में नियुक्त कमीशन ने पिछड़ेपन के निर्धारण हेतु चार आधार रखे—

1. जातीय संस्तरण में निम्न स्थिति,
2. शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ापन,
3. सरकारी नौकरियों में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व तथा

4. व्यापार, वाणिज्य व उद्योग के क्षेत्रों में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व।

अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण को पूरी तरह लागू करने के उद्देश्य से इन वर्गों को ये सुविधाएँ भी उपलब्ध कराई जा रही हैं—अनुसूचित जातियों, जनजातियों के उम्मीदवारों की ही तरह 13 अक्तूबर, 1994 ई० से उनके लिए भी लिखित परीक्षा और साक्षात्कार के मानदण्डों में ढील दी गई है, तथा (2) 25 जनवरी, 1995 ई० को सरकार ने नौकरियों में सीधी भर्ती के वक्त अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों को अन्य पात्रता होने पर ऊपरी आयु-सीमा में तीन साल की छूट देने तथा सिविल सेवा परीक्षा में शामिल होने के सात अवसर प्रदान करने के निर्देश भी दिए हैं।

भारत सरकार ने उच्चतम न्यायालय के निर्देशानुसार अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची अधिसूचित कर दी है। इसमें पहले चरण में वे जातियाँ/समुदाय शामिल हैं, जो मण्डल आयोग द्वारा बनाई गई सूची और 21 राज्यों तथा पाँच केन्द्रशासित प्रदेशों की सरकारों द्वारा तैयार की गई पिछड़े वर्गों की सूची में समान रूप से शामिल है। वर्ष 2001-02 में सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची में सम्मिलित/संशोधित करने सम्बन्धी एक अधिसूचना जारी की है। विभिन्न राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों से सम्बन्धित अन्य पिछड़े वर्गों की केन्द्रीय सूची में अब तक 2,268 पिछड़ी जातियों/समुदायों को शामिल किया गया है।

11.5.2 अन्य पिछड़े वर्गों की समस्याएँ

अन्य पिछड़े वर्गों की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

1. आर्थिक पिछड़ेपन की समस्या–अन्य पिछड़े वर्गों की पहली प्रमुख समस्या आर्थिक दृष्टि से पिछड़ापन है। अनुसचित जातियों एवं जनजातियों के कारण ये वर्ग भी सामाजिक असमानता एवं अन्याय का शिकार रहे हैं और इसीलिए इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। अन्य पिछड़े वर्गों को आर्थिक सहायता देते समय इनके 'अति समृद्ध तबके' को अलग रखा जाता है।

2. शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ेपन की समस्या—अन्य पिछड़े वर्गों की दूसरी समस्या इनका शिक्षा के क्षेत्र में उच्च जातियों एवं वर्गों से पिछड़ा हुआ होना है। इन वर्गों में शिक्षा के प्रति चेतना का अभाव रहा है जिसके कारण सरकारी नौकरियों में इनका प्रतिनिधित्व काफी कम है, अतः इस दिशा में विशेष कदम उठाए जाने की आवश्यकता है।

3. राजनीतिक उत्पीड़न की समस्या—अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों की तरह अन्य पिछड़े वर्ग भी राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। यद्यपि इनका उत्पीड़न अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों से अपेक्षाकृत कम है, तथापि राजनीतिक उत्पीड़न को भी इनकी एक समस्या माना गया है। शिक्षा के माध्यम से इनमें राजनीतिक चेतना लाने के प्रयास किए जा रहे हैं।

4. शोषण एवं अत्याचार की समस्या—अन्य पिछड़े वर्गों में आने वाली अनेक 'दलित' जातियों के साथ आज भी शोषण एवं अत्याचार की घटनाएँ होती हैं। यह शोषण एवं अत्याचार उच्च जातियों एवं वर्गों द्वारा किया जाता है। ग्रामीण समाज की अनेक कृषक जातियों में इस प्रकार का शोषण एवं अत्याचार पाया जाता है।

11.5.3अन्य पिछड़े वर्गों के प्रति सरकारी नीति

1977 ई० में जनता पार्टी ने अपने घोषणा-पत्र में जातीय असमानताएँ समाप्त करने तथा अन्य पिछड़े वर्गों हेतु सरकारी नौकरियों व शिक्षा-संस्थाओं में 25 और 33 प्रतिशत के बीच स्थान सुरक्षित रखने का वायदा किया। सत्ता में आने के पश्चात जनता पार्टी द्वारा 'मण्डल कमीशन' नियुक्त किया गया। इस बहुचर्चित कमीशन ने देश

की 52 प्रतिशत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य पिछड़े वर्गों हेतु सरकारी सेवाओं व शिक्षा संस्थाओं में 27 प्रतिशत आरक्षण का सुझाव दिया जिसे अन्ततः श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रधानमन्त्रित्व काल में काफी विरोध के बावजूद स्वीकार कर लिया गया।

मण्डल निर्णय (1992) के रूप में विख्यात उच्चतम न्यायालय के फैसले को लागू करते हुए 1993 में राष्ट्रीय पिछड़ा आयोग की स्थापना एक स्थायी संस्था के रूप में की गई। इसका उद्देश्य अन्य पिछड़े वर्गों की सूची में नागरिकों को शामिल करने तथा सूची से हटाने सम्बन्धी शिकायतों को निपटाने तथा उनकी जाँच के बारे में सरकार को सलाह देना है। राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त एवं विकास निगम का उद्देश्य गरीबी की रेखा के नीचे (जोकि ग्रामीण क्षेत्रों में 40 हजार रुपये और शहरी क्षेत्रों में 55 हजार रुपये से कम है) रहने वाले पिछड़े वर्गों के लोगों को उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए रियायती दरों पर वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना है। यह सहायता आमदनी अर्जित करने वाली योजनाओं के लिए ऋण उपलब्ध कराके की जाती है। निगम आर्थिक और वित्तीय रूप से चलाई जा सकने वाली योजनाओं और परियोजनाओं के लिए अतिरिक्त चैनलों से भी धन जुटाने की व्यवस्था करता है तथा पिछड़े वर्गों के लोगों और समूहों के तकनीकी और उद्यमी कौशल को बढ़ाने जैसे कार्यों को भी अपने हाथ में लेता है। निगम ने 2001-02 ई० तक 3,81,491 लोगों के लाभ के लिए कुल 641·82 करोड़ रुपये आबंटित किए। यह सहायता विभिन्न योजनाओं; जैसे—जमानत राशि और सावधि ऋण योजना, माइक्रो-वित्त योजना तथा शैक्षिक ऋण योजना आदि के जरिए उपलब्ध कराई गई।

निगम ने पिछड़े वर्गों की उपयुक्त महिला लाभकर्त्ताओं के लिए 'स्वर्णिमा' नाम से एक विशेष योजना शुरू की है। इस योजना के तहत उपयुक्त महिलाएँ चार प्रतिशत सालाना ब्याज की रियायती दरों पर 50 हजार रुपये तक की वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती हैं। यह ऋण अधिकतम 12 वर्ष की अवधि में लौटाया जा सकता है। भारत सरकार ने निगम को अब तक 700 करोड़ रुपये की अधिकृत शेयर पूँजी में से 390·40 करोड़ रुपये की अदायगी कर दी है। 2002-03 ई० के बजट में 12 करोड़ रुपये का प्रावधान है।

सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए 1998-99 ई० में निम्नलिखित योजनाएँ शुरू की हैं—

1. परीक्षा-पूर्व कोचिंग—इस योजना का प्रारम्भ पिछड़े वर्गों के उम्मीदवार प्रतियोगी/प्रवेश परीक्षाओं में सफल बनाने हेतु किया गया है। प्रतिवर्ष एक लाख रुपये से कम आमदनी वाले परिवारों के बच्चे इसका लाभ उठा सकते हैं। 2001-02 ई० में 32 संगठनों को 0·66 करोड़ रुपये जारी किए जिससे पिछड़े वर्गों के 2,220 छात्रों को लाभ मिला।

2. लड़के और लड़कियों के लिए छात्रावास—इस योजना के अन्तर्गत उन राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों में छात्रावासों का निर्माण किया गया है जहाँ अन्य पिछड़े वर्गों की घनी आबादी है और छात्रावासों की कमी है। ये छात्रावास माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए बनाए गए हैं। इनमें कम-से-कम एक-तिहाई छात्रावास सिर्फ लड़कियों के लिए हैं। पाँच प्रतिशत सीटें विकलांग छात्रों के लिए आरक्षित रखी गई हैं। परन्तु यह योजना साधन-सम्पन्न वर्ग के छात्रों के लिए नहीं होती है। इनके निर्माण का आधा खर्च केन्द्र सरकार और शेष खर्चा सम्बन्धित राज्य सरकार को वहन करना पड़ता है। इस योजना के अन्तर्गत 2006-07 ई० में 11 राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों को अन्य पिछड़े वर्ग के 4,520 छात्रों हेतु 82 छात्रावासों के निर्माण के लिए 19·58 करोड़ रुपये दिए गए।

3. मैट्रिक-पूर्व छात्रवृत्ति—छात्रवृत्तियाँ ऐसे छात्रों को दी जाती हैं, जिनके माता-पिता/अभिभावकों की सालाना आमदनी 44,500 रुपये से अधिक नहीं होती। यह छात्रवृत्ति पहली से दसवीं कक्षा तक उन छात्रों को दी जानी सुनिश्चित की गई है जो छात्रावासों में नहीं रहते हैं और यह छात्रावासों में रहने वाले दूसरी से दसवीं कक्षा तक के छात्रों को मिलती हैं। दसवीं कक्षा के अन्त में छात्रवृत्ति बन्द कर दी जाती है। यह छात्रवृत्ति साल में 10 महीने के लिए मिलती है। यह उन्हीं छात्रों को मिलती है, जो राज्य सरकारों/केन्द्रशासित प्रदेशों से मान्यता प्राप्त विद्यालयों में पढ़ते हैं। इसमें 50 प्रतिशत सहायता केन्द्र सरकार देती है। इसके लिए 2006-07 ई० में 25-27 करोड़ रुपये की राशि जारी की गई जिससे 9,57,338 छात्रों को लाभ हुआ।

4. मैट्रिक के बाद पढ़ने वाले छात्रों को छात्रवृत्ति–इस योजना के अन्तर्गत मैट्रिक और उच्चतम माध्यमिक स्तर के बाद छात्रवृत्ति दी जाती है ताकि वे अपनी पढ़ाई पूरी कर सकें। इसमें सम्बन्धित राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों को छात्रवृत्ति के लिए केन्द्र सरकार द्वारा शत-प्रतिशत सहायता दिया जाना सुनिश्चित किया गया है। यह केन्द्रीय छात्रवृत्ति अन्य पिछड़े वर्गों के उन भारतीय नागरिकों के लिए है, जो मान्यता प्राप्त संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करते हैं तथा जिनके माता-पिता/अभिभावक की सालाना आमदनी 45,500 रुपये से अधिक नहीं है। इस योजना के अन्तर्गत १६ राज्यों/केन्द्रशासित प्रदेशों को 55·73 करोड़ रुपये की राशि जारी की गई। इससे 2006-07 ई० में पिछड़े वर्गों के 4,16,765 छात्रों ने लाभ उठाया।

5. स्वयंसेवी संगठनों को सहायता—इस योजना में स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा अन्य पिछड़े वर्गों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाना शामिल है, ताकि उन्हें समुचित रोजगार मिल सके। इसके लिए ऐसे केन्द्र खोलने और सेवाएँ शुरू करने में सहायता दी जाएगी, जो पिछड़े वर्गों
को अपनी आय जुटाने के क्रियाकलाप शुरू करने में मदद कर सकें। सहायता की यह मात्रा सरकार द्वारा मैरिट के आधार पर तय की जाएगी तथा यह स्वीकृत खर्च का 90 प्रतिशत तक हो सकती है। 85 गैर-सरकारी संगठनों को 2006-07 ई० में 2·22 करोड़ रुपये की राशि जारी की गई जिससे अन्य पिछड़े वर्गों के 4,316 लोगों को लाभ पहुँचा।

संविधान के अनुच्छेद 15(4) के अन्तर्गत सरकार को सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की उन्नति के लिए विशेष प्रावधान करने का अधिकार है। अनुच्छेद 16(4) में सरकार को उन पिछड़े वर्गों के लिए सेवाओं और पदों में आरक्षण की व्यवस्था का अधिकार दिया गया है, जिन्हें उसकी राय में सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। संविधान के अनुच्छेद 340 में व्यवस्था है कि राष्ट्रपति सामाजिक और शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े वर्गों की परिस्थितियों और काम के मामले में उनकी कठिनाइयों का पता लगाने के लिए आयोग नियुक्त कर सकते हैं। इस आयोग द्वारा ये कठिनाइयाँ दूर करने के बारे में केन्द्र या अन्य सरकारों से उपाय करने को कहा जा सकता है।

उपर्युक्त सुविधाओं के अतिरिक्त अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान हेतु भारत सरकार के कल्याण मन्त्रालय के अधीन 13 जनवरी, 1992 ई० को 'राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम' का गठन किया गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए आर्थिक और विकास सम्बन्धी गतिविधियों को बढ़ावा देना तथा इन वर्गों के निर्धन लोगों को व्यावसायिक कुशलता के विकास और स्वरोजगार में सहायता प्रदान करना है। यह निगम

अन्य पिछड़े वर्गों के उम्मीदवारों को कृषि तथा सम्बन्धित क्षेत्र, दस्तकार और पारम्परिक व्यवसाय, तकनीकी व्यवसाय, लघु व्यापार, लघु उद्योग और परिवहन सेवाओं हेतु ऋण/अनुदान भी प्रदान करता है।

पिछड़े वर्गों के कल्याण के लिए केन्द्र सरकार द्वारा विभिन्न स्कीमों के अन्तर्गत 2002-03 ई० के लिए 68·85 करोड़ रुपये के कुल आबंटन में से राज्य सरकारों को 28·28 करोड़ रुपये की राशि जारी की गई। गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले पिछड़े वर्गों से सम्बन्धित स्त्रियों के लिए राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम ने एक स्कीम 'न्यू स्वर्णिमा' आरम्भ की है। इस स्कीम के अन्तर्गत 4 प्रतिशत की रियायती ब्याज दर पर प्रति लाभ भोगी 50 हजार रुपये तक की वित्तीय सहायता ले सकता है।

इन सुविधाओं के कारण अन्य पिछड़े वर्गों ने अपनी आर्थिक व राजनीतिक स्थिति काफी ऊँची कर ली है तथा अनेक प्रदेशों में इनका राजनीतिक क्षेत्र में सर्वोच्च पदों पर प्रतिनिधित्व है। इनकी प्रमुख समस्याएँ शिक्षा व सरकारी नौकरियों में स्थान प्राप्त करने की है जो इनकी प्रगति के कारण काफी सीमा तक कम होती जा रही है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्य पिछड़े वर्गों में भी जो अत्यन्त निम्न दलित वर्ग सम्मिलित हैं, उन्हें आरक्षण का विशेष लाभ नहीं मिल पा रहा है। सभी सुविधाओं का अत्यधिक लाभ उन्हीं वर्गों के परिवारों को मिल रहा है जो पहले से ही काफी समृद्ध हैं।

11.6 पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों की वर्तमान स्थिति

पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों की परम्परागत सामाजिक–आर्थिक स्थिति काफी निम्न रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सरकार द्वारा किए गए सतत प्रयासों एवं इनके उत्थान हेतु चलाई जाने वाली विभिन्न योजनाओं के परिणामस्वरूप इनकी स्थिति में काफी सुधार हुआ है। अस्पृश्यता तथा इससे जुड़ी हुई निर्योग्यताएँ लगभग समाप्तप्राय हो गई हैं। इनकी शिक्षा में निरन्तर सुधार हुआ है तथा रोजगार में भी इनका प्रतिशत निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अखिल भारतीय स्तर पर खुली प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से सीधी भर्ती से भरे जाने वाले पदों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए क्रमश: 15 प्रतिशत, 7·5 प्रतिशत तथा 27 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था की गई है। खुली प्रतियोगिता को छोड़कर अन्य तरीकों से अखिल भारतीय आधार पर सीधी भर्ती से भरे जाने वाले पदों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए क्रमश: 16·66 प्रतिशत, 7·5 प्रतिशत तथा 25·87 प्रतिशत आरक्षण की व्यवस्था है। पदोन्नति के मामले में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों को क्रमश: 15 एवं 7·5 प्रतिशत आरक्षण दिया गया है। अन्य पिछड़े वर्गों के लिए पदोन्नति में कोई आरक्षण नहीं है।

आरक्षित रिक्तियाँ उपयुक्त श्रेणी के उम्मीदवारों से भरने हेतु कुछ रियायतें और छूट, जैसे अधिकतम आयु सीमा में छूट दी जाती है। प्रत्येक मन्त्रालय में आरक्षण नीति पर सही तरीके से अमल सुनिश्चित करने हेतु अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए सम्पर्क अधिकारी नियुक्त किए गए हैं। 1 जनवरी, 2005 को केन्द्र सरकार की सेवाओं में 'क' वर्ग में अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं अन्य पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व क्रमश: 11.9, 4.3 तथा 4.7 प्रतिशत था। वर्ग 'ख' में यह प्रतिनिधित्व क्रमश: 13.7, 4·5 तथा 2·3 प्रतिशत, वर्ग 'ग' में क्रमश: 16·4, 6·5 तथा 5·9 प्रतिशत तथा वर्ग 'घ' में क्रमश: 18·3, 6·9 तथा 4·3 प्रतिशत था।

यह सही है कि पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों की परम्परागत स्थिति में सुधार हो रहा है, तथापि आज भी यह शिक्षा, रोजगार, स्वास्थ्य की दृष्टि से उच्च जातियों से पीछे हैं। वस्तत: हजारों वर्षों से लगी हुई सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक निर्योग्यताओं ने इन्हें आगे बढ़ने से रोके रखा है। इसलिए हजारों वर्षों से पिछड़े होने के कारण इनमें सुधार केवल कुछ वर्षों में होना सम्भव नहीं है। फिर भी, इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि सार्वजनिक जीवन में इनकी सहभागिता बढ़ती जा रही है तथा इनकी स्थिति में निरन्तर सुधार हो रहा है। इस दिशा में अभी और प्रयास किए जाने की आवश्यकता है। यदि सरकारी योजनाओं का पूरा लाभ इन पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों को पूरी तरह से मिल पाए तो निश्चित रूप से बहुत कम समय में इनमें एवं उच्च जातियों में पाया जाने वाला अन्तराल समाप्त हो सकता है।

11.7 शब्दावली

दलित – 'दलित' शब्द का प्रयोग प्राय: अनुसूचित जाति, जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्गों के ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में किया जाता है जो गरीबी रेखा के नीचे अपना जीवन–यापन कर रहे हैं।

अनुसूचित जनजातियाँ–अनुसूचित जनजातियाँ वे जनजातियाँ अथवा जनजातीय समुदाय या उनका कोई हिस्सा या इन जनजातियों का कोई ऐसा समूह है जिन्हें राष्ट्रपति द्वारा सार्वजनिक सूचना द्वारा अनुच्छेद 342 (i) के अन्तर्गत रखा गया है।

भूमि अलगाव—जनजातियों अथवा किसी अन्य समूह का भूमि के स्वामित्व से विलग हो जाना भूमि अलगाव कहलाता है।

झूम खोती–झूम अथवा स्थानान्तरण खेती में किसी जनजाति द्वारा जंगल के एक हिस्से को काट दिया जाता है और गिरे हुए पेड़ों में आग लगा दी जाती है। जब अग्नि शान्त हो जाती है, राख ठण्डी हो जाती है तो उसमें बीज बोया जाता है। दो–तीन बार फसल उगाने के पश्चात् यह स्थान छोड़ दिया जाता है तथा किसी नए स्थान पर यही प्रक्रिया अपनाई जाती है।

अनुसूचित जातियाँ–अनुसूचित जातियाँ वे निम्न जातियाँ हैं जिन्हें सरकार ने संविधान की विशेष अनुसूची में सम्मिलित किया है और जिन्हें विशेष सुविधाओं द्वारा सरकार अन्य जातियों के बराबर लाना चाहती है।

11.8 अभ्यास प्रश्न

1. अनुसूचित जनजाति किसे कहते हैं? उनकी प्रमुख समस्याओं की विवेचना कीजिए तथा इन समस्याओं के समाधान हेतु सुझाव दीजिए।

2. अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं पर एक लेख लिखिए।

3. अनुसूचित जातियों की प्रमुख समस्याएँ बताइए। इन समस्याओं के समाधान हेतु सरकार द्वारा चलाए जा रहे प्रमुख कार्यक्रम बताइए।

4. अनुसूचित जातियों की समस्याओं के समाधान हेतु किए जा रहे प्रयासों की विवेचना कीजिए।

5. अनुसूचित जनजातियों एवं जातियों के उत्थान हेतु किए जा रहे सरकारी प्रयासों की व्याख्या कीजिए।

6. 'अन्य पिछड़े वर्ग' से आप क्या समझते हैं? इनकी प्रमुख समस्याओं को संक्षेप में बताइए।

7. अन्य पिछड़े वर्गों के प्रति सरकारी नीति की समीक्षा कीजिए।

8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—(अ) पिछड़ी जातियाँ (ब) भूमि अलगाव (स) अस्पृश्यता (द) पिछड़ी जातियों, जनजातियों एवं वर्गों की वर्तमान स्थिति।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Beteille, Andre, **Inequality and Social Change**, Oxford University Press, 1972.
- Beteille, Andre, **The Backward Classes in Contemporary India**, Oxford University Press, 1992.
- Dube, S. C., ''Tribal Heritage'' in **Tribal Heritage of India**, New Delhi : Vikas, 1977.
- Ghurye, G. S., **Caste, Class and Occupation**, Bombay : Popular Book Depot, 1961.
- Majumdar, D. N., **Races and Cultures of India**, Bombay : Asia Publishing House, 1961.
- Segal, Ronald, **The Crisis of India**, England : Penguin Books, 1965.
- शर्मा, ब्रह्मदेव, **आदिवासी विकास : एक सैद्धान्तिक विवेचन**, भोपाल : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पृष्ठ 82.
- Sharma, K. L., **Social Stratification in India : Issues and Themes**, New Delhi : Sage Publications, 1997.

इकाई 12

मलिन बस्तियाँ व अस्पृश्यता

Slum Areas & Untouchability

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 मलिन बस्तियों का अर्थ एवं परिभाषाऍ
12.3 भारत में मलिन बस्तियों का विकास
12.4 मलिन बस्तियों की उत्पत्ति एवं विकास के कारण
12.5 मलिन बस्तियों के प्रभाव
12.6 मलिन बस्तियों का सुधार एवं उन्मूलन
12.7 अस्पृश्यता
12.8 अस्पृश्यता की र्नियोग्ताएँ
12.9 नियोंग्ताएँ का परिणाम
12.10 भारत में अस्पृश्यता निर्वारण
12.11 अस्पृश्यता के निर्वारण के लिए सुझाव
12.12 शब्दावली
12.13 अभ्यास प्रश्न
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप मलिन बस्तियों का अर्थ, विकास व मलिन बस्तियों का प्रभाव एवं मलिन बस्तियों के सुधार एवं उन्मूलन हेतु बनायी गयी अनेक योजनायें तथा अस्पृष्यता व भारत में निवारण हेतु चलाये गये कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त कर सकें।

12.1 प्रस्तावना

औद्योगीकरण और नगरीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रभाव जनसंख्या के एकत्रीकरण (औद्योगिक क्षेत्रों) के रूप में पड़ा है जिसके परिणामस्वरूप मलिन बस्तियों का विकास हुआ है। आज भारत के सभी बड़े नगरों व औद्योगिक केन्द्रों में मलिन बस्तियाँ देखी जा सकती हैं।

12.2 मलिन बस्तियों का अर्थ एवं परिभाषाएँ

मलिन बस्ती नगर का निम्न निवास वाला क्षेत्र है जो अव्यवस्थित रूप से विकसित और सामान्यत: जनाधिक्य एवं भीड़-भाड़ से युक्त है। मलिन बस्तियों की प्रकृति एक वाद-विवाद का विषय है। गिस्ट एवं हलबर्ट (Gist and Halbert) ने इन्हें विघटित क्षेत्रों का विशिष्ट स्वरूप तथा क्वीन एवं थॉमस (Queen and Thomas) ने

रोगग्रस्त क्षेत्र कहा है। कुइन्न (Quinn) के अनुसार, ''मलिन बस्तियों का रूप प्रारम्भ से ही विकृत हो जता है। अत: स्पष्ट है कि इनकी कोई सार्वभौमिक परिभाषा नहीं दी जा सकती है। बर्गल (Bergel) के अनुसार, ''मलिन बस्तियाँ नगरों में वे क्षेत्र हैं जिनमें घर निम्न स्तर के हों।'' भारत सेवक समाज द्वारा प्रकाशित मलिन बस्तियों पर रिपोर्ट के अनुसार, ''मलिन बस्तियाँ शहर के उन भागों को कहा जाता है जोकि मानव-विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त हों, चाहे वे पुराने ढाँचे के परिणामस्वरूप हों या स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से, जहाँ सफाई की सुविधाएँ असम्भव हों।''

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मलिन बस्ती उन शहरी क्षेत्रों को माना गया है जिनमें मकान टूटे-फूटे होते हैं, निवास की दृष्टि से जनाधिक्य व भीड़-भाड़ अधिक होती है, स्वास्थ्यपूर्ण वातावरण का अभाव पाया जाता है, जिनमें अत्यधिक गरीब या निम्न आय के लोग निवास करते हैं तथा जहाँ आवास की नागरिक सुविधाओं जैसे बिजली, पानी, पेशाबघर या शौचालयों का अभाव होता है।

12.3 भारत में मलिन बस्तियों का विकास

आज भारतीय नगरों में मलिन बस्तियाँ एक ज्वलन्त समस्या बनी हुई है। ज्यो-ज्यों नगरीकरण एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज होती जा रही है इनका विकास भी तीव्रता से होता जा रहा है। भारत सेवक समाज द्वारा दी गई रिपोर्ट में इसकी कुछ संख्या 1787 व्यक्त की गई है। शहर के निम्नांकित तीन क्षेत्रों में मलिन बस्तियों का उद्‌भव होता है—

1. नगर के बीच में,
2. औद्योगिक क्षेत्रों के समीप तथा
3. नगर की सीमा पर।

भारतीय नगरों में उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के क्षेत्रों में विकसित मलिन बस्तियाँ देखी जा सकती हैं। इनके दो प्रकार—एक, झोपड़ियाँ जोकि घास, टीन के टुकड़े, पॉलिथीन, कपड़े आदि से श्रमिक स्वयं निर्मित कर लेते हैं और दूसरा, शहर के वे मकान, जो पुराने समय में बने थे, टूट-फूट गए हैं तथा जिनके सुधार के लिए प्रयास नहीं किए जाते और जिनमें बड़ी संख्या में गरीब लोग निवास करते हैं। कई बार नगरों में केवल किराया कमाने की दृष्टि से भी कुछ लोग इन बस्तियों का विकास श्रमिकों के लिए करते हैं। इन्हें भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। उदाहरणार्थ, मुम्बई की चालें, कोलकाता की बस्तियाँ, चेन्नई की चरियाँ, कानपुर के आहाते और दिल्ली के कटरा (Katras) आदि मलिन बस्तियाँ ही हैं।

कोलकाता में मलिन बस्तियों की संख्या के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मुम्बई में 140 मलिन बस्तियाँ हैं जिनमें शहर की आधी जनसंख्या निवास करती है। मद्रास में 311 मलिन बस्तियाँ हैं जिनमें 56 शासकीय भूमि पर, 49 नगर निगम की भूमि पर और शेष 206 व्यक्तिगत भूमि पर आधारित स्थित हैं। इन मलिन बस्तियों में नगर की 1/9 जनसंख्या निवास करती है। दिल्ली में मलिन बस्तियों की संख्या (1956 ई० में) 902 थी जो कटरा और बस्ती कहलाते हैं। अब इनकी संख्या 1010 हो गई है जिनमें 999 कटरा, 407 घर एवं 51 बस्तियाँ हैं। इन्दौर नगर में दो मलिन बस्तियाँ हैं—भिण्डी खो और पाटनी पुरा, जबकि

ग्वालियर में 34 हैं तथा इन्हें गोठे कहा जाता है। इनमें गेन्डे वाली रोड की बस्ती सबसे बड़ी है। इसी प्रकार, भारत के हर औद्योगिक शहर में इनका निरन्तर विकास होता जा रहा है।

निवास मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है परन्तु नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों में आवास की समस्या एक गम्भीर चुनौती है जिसके कारण अच्छे निवास के लिए 'मलिन बस्तियों का विकास' होता है। इनकी निम्न दशा एवं मूलभूत सुविधाओं का अभाव अनेक समस्याओं को उत्पन्न करता है। इनमें सफाई एवं रोशनी का अभाव होता है। कूड़े-करकट के ढेर और गड्ढे अनेक स्थानों पर देखे जा सकते हैं। अनेक परिवारों के लिए सिर्फ एक ही प्रवेश द्वार होता है। गोपनीयता के लिए टाट के पर्दे या टीन की चद्दरें लगा दी जाती हैं। इन्हीं में श्रमिक पैदा होते हैं, जीते और मरते हैं।

महात्मा गांधी ने इनकी दशा की चर्चा करते हुए कहा था कि ''अपनी आँखों से देखे बिना तुम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते कि संसार में मनुष्य के रहने के लिए भी ऐसे स्थान हो सकते हैं। इस बस्ती को देखने के बाद खाना-पीना तक अच्छा नहीं लगता, देखते ही उलटी आती है। वहाँ ऐसी गन्दगी थी कि उसके वर्णन के लिए मेरे पास शब्द तक नहीं हैं।'' इसी प्रकार, आर० के० मुकर्जी ने भी कहा है कि ''औद्योगिक केन्द्रों में श्रम बस्तियों की दशा इतनी भयंकर है कि वहाँ मानवता का विध्वंस होता है, स्त्रियों के सतीत्व का नाश होता है और देश के भावी आधार-स्तम्भ शिशुओं का गला घुट जाता है।''

ब्राइस एवं खाँ ने स्पष्ट किया है कि मुख्यत: इनमें पाँच दशाओं में व्यक्ति रहता है—एक, निम्न श्रेणी के वे लोग हैं जो मध्यम वर्ग का किराया नहीं दे सकते और यहाँ निवास के लिए मजबूर हैं, दूसरे, औद्योगिक श्रमिक, तीसरे, आकस्मिक श्रमिक, चौथे, भिखारी, घुमक्कड़, निखट्टू लोग, पाँचवें, समाज विरोधी तत्त्व जैसे गुण्डे, गिरहकट आदि जो इन्हीं में समुचित आश्रय प्राप्त कर पाते हैं।''

12.4 मलिन बस्तियों की उत्पत्ति एवं विकास के कारण

मलिन बस्तियों का विकास विविध प्रकार के कारणों से होता है। कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं—

1. नगरीकरण और औद्योगीकरण—नगरीकरण और औद्योगीकरण इनके विकास के प्रमुख कारण हैं। उद्योगों के लिए अत्यधिक मानव श्रम की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए बड़े पैमाने पर इन केन्द्रों में मनुष्यों का एकत्रीकरण होता है परन्तु नगर विकास की सुविधा सीमित होने के कारण श्रमिक अनधिकृत भूमि पर अस्थायी निवास स्वयं निर्मित कर लेते हैं और यही मलिन बस्तियों में परिवर्तित हो जाते हैं। नगर के मध्य और सीमाओं पर इसी प्रकार से इनका विकास होता है।

2. भौगोलिक गतिशीलता—आवागमन एवं संचार साधनों में वृद्धि के कारण गतिशीलता में वृद्धि हुई है और अनेक ग्रामीण लोग नौकरी या व्यवसाय आदि की तलाश में नगरों की ओर आते हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश लोगों को कोई बड़ी आर्थिक उपलब्धि नहीं होती और वे गरीबी में जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर हो जाते हैं तथा मलिन बस्तियों में, जहाँ सस्ते मकान होते हैं, निवास करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इससे मलिन बस्तियों को प्रोत्साहन मिलता है।

3. प्रवर्जन—हमारे देश में प्रवर्जन समूहों में होता है। ये समूह एक ही जगह काम करने और एक ही स्थान पर निवास करना पसन्द करते हैं। मुम्बई और कोलकाता में क्रमश: उत्तर प्रदेश और बिहार के लोग ही अधिकतर श्रमिक हैं। इसके परिणामस्वरूप भी मलिन बस्तियों का विकास होता है।

4. जनसंख्या में वृद्धि—जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण बेरोजगारी बढ़ रही है और यह अनेक ग्रामीणों को शहर की ओर ही आने के लिए प्रेरित करती है क्योंकि यहाँ रोजी-रोटी कमाने के ज्यादा अवसर उपलब्ध हैं। नगरों में स्थान सीमित होता है और पहले से ही आवास समस्या पाई जाती है। अत: इस वृद्धि के कारण मलिन बस्तियों का विकास होना स्वाभाविक ही है।

5. नगरीय आकर्षण—नगरीय विकास का एक अन्य कारण नगरों का आकर्षण है। वैज्ञानिक प्रगति ने नगरों में अनेक प्रकार की चमक-दमक पैदा कर दी है और यातायात के साधनों ने इन आकर्षणों (सिनेमा, कैबरे हाल, शिक्षा आदि) को ज्यादा सुलभ बना दिया है। नगरीय आकर्षण से नगरीय जनसंख्या में वृद्धि होती है, आवास समस्या और अधिक गम्भीर होती जाती है तथा मलिन बस्तियों के विकास को प्रोत्साहन मिलता है।

6. प्राकृतिक प्रकोप—मनुष्य प्रकृति का दास है। समय-समय पर आने वाले प्राकृतिक प्रकोपों जैसे बाढ़, अकाल, संक्रामक रोग, भूचाल आदि के कारण व्यक्ति ग्राम छोड़कर नगरों की ओर ही जाता है। इससे शहरों की जनसंख्या निरन्तर बढ़ती जाती है, परन्तु निवास की समुचित व्यवस्था नहीं हो पाती जिसके परिणामस्वरूप मलिन बस्तियाँ विकसित होती हैं।

7. निम्न वर्गों की अधिकता—नगरों में निम्न वर्ग के लोगों की ही अधिकता होती है। निम्न आय के लोगों को कम से कम सुविधाओं में अपना जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ता है और कम से कम सुविधाएँ भी मलिन बस्तियों को उत्पन्न करने में सहयोग देती हैं। साथ ही, श्रमिक अपने कार्य-स्थान के नजदीक रहना चाहता है जिसके कारण औद्योगिक क्षेत्रों में मलिन बस्तियों का विकास होता है।

8. मलिन बस्तियों का दृष्टिकोण—मलिन बस्तियों के विकास में निम्न दशाओं में रहने का दृष्टिकोण भी सहायक है। इस दृष्टिकोण के कारण लोगों का झुकाव इनके प्रति अधिक हो जाता है और वे इन्हें छोड़ना नहीं चाहते। गाँवों से आने वाले लोगों के दृष्टिकोण और मलिन बस्तियों के दृष्टिकोण में सरलता से सामंजस्य हो जाता है जो मलिन बस्तियों के विकास को प्रोत्साहन देता है।

9. निर्धनता—हमारे देश में मलिन बस्तियों के विकास का महत्त्वपूर्ण कारण गरीबी है जिसके कारण लोगों को इन्ही मलिन जगहों और बस्तियों में रहने को बाध्य होना पड़ता है और इससे इनका उत्तरोत्तर विकास होता है। अगर व्यक्ति कहीं अच्छी जगह मकान लेना चाहता है तो किराया इतना अधिक होता है कि वह उसके बारे में कभी सोच भी नहीं सकता।

12.5 मलिन बस्तियों के प्रभाव

मलिन बस्तियाँ केवल दूषित वातावरण से ही युक्त नहीं होतीं परन्तु इनका प्रभाव व्यक्ति, उसके परिवार एवं बच्चों पर अत्यधिक पड़ता है। डी० एच० मेहता के अनुसार, मलिन बस्तियों के निवासी अनेक प्रकार की भौतिक, मानसिक और सामाजिक त्रुटियों के शिकार होते हैं और उनके कारण मस्तिष्क चिन्ता एवं असुरक्षा से भयभीत रहते हैं। इनका वातावरण अनेक समाज विरोधी व्यवहारों को प्रोत्साहन देता है। मलिन बस्तियों के प्रमुख परिणाम निम्नांकित हैं—

1. ये क्षेत्र स्वास्थ्य की दृष्टि से बड़े हानिकारक होती हैं। अस्वस्थ एवं दूषित वातावरण के कारण यहाँ अनेक प्रकार की बीमारियाँ फैलती हैं और मृत्यु-दर अत्यधिक होती है।

2.मेहता ने वेश्यावृत्ति, जुआखोरी, गिरोहबन्दी, स्मगलिंग, पतित और शिथिल यौवन, प्रयास एवं परिश्रम की अकुशलता आदि जैसे अपराधों को मलिन बस्तियों का प्रमुख लक्षण माना है।

3. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मलिन बस्तियाँ निवासियों के मस्तिष्क में इनमें रहने की मानसिकता (Slum mentality) पैदा कर देती हैं। इससे वे निष्क्रिय हो जाते हैं, उनकी कार्य करने की इच्छा समाप्त हो जाती है, उनके मन में जीवन के प्रति भय भरा रहता है और हीनता व बुजदिली की भावनाएँ पैदा हो जाती है।

4. मलिन बस्तियाँ मानवीय गुणों, क्षमताओं तथा योग्यताओं का विनाश करती हैं और इस प्रकार सुयोग्य नागरिकों की राष्ट्र में कमी होती रहती है।

5. इन बस्तियों का वातावरण वैयक्तिक और पारिवारिक अस्थिरता को जन्म देने वाला होता है क्योंकि लोगों को सफाई आदि के प्रति कोई लगाव नहीं रहता।

6. मलिन बस्तियाँ बाल अपराधों को जन्म देती हैं। बच्चे अपने बड़ों को अनुचित, भौतिक और समाज–विरोधी व्यवहार करते हुए देखते हैं। अत: इनका गन्दा वातावरण बच्चों में समाज–विरोधी व्यवहार और अनुशासनहीनता फैलाने में बहुत सहायक है।

12.6 मलिन बस्तियों का सुधार एवं उन्मूलन

नगरीय विकास योजनाओं में मलिन बस्तियों के सुधार के लिए अनेक योजनाएँ बनाई जाती हैं। इनकी सफाई की सुधार योजना प्रथम बार 1956 ई० में चालू की गई। ऐसे निवासी, जिनकी मासिक आय 350 रुपये से अधिक नहीं है, उन्हें स्वच्छ क्षेत्रों में मकान देने के लिए राज्य और केन्द्रशासित प्रदेशों द्वारा वित्तीय सहायता दी जाती है। 9 अप्रैल, 1969 ई० में यह योजना राज्य सरकारों को सौंप दी गई है। आज विभिन्न राज्यों में सरकारी आवास एवं विकास परिषदें कार्यरत हैं जो निम्न वर्ग के लोगों की आवास समस्या के समाधान के लिए कम कीमत के मकान बनाकर बहुत कम मासिक किस्तों पर उन्हें देती हैं। मलिन बस्तियों के पर्यावरण को सुधारने के लिए मलिन बस्ती पर्यावरण सुधार योजना कार्यक्रम 1972 ई० में 10 शहरों अहमदाबाद, मुम्बई, बंगलौर, दिल्ली, हैदराबाद, कानपुर, लखनऊ, चेन्नई, नागपुर और पूणे में शुरू किया गया। 1973–74 ई० में 10 और नगरों को इस योजना में सम्मिलित किया गया। 31 मार्च 1974 तक 25·60 करोड़ से अधिक लागत की 854 परियोजनाओं को स्वीकृति मिल चुकी है जो मलिन बस्तियों में सुधार का कार्य करती थीं। फिर भी, इस दिशा में काई विशेष सुधार नहीं हुआ है। इसका प्रमुख कारण जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि है। मलिन बस्तियों के उन्मूलन के लिए निम्नलिखित सुझाव उपयोगी हो सकते हैं—

1. नगरीय आवास कार्यक्रमों में तेजी लाई जाए, जिससे इस समस्या का शीघ्र उन्मूलन हो सके। जो मलिन बस्तियाँ नियमित कर दी जाती हैं उनमें सफाई, रोशनी, निकास व जल की उचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

2. नगरों में मलिन बस्तियों को समाप्त कर शासन के सहयोग से इनमें रहने वाले लोगों को सुविधाजनक मकान निर्मित कर आसान किस्तों में किराये पर दिए जा सकते हैं।

3. मलिन बस्तियों में रहने वाले लोगों के बीच ही ऐसी समितियाँ बनाई जाएँ जिससे कि वे स्वयं भी अपने निवास की अवस्था में सुधार के लिए प्रयत्नशील हों।

4. मकान मालिकों को इनकी दशाओं को सुधारने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए तथा साथ ही किराये पर भी नियन्त्रण किया जाना आवश्यक है।

5.भविष्य में नगरों एवं औद्योगिक केन्द्रों का विकास व्यवस्थित रूप से होना चाहिए।

6.प्रवर्जन की प्रक्रिया पर भी अंकुश लगाना चाहिए। यदि बड़े पैमाने पर शहरों में जनसंख्या की वृद्धि प्रवर्जन के कारण नहीं हो तो यह समस्या काफी सीमा तक सुलझ जाएगी।

7.उद्योगों का विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है। ऐसे बड़े-बड़े शहरों, जहाँ पहले ही आवास समस्या विकराल रूप लिए हुए है, में नए उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए।

8.मलिन बस्तियों का विकास न होने देने के लिए केन्द्रीय स्तर पर कानून बनाया जाना चाहिए जिससे कि उनका विकास पूर्णतया रोका जा सके। इसके लिए प्रशासनिक अधिकारियों को अधिक अधिकार दिए जाने चाहिए।

12.7 अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का इतिहास भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के इतिहास से जुड़ा हुआ है क्योंकि यह जाति व्यवस्था के साथ ही हमारे समाज में एक गम्भीर समस्या रही है। वैदिक काल में अस्पृश्यता शब्द का प्रयोग तो नहीं किया जाता रहा है, परन्तु चण्डाल, डोम, अन्त्यज, निषाद आदि शब्दों का प्रयोग ऐसे व्यक्तियों के लिए किया जाता रहा है, जिनका स्तर लगभग अस्पृश्यों जैसा ही था। उस समय पवित्रता-अपवित्रता सम्बन्धी विचारों का प्रमुख स्थान था तथा इन लोगों को दूध से बनी वस्तुओं एवं यज्ञ में काम आने वाली चीजों को छूने की आज्ञा नहीं थी। परन्तु वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में इन लोगों के प्रति भेदभाव एवं घृणा की भावना अधिक कटु नहीं थी। घुरिये के अनुसार यद्यपि वैदिक काल में यज्ञ, धर्म आदि से सम्बन्धित शुद्धता या पवित्रता की धारणा अत्यन्त प्रखर थी, तथापि अस्पृश्यता का जो रूप आज है वैसा उस युग में नहीं था। उस काल में चण्डाल आदि लोगों के रहने की व्यवस्था गाँव से बाहर होती थी। इनके अनुसार उत्तर-वैदिक काल में केवल चण्डालों या अन्त्यजों पर ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण शूद्र वर्ण पर अस्पृश्यता सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। अगर कोई उच्च वर्ण की स्त्री निम्न या अस्पृश्य जाति के किसी व्यक्ति से विवाह कर लेती थी, तो उसे घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। स्मृतिकाल में अस्पृश्यता की भावना में तेजी से वृद्धि होने लगी। महर्षि मनु के अनुसार चण्डालों को गाँव से बाहर रहना चाहिए, दिन में गाँव में नहीं आना चाहिए और अपने बर्तनों के प्रयोग को केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहिए। इस काल में इन्हें अधम कार्य (यथा गन्दगी साफ करना, लावारिस शवों को उठाना आदि) ही करने दिया जाता था। भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात् अस्पृश्यों की स्थिति में और अधिक गिरावट आ गई और इन्हें अनेक प्रकार की निर्योग्यताओं के कारण एकान्त स्थान पर रहने के लिए बाध्य किया गया। अंग्रेजी शासनकाल में समाज सुधारकों एवं सरकारी प्रयासों के कारण अस्पृश्यों की स्थिति में काफी सुधार हुआ तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संवैधानिक प्रावधानों द्वारा अस्पृश्यता को पूरी तरह से समाप्त कर दिया गया है।

अस्पृश्य जातियों के नाम के बारे में प्रारम्भ से ही काफी विवाद रहा है। वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में इन्हें चण्डाल, डोम, अन्त्यज आदि नामों से पुकारा जाता था, जबकि अंग्रेजी शासनकाल में इन्हें दलित वर्ग कहा जाने लगा। 1931 ई० की जनगणना में दलित वर्ग के स्थान पर बाहरी जाति शब्द का भी प्रयोग किया गया। 1931 ई० में उस समय के ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रेम्जे मैक्डोनाल्ड ने इनको पृथक् निर्वाचन का अधिकार दे दिया परन्तु गांधी जी ने इसका तीव्र विरोध किया। गांधी जी का विचार था कि दलित वर्ग हिन्दुओं से पृथक् नहीं हैं अपितु हिन्दुओं का ही एक अंग हैं, इसलिए उन्हें पृथक् निर्वाचन का अधिकार देना उचित नहीं है। गांधी जी ने 20 सितम्बर, 1932 ई० को इसके विरोध में आमरण अनशन शुरू कर दिया। परन्तु डॉ० सप्रू एवं डॉ० जयकर के प्रयासों से गांधी जी एवं डॉ० अम्बेडकर में 'पूना पैक्ट' के नाम से जानी जाने वाली एक सन्धि हुई जिसके

अनुसार दलित वर्ग को हिन्दुओं का ही अंग स्वीकार किया गया और उनको कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए गए। उसी समय गांधी जी ने इन्हें दलित वर्ग के स्थान पर 'हरिजन' कहना प्रारम्भ कर दिया।

1935 ई० के विधान में इन जातियों को विशेष सुविधाएँ देने के लिए एक अनुसूची तैयार की गई तथा जिन जातियों को इस अनुसूची के अन्तर्गत रखा गया उन्हें वैधानिक दृष्टि से अनुसूचित जातियाँ भी कहा जाने लगा। आज भी समस्त सरकारी प्रयोग में उन्हें अनुसूचित जातियों के नाम से सम्बोधित किया जाता है। अनुसूचित जातियों के लोग हरिजन शब्द के प्रयोग को भी अब पसन्द नहीं करते और इसे अपमानजनक समझते हैं। इसलिए सरकार द्वारा भी अब यह शब्द प्रयोग नहीं किया जाता है।

भारतीय समाज में पाई जाने वाली प्रमुख समस्याओं में से अस्पृश्यता भी एक समस्या है। अस्पृश्यता के नाम पर हजारों वर्षों तक निम्न जातियों को अनेक मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया तथा उन पर अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक निर्योग्यताएँ लगा दी गईं। गांधी जी ने कहा था कि, ''अस्पृश्यता जिस रूप में आज हिन्दू धर्म में प्रचलित है, यह भगवान तथा मनुष्य दोनों के ही विरुद्ध है। अत: अस्पृश्यता एक विष की भाँति है जो हिन्दू धर्म को खाए जा रही है। मेरे विचार में हिन्दू शास्त्रों में सामूहिक दृष्टि से इसकी कहीं भी स्वीकृति नहीं है।''

12.7.1 अस्पृश्यता का अर्थ एवं परिभाषाएँ

अस्पृश्यता का अर्थ अछूत है अर्थात् जो छूने योग्य नहीं है वह अस्पृश्य है। अस्पृश्यता पवित्रता-अपवित्रता की धारणा से जुड़ी हुई है क्योंकि अस्पृश्य जातियों को अपवित्र माना जाता है। ऐसा समझा जाता है कि अगर कोई अस्पृश्य किसी सवर्ण हिन्दू को छू देता है तो वह भी अपवित्र हो जाता है और उसे पुन: पवित्र होने के लिए विशेष संस्कार करने पड़ते हैं। मजूमदार (Majumdar) के अनुसार, ''अस्पृश्य जातियाँ वे समूह हैं जो अनेक सामाजिक व राजनीतिक निर्योग्यताओं का शिकार हैं, इनमें से अनेक निर्योग्यताएँ उच्च जातियों द्वारा परम्परागत तौर पर निर्धारित और सामाजिक दृष्टि से लागू की गई हैं।'' घुरिये (Ghurye) के अनुसार, ''अनुसूचित जातियाँ वे समूह हैं जिनका कि एक विशेष नाम एक विशेष समय पर लागू अनुसूचित जाति-क्रम के अन्तर्गत आता है।'' इस भाँति, के० एन० शर्मा (K. N. Sharma) के अनुसार, ''अस्पृश्य जातियाँ वे हैं जिनके स्पर्श से एक व्यक्ति अपवित्र हो जाए और उसे पवित्र होने के लिए कुछ कृत्य करने पड़ें।''

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अस्पृश्यता के साथ अपवित्रता की भावनाएँ जुड़ी हुई हैं तथा इसीलिए अस्पृश्यों पर अनेक निर्योग्यताएँ लगाई गई थीं।

12.8 अस्पृश्यों की निर्योग्यताएँ

अनेक विद्वानों (जैसे डॉ० डी० एन० मजूमदार) ने अस्पृश्यता की परिभाषा ही अस्पृश्य जातियों की आर्थिक एवं राजनीतिक निर्योग्यताओं के आधार पर दी है। निर्योग्यताएँ परम्परागत रूप से निर्धारित होती हैं और सामाजिक दृष्टि से लागू की जाती हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने वैधानिक रूप से अस्पृश्यता एवं अस्पृश्यों की सभी निर्योग्यताओं को समाप्त कर दिया है तथा इसमें काफी सीमा तक सफलता भी मिली है। के० एम० पाणिक्कर के मतानुसार, ''यह मान लेना सर्वथा अनुचित होगा कि अस्पृश्यता समाप्त हो जाने की घोषणा कर देने से ही अस्पृश्यों की सामाजिक निर्योग्यताएँ समाप्त हो गई हैं।'' यह कथन काफी सीमा तक ठीक भी है क्योंकि

व्यावहारिक जीवन में ये निर्योग्यताएँ आज भी कुछ सीमा तक देखी जा सकती हैं। ग्रामीण समाज में परम्परा का बोलबाला होने के कारण अस्पृश्यों के साथ कुछ निर्योग्यताएँ आज भी देखी जा सकती हैं। अस्पृश्यों को समाज में निम्नवत् निर्योग्यताओं का शिकार होना पड़ता था—

1. धार्मिक निर्योग्यताएँ—क्योंकि अस्पृश्यता पवित्रता-अपवित्रता के विचारों से जुड़ी हुई है, इसलिए धार्मिक दृष्टि से अस्पृश्यों की अनेक धार्मिक निर्योग्यताएँ थीं। ये लोग हिन्दुओं के मन्दिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे, वेदों का अध्ययन व मन्त्रोच्चारण नहीं कर सकते थे तथा हिन्दू ग्रन्थों के उपदेशों को सुनना तक इनके लिए पाप समझा जाता था। प्राचीन समय में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनके अनुसार अगर कोई शूद्र मन्त्रोच्चारण करता था तो उसकी जीभ काट दी जाती थी। परन्तु अब ये धार्मिक निर्योग्यताएँ लगभग समाप्त हो गई हैं।

2. राजनीतिक निर्योग्यताएँ—यद्यपि अस्पृश्यों के साथ मुख्य रूप से धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक निर्योग्यताएँ ही जुड़ी हुई थीं, फिर भी अस्पृश्यों की कुछ राजनीतिक निर्योग्यताओं का भी उल्लेख मिलता है। इनको राय देने का अधिकार नहीं था तथा नौकरी में नियुक्ति एवं वेतन सम्बन्धी समान अधिकार नहीं थे। वोट देने तथा शिक्षा प्राप्त करने के अधिकारों से भी इन्हें वंचित रखा जाता था। परन्तु आज अधिकांश राजनीतिक निर्योग्यताएँ समाप्त हो चुकी हैं।

3. सामाजिक निर्योग्यताएँ–सामाजिक क्षेत्र में अस्पृश्य जातियों की अनेक सामाजिक निर्योग्यताएँ थीं जिनके कारण इनसे लोग समान व्यवहार नहीं करते थे। मुख्य सामाजिक निर्योग्यताएँ निम्न प्रकार थीं—

(i) समाज में निम्नतम स्थिति—अस्पृश्यता की भावना के कारण इन लोगों को निम्नतम स्थिति प्रदान की गई। सभी ऊँची जातियों के लोग अस्पृश्यों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। इन लोगों के स्पर्श होने पर ऊँची जाति के व्यक्ति अपने को अपवित्र समझते थे तथा पुन: पवित्र होने के लिए संस्कार करते थे। यहीं तक नहीं, बल्कि कहीं-कहीं तो इनकी छाया का पड़ना भी अपवित्र माना जाता था।

(ii)**शिक्षा सम्बन्धी निर्योग्यताएँ**—अस्पृश्यों की शिक्षा सम्बन्धी भी निर्योग्यताएँ थीं। अस्पृश्य जातियों के बच्चे उन स्कूलों में नहीं पढ़ सकते थे जहाँ ऊँची जातियों के बच्चे शिक्षा प्राप्त करते थे। प्राचीन समय में ब्राह्मण गुरु इनके बच्चों को शिष्य बनाना अपनी मानहानि एवं धर्म के विरुद्ध समझता था। इसका यह परिणाम था कि अछूत लोग प्राय: शत-प्रतिशत अशिक्षित होते थे।

(iii) **अन्य प्रकार की सामाजिक निर्योग्यताएँ**—कहीं-कहीं पर अस्पृश्यों को अपनी इच्छानुसार जेवर आदि पहनने की भी सामाजिक अनुमति नहीं थी। उदाहरणार्थ—जौनसार बाबर (चकराता के समीप) के क्षेत्र में कोलटा जाति के लोग सोना नहीं पहन सकते थे। इस अस्पृश्य जाति की औरतें केवल चाँदी के बने जेवर पहन सकती थीं। साथ-ही- साथ, अस्पृश्य अपनी इच्छानुसार अपने रहने का स्थान भी नहीं बना सकते थे। प्राय: अस्पृश्यों को ग्राम से बाहर अपने मकान आदि बनाने पड़ते थे। पहाड़ी क्षेत्रों में प्राय: अस्पृश्य जाति के लोग ग्राम के सबसे नीचे क्षेत्र में अपने मकान बनाते थे क्योंकि ऊँचाई पर रहने से उनकी परछाई ऊँची जाति के लोगों पर पड़ती थी। इनके लिए अलग सड़कें थीं तथा सार्वजनिक स्थानों जैसे कुओं, तालाबों, छात्रावासों, होटलों आदि के प्रयोग पर विविध प्रकार के प्रतिबन्ध लगे हुए थे।

4. आर्थिक निर्योग्यताएँ—कोई भी समाज, व्यक्ति, समूह या राष्ट्र तब तक उन्नति नहीं कर सकता है जब तक कि उसकी आर्थिक स्थिति ठीक न हो। अस्पृश्यों के पिछड़े होने का मुख्य कारण उनकी आर्थिक हीनता रही है। इनकी प्रमुख आर्थिक निर्योग्यताएँ निम्नांकित थीं—

(i) **इच्छानुसार पेशे नहीं चुन सकते थे**—प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय से सम्बन्ध होता था। व्यवसाय के आधार पर जाति की सामाजिक स्थिति निर्धारित होती थी। अस्पृश्य केवल निम्नतम श्रेणी के व्यवसाय ही कर सकते थे तथा उनको अपनी इच्छानुसार व्यवसाय चुनने की अनुमति नहीं थी। इस कारण इनकी आर्थिक दशा कालान्तर में और भी दयनीय होती चली गई।

(ii) **भूमिहीन श्रमिक**—खेती करना ऊँची जातियों का ही अधिकार माना जाता रहा है। इसके फलस्वरूप अस्पृश्य लोग अधिकतर भूमिहीन ही थे। यदि ऊँची जाति के लोग इनको खेती के काम में नौकरी दे देते थे तो वे इसे अपना सौभाग्य समझते थे। अस्पृश्य लोगों को खेती में श्रमिक बनाकर इनसे बेगार भी ली जाती थी। अब भी इन जातियों के अधिकांश लोगों के पास अपनी भूमि नहीं है। वे या तो बटाई पर खेती करते थे या दूसरों के खेतों में मजदूरी करते थे।

(iii) **सबसे कम वेतन**—उच्च श्रेणी के व्यवसाय करने की अनुमति न होने के कारण अस्पृश्यों को अपने परम्परागत निम्न व्यवसाय ही करने पड़ते थे। इनके व्यवसाय समाज में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थे किन्तु इनको वेतन सबसे कम मिलता था। गांधी जी के शब्दों में, ''यदि एक डॉक्टर अपनी डॉक्टरी छोड़ दे तो उसके रोगी का सर्वनाश हो जाएगा, किन्तु यदि अछूत अपना काम बन्द कर दे तो जगत का विनाश हो जाएगा।'' जजमानी व्यवस्था में सबसे कम आर्थिक लाभ अस्पृश्य जातियों को ही था।

5. सार्वजनिक निर्योग्यताएँ—अपवित्र समझे जाने के कारण अनुसूचित जातियों को सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग नहीं करने दिया जाता था। उच्च जातियों के कुओं के पास तक आना इनके लिए निषेध था। यहीं तक नहीं, बल्कि इनको सड़क पर घूमना भी मना था। पेशवाओं की राजधानी पूना में अछूतों के लिए राजाज्ञा थी कि वे अपने साथ एक मिट्टी की हाँडी लटकाकर चलें। यदि उनको थूकना होता था तो वे उसी हाँडी में थूक सकते थे, सड़क पर नहीं। ये लोग दोपहर को ही सड़क पर चल सकते थे।

12.9 निर्योग्यताओं के परिणाम

अस्पृश्यों की निर्योग्यताओं से केवल वे लोग ही प्रभावित नहीं होते थे, परन्तु सम्पूर्ण समाज पर इनका प्रभाव पड़ता था। निर्योग्यताओं के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित रहे हैं—

1. धार्मिक परिणाम—अस्पृश्यों की निर्योग्यताओं से हिन्दू समाज पर बुरा प्रभाव पड़ा है, क्योंकि अनेक अस्पृश्य जातियों के व्यक्तियों ने अपना धर्म परिवर्तन करना प्रारम्भ कर दिया। ईसाई धर्म के प्रचार से बहुत से अस्पृश्य ईसाई बन गए तथा काफी लोग मुसलमान भी बन गए, क्योंकि ईसाई धर्म की भाँति मुसलमानों में भी अस्पृश्यता नहीं थी।

2. सामाजिक एकता में बाधा—यह सत्य है कि भारत आपसी भेदभाव के कारण पराधीन हुआ। इससे देश की सामाजिक एकता में निरन्तर बाधा पड़ती रही और इसका लाभ विदेशी उठाते रहे। एक ओर उच्च जातियों के

हिन्दू अस्पृश्यों को सदैव अपने से नीचा समझते रहे हैं और दूसरी ओर अस्पृश्य सदैव इन लोगों से अपने को अलग समझते रहे हैं। इसी कारण समाज में कभी भी एकता नहीं रही है।

3.राजनीतिक फूट—अस्पृश्यों की निर्योग्यताओं से इनकी राजनीति पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। अछूतों ने अपने को अलग मानकर अपने पृथक् मताधिकारों की माँग की। 1931 ई० में डॉ० अम्बेडकर ने ब्रिटिश सरकार से गोलमेज कॉन्फ्रेन्स के समय अछूतों के लिए पृथक् मताधिकार की माँग की तथा इसमें उन्हें सफलता भी मिली, परन्तु गांधी जी के प्रयासों से उन्हें हिन्दुओं का ही एक अंग समझा जाता रहा है।

4. आर्थिक असमानताएँ—श्रम-विभाजन जाति के आधार पर होने के कारण अस्पृश्य जातियों के लोग केवल निम्न व्यवसाय ही कर सकते थे। इन लोगों को उच्च व्यवसायों को करने की अनुमति नहीं थी, खेती करने का अधिकार नहीं था और इन्हें अच्छी नौकरियाँ भी नहीं मिल सकती थीं। इसलिए इनकी आय बहुत कम होती थी। ये लोग भर पेट भोजन भी नहीं खा सकते थे। इसके फलस्वरूप समाज में आर्थिक असमानताएँ पैदा हुईं और आज भी अनुसूचित जातियाँ आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई हैं।

5. स्वास्थ्य का नीचा स्तर—घृणित पेशे करने के कारण इनके जीवन स्तर पर काफी प्रभाव पड़ता था। ये लोग शहरों तथा ग्रामों के मध्य सवर्ण हिन्दुओं के बीच अपने मकान नहीं बना सकते थे। गन्दी बस्तियों में रहने के फलस्वरूप इनके जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता रहा है।

6. अशिक्षा — अस्पृश्य जातियों के व्यक्ति उच्च जाति के लोगों के साथ नहीं बैठ सकते थे जिसके कारण अस्पृश्यों के बच्चों को स्कूलों में प्रवेश नहीं दिया जाता था। ब्राह्मण लोग अस्पृश्यों को शिक्षा देना धर्म के विरुद्ध समझते थे। इस हेतु ये लोग प्राय: शत-प्रतिशत अशिक्षित होते थे तथा आज भी अनुसूचित जातियों में शिक्षा का स्तर उच्च जातियों की अपेक्षा काफी भिन्न है।

स्वतन्त्र भारत में संवैधानिक रूप से अस्पृश्यों को विभिन्न प्रकार के संरक्षण प्रदान किए गए हैं, किन्तु इससे पूर्व उन्हें किसी भी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

12.10 भारत में अस्पृश्यता निवारण

अस्पृश्यता भारतीय समाज के लिए एक बहुत बड़ा कलंक रही है। इसीलिए इसके निवारण के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। आज औद्योगीकरण, नगरीकरण, लौकिकीकरण, प्रजातान्त्रिक व्यवस्था, शिक्षा तथा अनेक ऐसे कारकों से जातीय दूरी कम हुई है तथा अस्पृश्यों के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। ऐसे लोगों की संख्या काफी हो गई है जो अस्पृश्यता को आमूल-चूल रूप में समाप्त करना चाहते हैं। स्वयं अनुसूचित जातियों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता में वृद्धि हुई है तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आरक्षण नीति एवं इनको उपलब्ध विशेष सुविधाओं के परिणामस्वरूप इनके सामाजिक-आर्थिक स्तर में भी सुधार हुआ है। अस्पृश्यता निवारण के प्रयासों को निम्नलिखित दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) सुधार आन्दोलन अथवा गैर-सरकारी प्रयास—समाज-सुधारकों द्वारा समय-समय पर अस्पृश्यता के निवारण के लिए आन्दोलन किए जाते रहे हैं। महात्मा बुद्ध, रामानुज, कबीर, सेन, चैतन्य, नानक, नामदेव, तुकाराम, रैदास आदि विद्वानों के नाम इन आन्दोलनों से जुड़े हुए हैं। स्वयं अस्पृश्य जातियों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी में दक्षिण में ऐसे आन्दोलनों की शुरूआत की गई। श्री ज्योतिबा फुले एवं डॉ० अम्बेडकर ने अस्पृश्यों

को संगठित करके ऐसे आन्दोलनों को आगे बढ़ाया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी अनेक संगठन, संघ व आश्रम अस्पृश्यता-निवारण तथा हरिजनोद्धार के कार्यों में लगे हुए हैं। इन सभी के प्रयासों को भी दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

1. स्वयं अस्पृश्य जातियों द्वारा आन्दोलन—अस्पृश्यता निवारण के प्रयासों में स्वयं अस्पृश्य जातियों द्वारा किए जाने वाले आन्दोलनों का मुख्य स्थान है। उन्नीसवीं शताब्दी में दक्षिण में ऐसे आन्दोलनों की शुरुआत हुई क्योंकि दक्षिण में अस्पृश्यों पर अधिक कुठाराघात किया जाता था। इस आन्दोलन के अग्रणी नेता पूना के श्री ज्योतिबा फुले थे जिन्होंने 'सत्य-शोधन समाज' की स्थापना करके अस्पृश्यों को उनके अधिकार दिलाने का प्रयास किया। बाद में डॉ० अम्बेडकर के नेतृत्व में यह आन्दोलन आगे बढ़ा। 1920 ई० में इनके नेतृत्व में 'अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ' एवं 'अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडरेशन' स्थापित किए गए जिनके माध्यम से अस्पृश्यों के अधिकारों की आवाज उठाई गई। 1931 ई० में गोल मेज कॉन्फ्रेन्स में डॉ० अम्बेडकर इनके लिए पृथक् निर्वाचन की माँग को स्वीकार कराने में सफल हो गए, परन्तु गांधी जी ने इन्हें हिन्दुओं का ही अंग स्वीकार करते हुए अनशन प्रारम्भ कर दिया। 30 दिसम्बर, 1931 ई० को बम्बई में पं० मदनमोहन मालवीय की अध्यक्षता में एक विशाल सभा हुई और 1932 ई० में सारे देश में अस्पृश्यता-निवारण के लिए 'अखिल भारतीय सेवक संघ' की स्थापना की गई। इस संघ ने अस्पृश्यों को उनके अधिकार दिलाने एवं निर्योग्यताओं को समाप्त कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस संघ के प्रयासों द्वारा इनके लिए 1,130 शिशु मन्दिर, 1,018 छात्रावास, 67 धर्मशालाएँ एवं 1,995 कुओं की व्यवस्था की गई तथा अस्पृश्यता विरोधी प्रचार में भी तीव्रता आई। इस संघ के प्रयासों के परिणामस्वरूप इनमें शिक्षा का प्रसार हुआ तथा इनकी आर्थिक स्थिति में भी थोड़ा-बहुत सुधार आया।

2. सवर्ण हिन्दुओं द्वारा आन्दोलन—अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन में सवर्ण हिन्दुओं एवं इनके द्वारा बनाए गए संगठनों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इनकी सामाजिक-आर्थिक निर्योग्यताओं को दूर करने के लिए ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने काफी प्रयत्न किया है। गांधी जी के नेतृत्व में हरिजनोद्धार की दृष्टि से अनेक सुधार समितियों का गठन किया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी अनेक संगठन, संघ तथा आश्रम अस्पृश्यता-निवारण तथा इनके कार्य में लगे हुए हैं।

(ब) सरकारी प्रयास—अंग्रेजी शासनकाल में ही अस्पृश्यता निवारण के सरकारी प्रयास प्रारम्भ हो गए थे। 1920 ई० में कांग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण को अपने प्रयोग का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाया। 1936 ई० में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के बाद इनकी अवस्था सुधारने के प्रयास शुरू किए गए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् संविधान का निर्माण करते समय अस्पृश्यता-निवारण को सामने रखा गया जिसका परिणाम यह है कि हमारा संविधान किसी भी नागरिक के प्रति धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या अन्य किसी आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता। संविधान में अस्पृश्यों को सार्वजनिक संस्थाओं में प्रवेश की अनुमति प्रदान की गई है और इनकी निर्योग्यताओं की समाप्ति तथा अस्पृश्यता को फैलाने या मानने वालों के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की गई है। 1955 ई० में अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित किया गया जिसमें निर्योग्यताओं को समाप्त कर अस्पृश्यता के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था रखी गई। इसके अतिरिक्त, इनके लिए अनेक कल्याण कार्यों से सम्बन्धित योजनाएँ बनाई गई हैं, विधानमण्डलों में इनको प्रतिनिधित्व दिया गया है तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। इनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए इन्हें कुटीर उद्योगों की

स्थापना व गृह निर्माण के लिए ऋण सुविधाएँ उपलब्ध करवाई गई हैं तथा पंचवर्षीय योजनाओं में इनके कल्याण के लिए काफी पैसा खर्च किया जा रहा है।

12.11 अस्पृश्यता-निवारण के लिए सुझाव

गैर-सरकारी तथा सरकारी प्रयासों के परिणामस्वरूप अस्पृश्यता में कमी तो हुई है परन्तु यह कुरीति पूरी तरह से समाप्त नहीं हो पाई है। अस्पृश्यता-निवारण के लिए प्रभावशाली सुझाव इस प्रकार हैं—

1. इन जातियों के लोगों की आर्थिक दशा में सुधार के लिए और अधिक ठोस कदम उठाए जाने चाहिए ताकि जीवन-स्तर ऊँचा होने के कारण इनकी निर्योग्यताएँ समाप्त हो सकें।
2. अस्पृश्यता निवारण के लिए चलचित्रों, नाटकों, गीतों व लघुचित्रों द्वारा जनमत तैयार किया जाना चाहिए।
3. इन जातियों को अन्य लोगों के साथ रहने से सम्बन्धित गृह-निर्माण नीति बनाई जानी चाहिए।
4. शिक्षा सुविधाओं के साथ-साथ इन्हें अतिरिक्त कोचिंग सुविधाएँ भी प्रदान की जानी चाहिए ताकि इनका शिक्षा का स्तर ऊँचा हो सके।
5. जो घृणा वाले निम्न पेशे हैं, उनमें भौतिक सुधार होना चाहिए।
6. जाति व्यवस्था को समाप्त करके अस्पृश्यता समाप्त की जा सकती है क्योंकि अस्पृश्यता जाति व्यवस्था का ही एक अंग है।
7. इनके लिए प्रौढ़ शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध कराई जानी चाहिए।
8. इन्हें स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए।
9. इन्हें सरकार द्वारा सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जानी चाहिए।
10. अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

यद्यपि अस्पृश्यता काफी सीमा तक समाप्त हो गई है, तथापि पूर्व अस्पृश्य जातियों, जिन्हें अब अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है, का सामाजिक असमता के कारण अत्याचार और उत्पीड़न आज भी कम नहीं हुआ है। अस्पृश्यता के कारण इन्हें जिन सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता था उसके कारण ये जातियाँ अनेक प्रकार के अत्याचारों और उत्पीड़न का शिकार हो गई हैं। लगभग सभी राज्यों में अनुसूचित जातियों पर उत्पीड़न और अत्याचार के समाचार निरन्तर मिलते रहते हैं। इनमें इनकी भूमि को अवैध रूप से छीन लेना, उनसे बेगार लेना तथा बँधुआ मजदूरों के रूप में काम लेना, महिलाओं से दुर्व्यवहार एवं शोषण, हत्याएँ, लूटमार तथा जमीन के खरीदने व बेचने में अनियमितताएँ इत्यादि प्रमुख हैं। इन्हें जिन्दा जला देने की घटनाएँ भी सुनने में आती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी प्रकार के अत्याचार और उत्पीड़न पर कठोरता से नियन्त्रण रखा जाए। इसके लिए राज्य सरकारों को विशेष उपाय करने की जरूरत है तथा पुलिस फोर्स को इसके लिए स्पष्ट निर्देश दिए जाने अनिवार्य हैं। अगर कानून के रक्षक पुलिस वाले ही इस प्रकार के मामलों में संलग्न होने के दोषी पाए जाते हैं तो उन्हें कठोर दण्ड देने की आवश्यकता है। अत्याचार पीड़ित लोगों को उदार अनुदान देने एवं पुनर्वास की सुविधाएँ भी तुरन्त उपलब्ध की जानी चाहिए।

12.12 शब्दावली

मलिन बस्तियाँ—मलिन बस्तियाँ शहर के उन भागों को कहा जाता है जोकि मानव-विकास की दृष्टि से अनुपयुक्त होते हैं तथा जहाँ सफाई की सुविधाएँ असम्भव होती हैं।

अस्पृश्यता—अस्पृश्यता से अभिप्राय उस मानसिकता से है जिसके कारण कुछ निम्न जातियों को अपवित्र मानकर उन पर सार्वजनिक निर्योग्यताएँ थोप दी जाती हैं।

12.13 अभ्यास प्रश्न

1. मलिन बस्ती किसे कहते हैं? भारत में मलिन बस्तियों के विकास के कारण बताइए।
2. मलिन बस्ती किस प्रकार की समस्याओं की जननी है? इस समस्या पर नियन्त्रण हेतु सुझाव दीजिए।
3. अस्पृश्यता को परिभाषित कीजिए। अस्पृश्यों की निर्योग्यताएँ एवं इनके परिणामों की विवेचना कीजिए।
4. भारत में अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु किए गए उपायों की समीक्षा कीजिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- Bergel, E. E., “The Nature of Slums” in A. R. Desai and S. D. Pillai (eds.), **Slums and Urbanization**, Bombay : Oxford University Press, 1970.
- Mowrer, E. R., **Disorganization : Personal and Social**, New York : Lippincott, 1942.
- Neumeyer, Martin H., **Juvenile Delinquency in Modern Society**, New York : D. Van Nostrand Co. Inc., 1956.
- Noorani, A. G., **Ministers**, Delhi : Vikas Publishing House, Pvt. Ltd. 1974.
- Panikkar, K. M., **Hindu Society at Cross Roads**, Bombay : Asia Publishing House, 1967.